आर्यसमाज का साहित्य

१५

॥ ओ३म् ॥

देवर्षि दयानन्द चरित

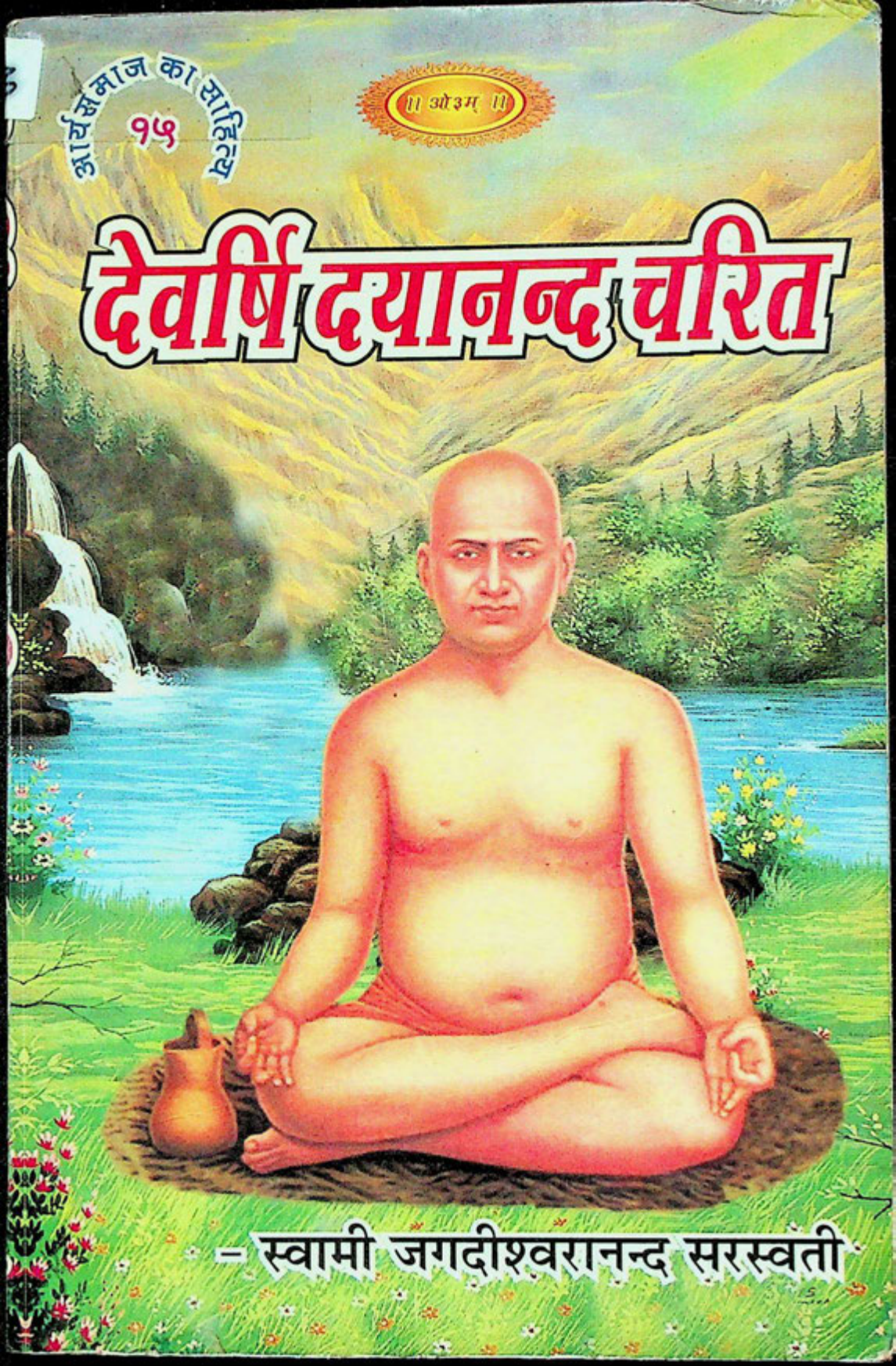

– स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

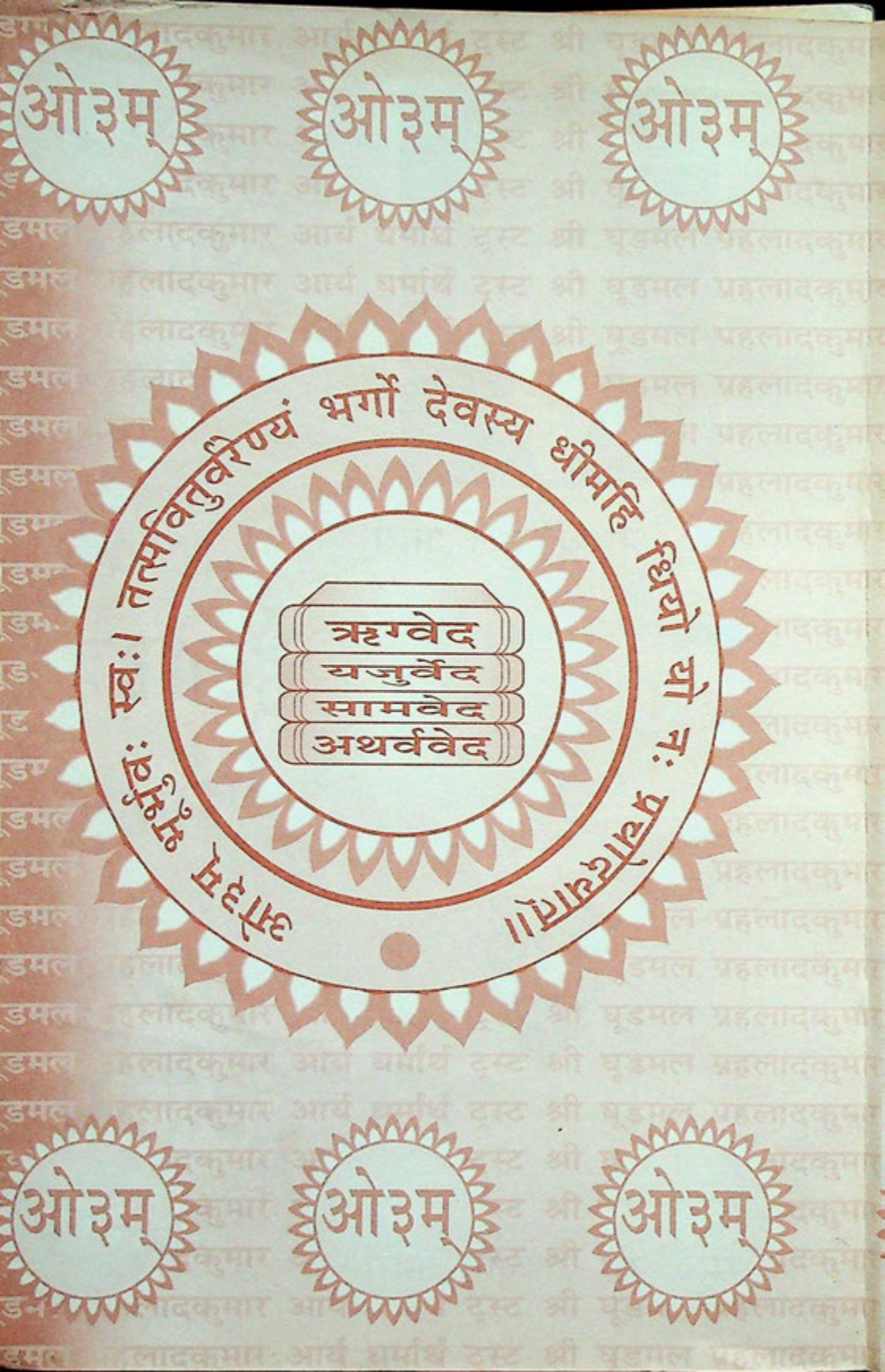
ओ३म्
ओ३म्
ओ३म्
ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्॥
ऋग्वेद
यजुर्वेद
सामवेद
अथर्ववेद
ओ३म्
ओ३म्
ओ३म्

ओ३म्

देव सवितर्-दुरितानि परासुव । यद्-भद्रं तन्-न आसुव
देव-यज्ञ
ब्रह्म-यज्ञ
बलिवैश्वदेव यज्ञ
स्वाध्याय
पितृयज्ञ
सत्संग
अतिथि-यज्ञ
ओ३म्

ओ३म्

ओ३म्

गुरुवर्य विरजानन्दजी

ओ३म्

ऋषिराज दयानन्द

ओ३म्

पं० गुरुदत्त विद्यार्थी

ओ३म्

देवर्षि दयानन्द चरित

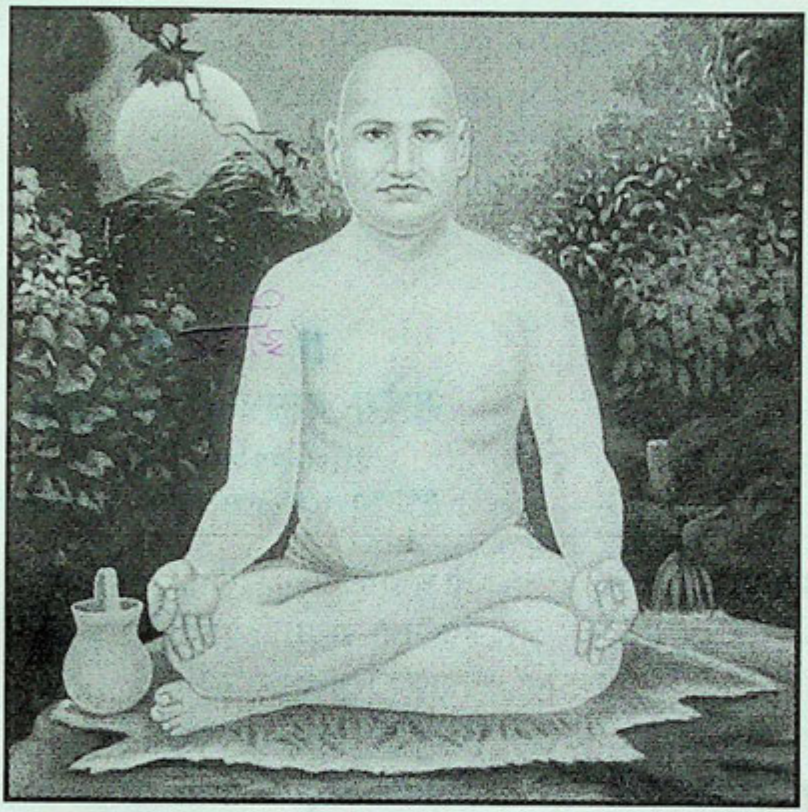

लेखक

परमहंस स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

प्रकाशक

श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ ट्रस्ट

हिण्डौन सिटी (राज०) - ३२२ २३०

॥ ओ३म् ॥
गणेश दास गरिमा गोयल
2704, प्रेम-मंजि निवास,
पक्की पत्ते वाली, नया बाजार, दिल्ली-6

प्रकाशक	:	श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ ट्रस्ट ब्यानिया पाड़ा, हिण्डौन सिटी (राज०) – ३२२ २३० दूरभाष : ०७४६९–२३४६२४
संस्करण	:	योगेश्वर श्रीकृष्ण जन्मदिवस, ७ सितम्बर २००४
मूल्य	:	चालीस रुपये
शब्द संयोजन	:	**भगवती लेज़र प्रिन्ट्स** ४६/५, कम्युनिटी सेण्टर, ईस्ट ऑफ कैलाश, नई दिल्ली – ११० ०६५
मुद्रक	:	**राधा प्रेस** कैलाशनगर, दिल्ली – ११० ०३१

दो शब्द

महाभारत के युद्ध से भारत का विध्वंस हो गया। विद्वान् मारे गये। ज्ञान-विज्ञान नष्ट हो गया। ऋषि-मुनियों की परम्परा लुप्त हो गई। परम प्रभु की अपूर्व अनुकम्पा से लगभग पाँच सहस्र वर्ष के पश्चात् पुनः एक महर्षि का प्रादुर्भाव हुआ।

महर्षि दयानन्द चहुँमुखी प्रतिभा के धनी थे। उन्होंने धार्मिक क्षेत्र में तो क्रान्ति की ही, राजनैतिक क्षेत्र में भी उथल-पुथल मचा दी। उन्होंने बाल-विवाह और अनमेल विवाहों का निषेध किया, विधवा-विवाह का समर्थन किया। नारीजाति और अछूतों का उद्धार किया। वेदों का द्वार मानवमात्र के लिए खोल दिया। प्राचीन शिक्षा-प्रणाली का उद्धार किया, ब्रह्मचर्य पर बल दिया। गो-माता के वे वकील बने। उन्होंने कुरीतियों यथा—भूत-प्रेत; डाकिनी, शाकिनी, पिशाचिनी; जन्त्र-तन्त्र-यन्त्र; फलित-ज्योतिष्; हनुमान्-भैरव, मूर्त्तिपूजा, अवतारवाद, मृतकश्राद्ध, जन्मजात जाति-पाति, मद्य-मांस आदि पर प्रबल प्रहार किया। स्वराज्य की घोषणा करनेवाले महर्षि दयानन्द प्रथम भारतीय महापुरुष थे।

महर्षि दयानन्द की प्रमुख विशेषता थी—वेद का उद्धार, वेद का प्रचार और प्रसार। महर्षि सबसे पहले व्यक्ति हैं, जिन्होंने वेद का आर्यभाषा (हिन्दी) में भाष्य किया है।

महर्षि दयानन्द का जीवन अनुपम था। उनकी तुलना करना सम्भव नहीं। यदि यह कहा जाए कि वे सूर्य के समान थे तो बात जँचती नहीं, क्योंकि सूर्य ढलता है, चन्द्रमा घटता और बढ़ता है—इन दोनों को ग्रहण भी लगता है। समुद्र खारी है, हिमालय गलता है। दयानन्द तो बस दयानन्द ही थे। वे अतुलनीय व अनुपमेय थे।

महर्षि दयानन्द की यह जीवनी सर्वप्रथम दयानन्द संस्थान करोलबाग, नई दिल्ली से प्रकाशित हुई थी, इसके अनेक संस्करण निकले, परन्तु बहुत समय से यह अप्राप्त थी। जनता की निरन्तर माँग के कारण अब यह पुनः प्रकाशित की जा रही है।

इस ग्रन्थ का संस्कृतभाषा अनुवाद भी प्रकाशित हो गया है।

मैं 'स्वामी सत्यानन्द स्मारक ट्रस्ट' के सभी अधिकारियों का हार्दिक आभारी हूँ, जिन्होंने पुस्तक को भव्य रूप में प्रकाशित किया है। मुझे आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि पाठक इसे पूर्व की भाँति ही अपनाएँगे।

विदुषामनुचरः

—जगदीश्वरानन्द सरस्वती

प्रकाशकीय

प्रज्वलित दीप अनगिनत बुझे हुए दीयों को जीवन्त बना आभा और गरिमायुक्त बना देता है। आदर्श पुरुष दयानन्द ने समाधि सुख को तिलाञ्जली देकर अपने समय की विषय परिस्थितियों में अन्धकारमय वातावरण में जीवन जीनेवाले मानवों के कल्याणार्थ कंटकाकीर्ण मार्ग का चयन किया। देव दयानन्द ने अपने जीवन को प्रतीक बना दिया जिसे देखकर कथनी-करनी की एकरूपता का सुखद अनुभव व्यक्ति को होता है।

इस जीवनी के अध्ययन चिन्तन-मनन से ज्ञात होता है कि ऋषि दयानन्द ने व्यक्ति के सम्पूर्ण विकास का मार्ग प्रशस्त किया। वह भौतिकता व अध्यात्म के प्रखर समन्वयक थे। वह ऐसे विरले अध्यात्मवादी थे जिनके अन्तर में राष्ट्रभक्ति का सागर हिलोरें लेता था। उनकी दृष्टि में समाज का स्थान ऊपर था। यह जीवनी देव दयानन्द के जीवन पर अच्छा प्रकाश डालती है।

हमारे आदरास्पद पूज्य स्वामी श्री जगदीश्वरानन्दजी सरस्वती ने इसका लेखन जिस कुशलता से किया है वह सहजग्राह्य है। इस पुस्तक के अनेकों संस्करण निकले हैं और हम आशा करते हैं निकलते रहेंगे। हम आशा करते हैं कि इसके पाठक इसे पढ़कर अन्यों को भी पढ़वाकर उन्हें प्रेरित और उत्साहित करेंगे।

—प्रभाकरदेव आर्य

विषय-सूची

१.	जन्म और बोध	७
२.	अमरता की खोज	१९
३.	सन् १८५७ का स्वातन्त्र्य संग्राम और महर्षि दयानन्द	४१
४.	गुरु के चरणों में	४६
५.	कार्यक्षेत्र में अवतरण	५८
६.	शक्ति सञ्चय : पुनः कार्यक्षेत्र में	७८
७.	पौराणिक महादुर्ग में भीषण सिंहनाद	११७
८.	सुधार-कार्य	१२६
९.	आर्यसमाज की स्थापना	१४७
१०.	आर्यसमाज का विस्तार	१७७
११.	थियासोफिकल सोसायटी	२००
१२.	वीरभूमि राजस्थान की ओर	२०६
१३.	अन्तिम दृश्य	२२४
१४.	ऋषि दयानन्द के चरणों में श्रद्धाञ्जलियाँ	२३८
१५.	महर्षि दयानन्द के सिद्धान्त	२४७

१
जन्म और बोध

अवतरणिका

उन्नीसवीं शताब्दी इतिहास का घोरतम अन्धकारमय युग था। उस समय भारत के भाग्याकाश पर अविद्या और अन्धकार की घनघोर घटाएँ छाई हुई थीं। भारतीय सभ्यता और संस्कृति समाप्तप्राय थी। उसे समाप्त करने के लिए लॉर्ड मैकाले घोर प्रयत्न कर रहा था। ''यदि तुम किसी देश अथवा जाति को समाप्त करना चाहते हो तो उसके इतिहास को समाप्त कर दो, वह देश अथवा जाति स्वयं समाप्त हो जाएगी।''* इस सिद्धान्त को अपने सम्मुख रखकर अंग्रेज़ हमारे साहित्य की होली जला रहे थे। हमारे इतिहास में नाना प्रकार के परिवर्तन करके उसे विकृत किया जा रहा था। सत्य-सनातन वैदिक-धर्म की अवस्था आटे के उस दीपक की भाँति हो गई थी, जिसे अन्दर रक्खें तो चूहे खा जाएँ और बाहर रक्खें तो कौवे ले-जाएँ। विदेश चले गये तो धर्मभ्रष्ट, भङ्गी-चमार को छू लिया तो धर्म-भ्रष्ट, मुसलमानों के हाथ का खा लिया तो जातिच्युत। मन्दिरों में पण्डों और पुजारियों की तूती बोलती थी। देवदासियाँ रक्खी जाती थीं और नाना प्रकार के पाप तथा पाखण्ड होते थे। एक ओर ईसाई हमें ईसा की भेड़ों में सम्मिलित करने में प्राणपन से जुटे हुए थे तो दूसरी ओर मुसलमानों की बन आई थी। कहीं विधवाओं का करुणक्रन्दन सुनाई देता था तो कहीं अनाथ बालक बिलबिला रहे थे। बाल-विवाह और अनमेल-विवाह जोरों पर थे। स्त्री-जाति की स्थिति बड़ी शोचनीय थी। उसे अनादृत, अपमानित और पददलित किया जाता था तथा उसे पैर की जूती तक बताया जाता था। ''**स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्**''—'स्त्रियों और शूद्रों को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है', यह कहकर वेद पढ़ने के अधिकार से उन्हें वञ्चित कर दिया गया था। ''**द्वारं किमेकं नरकस्य ? नारी**'', नरक का एकमात्र द्वार क्या है ? 'नारी', यह उत्तर देकर शङ्कराचार्य ने उसे नरक का द्वार

---

* If you want to destroy a nation, destroy its history and the nation will perish of its own accord.

घोषित कर दिया था। पति के मरने पर स्त्रियों को उनके साथ जीवित जला दिया जाता था। भ्रूण-हत्याएँ होती थीं। बालिकाओं के उत्पन्न होते ही उन्हें भूमि में गाड़ दिया जाता था। शूद्रों की स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। उनके सम्बन्ध में श्री शङ्कराचार्य, निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य आदि ने यह घोषणा कर दी थी कि "यदि शूद्र वेदमन्त्रों को सुन ले तो सीसा पिघला कर उसके कान में डाल देना चाहिए। यदि वह वेदमन्त्रों का उच्चारण करे तो उसकी जिह्वा काट देनी चाहिए और यदि वह वेदमन्त्रों को कण्ठस्थ कर ले तो उसके शरीर को विदीर्ण कर देना चाहिए।" वेदों को लोग भूल चुके थे। उनका पठन-पाठन बन्द हो गया था। वेद का स्थान मनुष्यकृत ग्रन्थों ने ले-लिया था और यह घोषणा हो चुकी थी कि वेदों को शंखासुर ले-गया है। प्रतिदिन सूर्योदय से पूर्व सहस्त्रों गौओं के ऊपर आरा चला दिया जाता था।

ऐसे घटाटोप अन्धकार में एक ऐसी दिव्यात्मा की आवश्यकता थी जिसमें गौतम, कपिल, कणाद और कुमारिलभट्ट का पाण्डित्य हो, जिसमें हनुमान् और भीष्म पितामह का ब्रह्मचर्य हो, जो शङ्कराचार्य-जैसा योगी हो, जिसमें भीम-जैसा बल हो, जिसमें महात्मा बुद्ध का अनुपम त्याग और वैराग्य हो, जिसमें मर्यादा पुरुषोत्तम राम का मर्यादा-पालन हो, जिसमें योगिराज कृष्ण और छत्रपति शिवाजी की नीतिमत्ता हो, जिसमें महाराणा प्रताप का प्रताप, ओज, तेज और शौर्य हो, जिसमें महर्षि पतञ्जलि और व्यास की आध्यात्मिकता हो। इन सब गुणों से विभूषित एवं अलंकृत युगपुरुष महर्षि दयानन्द सरस्वती भारतीय रङ्गमञ्च पर मानवमात्र को अविद्या-अन्धकार से निकालने के लिए अवतीर्ण हुए।

जन्म एवं बाल्यकाल

महर्षि दयानन्द सरस्वती एक आदर्श संन्यासी थे, अतः उन्होंने अपने घर एवं माता-पिता आदि का नाम कभी नहीं बताया, परन्तु उनके भक्तों ने छान-बीन करके उनका पूर्व-वृत्तान्त प्राप्त कर ही लिया।

महर्षि दयानन्द सरस्वती का जन्म फाल्गुन बदी दशमी संवत् १८८१ तदनुसार शनिवार १२ फरवरी सन् १८२५ को मौरवी राज्य (गुजरात) के अन्तर्गत टंकारा ग्राम में हुआ। आपके पिताजी का नाम श्रीकर्षणजी तिवारी था। श्रीकर्षणजी औदीच्य ब्राह्मण थे। वे

अच्छे भू-स्वामी एवं लेन-देन का कार्य करनेवाले प्रतिष्ठित सज्जन थे। सन् १८७३ ई० में मन्ना चौधरी से वार्तालाप के प्रसंग में स्वामीजी ने बताया कि "मेरे पिताजी का टंकारा में वही पद था जिसे ब्रिटिश भारत में रेवेन्यू कलक्टर (माल अफसर अथवा कर-विभाग अधिकारी) कहते हैं। गुजरात में उस अधिकारी को जमेदार कहते हैं।" राज्याधिकारी होने के अतिरिक्त श्रीकर्षणजी धन-सम्पन्न भी थे। धनधान्य एवं अधिकार से सम्पन्न होने के साथ ही श्रीकर्षणजी विद्वान् भी थे। उनकी शैवमत में दृढ़ निष्ठा और आस्था थी। ऐसे समृद्ध, राज्याधिकारी और धार्मिक सद्-गृहस्थ के गृह को महर्षि दयानन्द ने अपने आलोक से आलोकित किया।

महर्षि दयानन्द का जन्म-नाम मूलशङ्कर था। मूलशङ्कर अपने माता-पिता की प्रथम सन्तान थे। पुत्र की प्राप्ति पर माता-पिता का हृदय-कमल प्रसन्नता से खिल उठा। सम्पूर्ण परिवार में आनन्दोत्सव मनाया जाने लगा। उत्सव के बाजे बजने लगे और चारों ओर से नगर-निवासी तथा बन्धुजन बधाई देने लगे। घर के द्वार पर सर्षप-होम किया गया, जिससे प्रसूता तथा प्रसूति-गृह दोनों रोगोत्पादक कृमियों से सुरक्षित रहें।

कुल की मर्यादा के अनुसार बालक का जातकर्म-संस्कार करते हुए उसकी जिह्वा पर स्वर्णशलाका द्वारा मधु से 'ओ३म्' लिखा गया और पिता ने पूरे आस्तिक भाव से कान में '**वेदोऽसि**' कहा। दयानन्द ने उसे पूर्ण कर दिखाया। दयानन्द-जैसा आस्तिक और वेद-प्रचारक इस युग में और कोई नहीं हुआ। मैडम ब्लैवट्स्की ने लिखा है—Dayānanda was possessed of the Vedās, अर्थात् दयानन्द पर वेदों का भूत सवार था।

ग्यारहवें दिन बालक का नामकरण-संस्कार धूम-धाम से सम्पन्न कराया गया। बालक मूलशंकर माता की ममतामयी गोद में, पिता के प्यार-पूर्ण हाथों में और बन्धुओं के स्नेहसिक्त लालन-पालन में सुरक्षित अशोकलता और शुक्लपक्ष के चन्द्रमा की भाँति दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगे।

पाँचवें वर्ष में प्रविष्ट होने पर मूलशंकर का विद्यारम्भ बहुत समारोह से कराया गया। उस दिन मूलशंकर को सुन्दर एवं नूतन वस्त्र पहनाये गये। सारा घर स्वच्छ करके सजाया गया। द्वारों पर विविध रङ्गों से चौक पूरे गये। यज्ञ हुआ। ब्राह्मण-भोज कराया

गया। दान-दक्षिणा भी दी गई। इस अवसर पर समागत नर-नारियों के समक्ष श्रीकर्षणजी ने अपने भव्य एवं दर्शनीय पुत्र को गोद में बैठाकर अपने इष्टदेवों का स्मरण कर देवनागरी अक्षर सिखाये।

विद्यारम्भ के पश्चात् जब वह देवनागरी अक्षरों के अभ्यस्त हो गये, तब दाक्षिणात्य प्रान्तों में संस्कृत पढ़ाने की प्रचलित पद्धति के अनुसार पहले उन्हें शब्दरूपावलि पढ़ाई गई। तत्पश्चात् धातुरूपावलि, कारकचक्र, समासचक्र और साथ ही मातृभाषा की पुस्तकें भी पढ़ाई जाने लगीं। आठ वर्ष की अवस्था प्राप्त करने तक मूलशंकर व्याकरण के सामान्य ज्ञान के अतिरिक्त हितोपदेश, रघुवंश के कुछ सर्ग पढ़ चुके थे। इनके साथ-साथ वह शिवसहस्रनाम, महिम्नःस्तोत्र तथा अन्य कई स्तोत्र कण्ठस्थ कर चुके थे। इतना ही नहीं, यथासमय नियमपूर्वक वह उनका पाठ भी करने लगे थे। यह सब कार्य उनके पिताजी ने कराया।

शनैः-शनैः विद्याध्ययन करते और खेलते-कूदते मूलशङ्कर ने आठवें वर्ष में पदार्पण किया। '**अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेत्**' आठवें वर्ष में ब्राह्मण का यज्ञोपवीत-संस्कार होना चाहिए। गृह्यसूत्र के इस आदेश के अनुसार श्रीकर्षणजी ने अपने पुत्र का यह संस्कार विशेष समारोह से सम्पन्न कराया। उपनयन-संस्कार के पश्चात् मूलशंकर का वेदाध्ययन आरम्भ हुआ। पिताजी औदीच्य ब्राह्मण थे, अतः उन्हें सामवेद आरम्भ कराया गया, परन्तु उसे स्थगित कराके फिर उन्हें रुद्राष्टाध्यायी पढ़ाई गई। तत्पश्चात् उन्हें सम्पूर्ण यजुर्वेद कण्ठस्थ कराया गया। चौदह वर्ष की अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते मूलशंकर को सम्पूर्ण यजुर्वेद-संहिता कण्ठस्थ हो गई। अन्य वेदों के भी कुछ अंश उन्होंने कण्ठस्थ कर लिये थे। वेदों के अतिरिक्त निरुक्त, निघण्टु, पूर्वमीमांसा और कर्मकाण्ड के कुछ ग्रन्थों का भी उन्होंने अध्ययन कर लिया था और उनका आलोडन ही उनका प्रमुख विषय रहता था।

मूलशंकर के पिता नैष्ठिक शैव थे। नित्य पार्थिव पूजन करते थे। उनकी स्वाभाविक इच्छा थी कि उनका पुत्र भी शिवभक्त बने। वे चाहते थे कि मूलशंकर भी विधिपूर्वक व्रत-उपवास आदि करे, इसीलिए वे मन्दिरों में, कथाओं में और शिवोत्सवों में पुत्र को साथ ले-जाते थे। चौदह वर्ष की अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते मूलशंकर के हृदय में भी शिवभक्ति का उदय हो गया था।

अद्भुत प्रबोध : मूर्त्तिपूजा से अनास्था

संवत् १८९४ में जब लाड़-प्यार से बढ़ते हुए बालक मूलशंकर चौदह वर्ष के हुए, तब पिताजी ने उन्हें शिवरात्रि का व्रत रखने की आज्ञा दी। माता का मोह भी कोई तत्त्व है, उन्होंने पतिदेव से कहा—"यह सुकोमल बालक व्रतोपवासों के कष्ट को सहने में समर्थ नहीं है। आप अल्पवयस् में इसे कर्त्तव्य-सोपान पर आरूढ़ करने का विशेष यत्न न कीजिए," परन्तु धारणा के धनी पिता ने पत्नी की एक न सुनी। पहले तो मूलशंकर भी हिचके, परन्तु स्वर्ग-प्राप्ति आदि के अनेक प्रलोभनों से आकृष्ट होकर और इस व्रत का माहात्म्य सुनकर वे व्रत रखने के लिए उत्साहित हो गये।

मूलशंकर को बताया गया कि तुम्हें आज रात-भर जागरण करना होगा। यदि ऐसा न करोगे तो व्रत निष्फल हो जाएगा। पूजा का प्रकार भी उन्हें बता दिया गया। शिवरात्रि को नगर से बाहर एक बड़े शिवालय में नगर के सर्वसाधारण भक्त और प्रतिष्ठित जन जाकर व्रतपूर्वक पूजा-पाठ, जप और जागरण किया करते थे। मूलशंकर के पिता भी उसको इसी मन्दिर में ले-गये। सम्पूर्ण शिवालय 'टन-टन', 'हर-हर' और 'बम्-बम् महादेव' के नादों से निनादित हो रहा था। स्नान आदि करके शुचिवदन, रेशमी धोतियाँ धारण किये, भाल पर विभूति रमाये, गले में रुद्राक्ष की माला डाले, हाथों में शुद्धोदकपूर्ण कलश और पूजा की सामग्री लिये शिव-भक्तों की मण्डलियाँ एक-एक करके प्रवेश कर रही थीं। दीपों से सर्वत्र प्रकाश व्याप्त हो रहा था। धूप की सुगन्ध सारे वायुमण्डल को सुगन्धित कर रही थी। प्रथम प्रहर की पूजा बड़े भक्तिभाव से सम्पन्न हुई। जैसे-तैसे दूसरे प्रहर की पूजा भी पूरी की गई, परन्तु तीसरा प्रहर आरम्भ होते ही लोगों की आँखें मिचने लगीं। निद्रा-देवी ने सबको मूर्च्छित कर इधर-उधर सुला दिया। सबसे पहले जो निद्रा-देवी की गोद में लुढ़के, वे थे मूलशंकर के पिता। जब पुजारियों ने देखा कि भक्तलोग आनन्द-मग्न होकर खर्राटे ले-रहे हैं, तब वे भी मन्दिर के बाहरी भाग में आकर निद्रा-देवी की गोद में लीन हो गये।

चारों ओर गम्भीर निस्तब्धता और नीरवता का साम्राज्य था। इस नीरवता में केवल मूलशंकर जाग रहे थे। उन्होंने पढ़ा और सुना था—**'यो जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्यौकाः।** (ऋ० ५।४४।१४) जो जागता है, सर्वशान्तिदायक भगवान् उससे कहते

हैं—तेरे साथ एक ठिकाने में रहता हुआ मैं तेरा मित्र हूँ।' सब सो गये, परन्तु मूलशंकर जाग रहे थे। जब उन्हें निद्रा आती थी, तब वे अपनी आँखों पर पानी के छींटे मार-मारकर अपने-आपको सचेत और सावधान कर लेते थे। उन्हें भय था कि निद्रा आने से व्रत भङ्ग हो जाएगा। शिव-दर्शन के लिए उत्सुक वह नयन पसारे हुए शिव-मूर्त्ति को निहार रहे थे। इसी समय उन्होंने आश्चर्य से देखा कि कुछ क्षुद्र मूषक (चूहे) बिलों में से निकलकर शिव-पिण्डी पर चढ़कर उछल-कूद मचाने और दण्ड पेलने लगे। वे पिण्डी पर चढ़े नैवेद्य को आनन्द से खाने लगे और अपने मल-मूत्र से उस पिण्डी को भी अपवित्र करने लगे। जैसे बादलों में विद्युत्-रेखा कौंध जाती है, जैसे सागर में उत्ताल तरङ्गें उठती हैं, उसी प्रकार इस दृश्य को देखते ही मूलशंकर के हृदय में भी ज्ञान-ज्योति कौंध गई; उनके हृदय में भी विचारों की तरङ्गें उठने लगीं। वे सोचने लगे—'मैंने तो सुना था कि शिव त्रिपुरारि है, वह त्रिशूलधारी है, वह कैलासविहारी है, पाशुपतास्त्र से दैत्यों का संहारी है, वह वर और शाप देने में समर्थ है। यह कैसा शिव है जो क्षुद्र चूहों से भी अपनी रक्षा नहीं कर सकता?' जब उनकी जिज्ञासा शान्त नहीं हुई, तब उन्होंने पिताजी को जगाकर शङ्का-समाधान करना चाहा। वहाँ डाँट-डपट के सिवा कोई उत्तर नहीं था। उन्होंने कहा—"इस कलिकाल में शिव के साक्षात् दर्शन नहीं होते, इसलिए उसकी प्रतिमा का ही पूजन किया जाता है।" पिताजी के इस उपदेश से मूलशंकर की सन्तुष्टि नहीं हुई। इस घटना से मूलशंकर की आस्था मूर्त्तिपूजा से हट गई। उन्होंने जीवन-भर फिर कभी मूर्त्तिपूजा नहीं की। बड़े-से-बड़ा प्रलोभन, भय और आपत्ति भी उनका सिर मूर्त्ति के समक्ष न झुका सकी।

"मैं सच्चे शिव के दर्शन करूँगा"—ऐसा दृढ़ निश्चय कर एवं पिताजी से आज्ञा माँग मूलशंकर घर चले आये। व्रत से उनकी निष्ठा उठ चुकी थी, अतः पिता के मना कर देने पर भी उन्होंने घर आते ही माता से माँगकर भोजन कर लिया, क्योंकि मूलशंकर की आस्था मूर्त्तिपूजा से उठ चुकी थी, अतः उन्होंने चाचाजी से प्रार्थना की कि अध्ययन के कारण मुझसे पूजा-पाठ का आडम्बर नहीं निभ सकता। आप यह बात पिताजी को समझा दीजिए। चाचा और माताजी के समझाने पर मूलशंकर को पूजा-पाठ से छुट्टी मिल गई। अब मूलशंकर अपना सारा समय विद्याध्ययन में लगाने लगे। समीपवर्ती एक ब्राह्मण से उन्होंने निघण्टु, निरुक्त, मीमांसा आदि शास्त्र पढ़ने आरम्भ कर

दिये। साथ ही उन्होंने स्मार्त-ग्रन्थों का भी कुछ अध्ययन किया।

बहिन की मृत्यु और मृत्युञ्जय बनने का संकल्प

मूलशंकर अपने पिता के ज्येष्ठ पुत्र थे। दो छोटी बहिनें और दो छोटे भाई—ये सब मिलकर पाँच भाई-बहिन थे। "**मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षत्**"[१] के अनुसार भाई-बहिनों में परस्पर अत्यन्त स्नेह था। संवत् १८९६ विक्रमी में जब मूलशंकर सोलहवें वर्ष में थे तब एक रात्रि में उन्हें अपने पारिवारिक जनोंसहित एक इष्ट-मित्र के यहाँ नृत्योत्सव में जाना पड़ा। उत्सव को आरम्भ हुए अभी अधिक समय नहीं हुआ था कि मूलशंकर के घर से एक नौकर हाँफता हुआ वहाँ पहुँचा और सूचना दी कि उनकी चौदह वर्षीया छोटी बहिन को विषूचिका (हैज़ा) हो गया है। इस समाचार ने मूलशंकर और उनके परिवार पर वज्रपात किया। सभी लोग वहाँ से उठकर तुरन्त घर पहुँचे। सारा परिवार औषध-उपचार में लगा। वैद्यों ने बहुत हाथ-पाँव मारे, बहुत प्रयत्न किये, परन्तु सारे प्रयत्न व्यर्थ हुए। चार घण्टों के भीतर ही प्रिय भगिनी के प्राण-पखेरू उड़ गये।

जिस समय इस दुःखद दुर्घटना से सकल परिवार के नेत्रों से अविरल अश्रुधाराएँ बह रही थीं, रोने-पीटने से हाहाकार मचा हुआ था, रो-रोकर हिचकियाँ लेते-लेते माता की घिग्घी बँध गई थी और सर्व स्नेही-वर्ग पर शोक का सागर उमड़ आया था, उस समय एक मूलशङ्कर ही था जो मृता भगिनी की शय्या की समीपवर्ती दीवाल से लगा हुआ अश्रुविहीन नेत्रों से चुपचाप प्यारी बहिन के शव को एक-टक देख रहा था। उसके चित्त की गहरी चिन्ता को न पहचानकर बन्धुओं ने उसपर बहुतेरे कटु कटाक्ष किये, पिता ने पाषाण-हृदय कहा, यहाँ तक कि सदा प्रेम प्रदर्शित करनेवाली माता ने भी यही शब्द दुहराये, परन्तु दयानन्द के सम्मुख उस घटना ने एक ऐसी समस्या उपस्थित कर दी थी कि जिसकी पूर्ति के लिए उसका चित्त चञ्चल हो उठा था।

जैसे वायु का तीव्र वेग नौका के मुख को फेर देता है, जैसे विशाल चट्टान से टक्कर खाकर नदी का बहाव बदल जाता है, ऐसे ही इस अदृष्टपूर्व घटना को देखकर मूलशंकर की चित्तवृत्तियाँ अपने क्लिष्ट प्रवाह को क्रमशः बदलने लगीं। विद्युत्पात से कम्पित मनुष्य की भाँति भयभीत मूलशंकर सोचने लगे—'अहो! मेरी बहिन की

---

१. अथर्व० ३।३०।३

तरह सभी लोग एक-एक करके, अवश्यमेव विकराल काल के ग्रास बनेंगे। निश्चय ही मुझे भी उसी मार्ग का अनुसरण करना पड़ेगा। मृत्यु ऐसी अवश्यम्भावी है कि इससे, छोटा-बड़ा कोई भी जीव बच नहीं सकता। हा!! यह असह्य वियोग-वेदना सबको सहनी होगी। यह दुर्दिन जीवमात्र को देखना होगा। सचमुच, यह जीवन क्षणभंगुर है, जल-बुद्बुदवत् चञ्चल है, सन्ध्या-राग की भाँति अस्थिर है, पलाश-पत्र पर पड़े ओस-कण की तरह चलायमान है। तब तो कोई उपाय करना चाहिए जिससे जन्म-मरण के दारुण दुःख से मुक्तिलाभ हो और अमर जीवन की उपलब्धि हो।' इस घटना के सम्बन्ध में महर्षि अपनी 'आत्मकथा' में लिखते हैं—

"उस भगिनी के वियोग का शोक मेरे जीवन का प्रथम शोक था। उस शोक से मेरा हृदय विलक्षणरूप से व्यथित हुआ। जिस समय मेरे आत्मीय और स्वजन उस भगिनी के लिए चारों ओर रोदन और विलाप करते थे, उस समय मैं पाषाण-निर्मित मूर्त्ति के समान अविचलभाव से खड़ा हुआ सोच रहा था कि इस संसार में सब मनुष्यों को ही मृत्यु के मुख में जाना पड़ेगा। इसी प्रकार मुझे भी एक दिन मृत्यु का ग्रास बनना होगा। फलतः मैंने उस समय यह सोचा— "किस जगह जाने से मैं मृत्यु की यन्त्रणा से बच सकूँगा और मुक्ति के पथ का दर्शन कर सकूँगा?" मैंने उसी जगह खड़े-खड़े यह संकल्प कर लिया कि जिस प्रकार से हो सकेगा उसी प्रकार से मैं मुक्ति-पथ के दर्शन से अवर्णनीय मृत्युक्लेश से अपनी रक्षा करूँगा।"

चचाजी की मृत्यु

संवत् १८९९ में मूलशंकर ने अपनी आयु के उन्नीसवें वर्ष में पदार्पण किया। इस वर्ष में उनसे अत्यधिक स्नेह करनेवाले उनके धार्मिक एवं विद्वान् चचा भी विशूचिका रोग से ग्रस्त हो गये। अनेक उपचार किये, परन्तु कोई सफल नहीं हुआ। मरणासन्न चचा ने जब मूलशंकर से अन्तिम विदाई ली तब उनकी आँखों से आँसू टपकने लगे। चचाजी की यह अवस्था देख मूलशंकर अधीर हो गये। वह करुण-क्रन्दन करते हुए फूट-फूटकर रोने लगे। उनकी आँखों से गङ्गा-यमुना की धारा बहने लगी। रोते-रोते उनकी आँखें सूज गईं। अपने जीवन में उन्होंने इतना रोदन कभी नहीं किया था। इस घटना ने उनकी वैराग्याग्नि को और अधिक प्रदीप्त कर दिया।

मृत्यु बहुत बड़ा गुरु है, किन्तु कितने हैं जो इस महागुरु से

शिक्षा ग्रहण करते हैं ? जो इस महागुरु के उपदेश को सुनते हैं, वे अमर हो जाते हैं। मरते हुए चचा ने मानो मूलशंकर से कहा— **'मृत्यवे त्वा परिददामि'**। मूलशङ्कर ने उसे सुना और अपने-आपको मृत्यु को समर्पित कर दिया। फलस्वरूप मृत्यु मूलशङ्कर=दयानन्द से पराजित हो गई। दयानन्द ने मृत्यु को जीत लिया और वे मृत्युञ्जय कहलाये।

अशान्त धाराएँ

अब मूलशंकर को भगिनी व चचा की मृत्यु से संसार एवं संसार के सब पदार्थ असार दिखने लगे। उन्हें इन सब वस्तुओं से ग्लानि हो गई। वे अपने इष्ट-मित्रों और विद्वज्जनों से अमरत्व-प्राप्ति का उपाय पूछने लगे। उनके पूछने पर सभी सुधीजनों ने परमपद-प्राप्ति का साधन गृह-त्याग और योगाभ्यास बताया। उत्कट लगन से प्रेरित होने के कारण दयानन्द के मन में योगाभ्यास की लगन समा गई। वे मन-ही-मन कहने लगे कि यह योग घर-बार के काम-काज में, मोह-ममता के जञ्जाल में सिद्ध न हो सकेगा, अत: गृहत्याग कर कहीं चलना चाहिए। इस निश्चय के पश्चात् उन्होंने अपने मित्रों को अपना मनोगत भेद खोलकर बता दिया। उन्होंने कहा—"मैंने यह निश्चय कर लिया है कि यह संसार सार-रहित है। इसमें कोई ऐसा पदार्थ नहीं जिसके लिए जीने की इच्छा की जाए और वास्तव में कोई भी मनोज्ञ वस्तु नहीं है, जिसमें मन लगाया जाए। मैं इसे रस-रहित और फीका समझता हूँ।" मूलशंकर के मित्रों एवं सम्बन्धियों ने उनके मनोभावों की चर्चा श्रीकर्षणजी तथा यशोदाबाई से कर दी। वे दोनों सतर्क रहने लगे।

इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जहाँ दयानन्द-जैसे वैराग्यवान् वीरों को स्नेह-बन्धन में बाँधने के लिए बन्धुवर्ग विवाह-शृंखला को सर्वोत्तम समझते आये हैं। इसी परम्परा-प्राप्त पद्धति पर मूलशंकर के माता-पिता भी आरूढ़ हो गये और लगे शीघ्रता से उनके विवाह का उद्योग करने। उन्होंने स्थिर कर लिया कि बीसवें वर्ष में ही पुत्र का विवाह कर दिया जाए। वैराग्य की यह आग अनुराग की बदली बरसने पर आप ही शान्त हो जाएगी। मूलशंकर को जब ज्ञात हुआ कि उनको सदा के लिए जकड़ने के निमित्त एक प्रबल पाश प्रस्तुत करने का प्रस्ताव हो गया है तब उन्होंने मित्रों द्वारा इसका घोर विरोध किया। इससे विवश हो, उनके पिता को उस वर्ष विवाह-

कार्य रोक देना पड़ा।

विवाह रुक गया, परन्तु मूलशंकर निश्चिन्त नहीं थे। उन्हें भय था कि इक्कीसवाँ वर्ष आरम्भ होते ही पुनः विवाह की चर्चा आरम्भ हो जाएगी। उस समय उसका टालना कठिन हो जाएगा। इसलिए संवत् १९०० में बीसवें वर्ष की समाप्ति पर ही उन्होंने पूज्य पिताजी से प्रार्थना करना आरम्भ कर दिया कि मुझे व्याकरण, ज्योतिष् और वैद्यक के ग्रन्थों को पढ़ना है। कृपया मुझे काशी भेज दीजिए, क्योंकि इन ग्रन्थों की पढ़ाई वहीं अच्छी होती है। श्रीकर्षणजी स्वयं विद्वान् थे, अतः अपने पुत्र के इस प्रस्ताव से सहमत हो गये, परन्तु स्नेहमयी माता जो सदा पुत्र के मत का समर्थन किया करती थी, पुत्र के इस प्रस्ताव से सहमत न हो सकी। उसे इस प्रस्ताव में पुत्र के सदा के लिए गृहत्याग की गन्ध आई, अतः उसने पुत्र को काशी जाने की अनुमति नहीं दी। ममता की मूर्त्ति माता ने कहा—"मैं जानती हूँ कि बहुत पढ़-लिखकर लड़के वैरागी बन जाते हैं, अतः मैं काशी नहीं जाने दूँगी।" इसपर मूलशंकर ने प्रस्ताव किया कि अपने ग्राम से तीन कोस की दूरी पर अपने एक सम्बन्धी विद्वान् ब्राह्मण रहते हैं, पढ़ने के लिए मुझे उन्हीं के पास भेज दिया जाए। माता-पिता दोनों इस बात पर सहमत हो गये। माता-पिता की अनुमति प्राप्त कर मूलशंकर उनके पास पढ़ने चले गये और परिश्रम से पढ़ने लगे।

मूलशंकर अपूर्व मेधाबुद्धि के धनी थे, उनकी तर्कशक्ति अद्भुत चमत्कारिणी थी। उनका ऊहापोह का सामर्थ्य अत्युत्कृष्ट था। विद्या की लालसा उनमें अति तीव्र थी। इन गुणों से विभूषित छात्रों से गुरुजन अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। अवश्य ही उनके गुरुजी भी उन्हें छात्ररूप में पाकर अपने को धन्य मानते होंगे और अपनी विद्या सुपात्र को देने का अवसर पाकर नितान्त प्रसन्न होते होंगे, परन्तु उनकी अपनी भूल से वह अपने शिष्य को गँवा बैठे। एक दिन गुरु और शिष्य वार्तालाप कर रहे थे कि बीच में विवाह-प्रसंग छिड़ गया। उस समय दैवयोग से मूलशंकर के मुख से ये शब्द निकल गये—"मुझे विवाह से ऐसी घृणा है कि जो किसी प्रकार मेरे मन से दूर नहीं हो सकती।" शिष्य के मनोभावों को जानकर पण्डितजी विह्वल एवं विकल हुए। विश्वासी शिष्य के वह विश्वासपात्र न बन सके, प्रत्युत शिष्य से विश्वासघात करके उन्होंने वह सन्देश मूलशंकर के माता-पिता तक पहुँचा दिया। पुत्र के वैराग्यपूर्ण विचारों से

माता-पिता का विचलित होना स्वाभाविक था। उन्होंने पुत्र को वहाँ से वापस बुला लिया और शीघ्रता से उन्हें विवाह-बन्धन में बाँधने का उद्योग करने लगे।

गृह-त्याग

मूलशंकर घर लौटे तो उन्होंने देखा कि उनके विवाह-सम्बन्धी वस्त्राभूषण प्रस्तुत हो रहे हैं, विवाह के लिए नाना प्रकार की सामग्री एकत्र की जा रही है। यह सब-कुछ देखकर वह भौंचक्के रह गये। उनका चित्त चञ्चल हो उठा। सारे इष्ट-मित्र, बन्धु-बान्धव मूलशंकर का विवाहोत्सव देखने को उत्सुक थे। दूरवासी सम्बन्धियों के आने का समय भी समीप आ गया था। एक समृद्धिशाली गृहस्थ का विशाल गृह-आँगन स्वच्छ एवं सुसज्जित हो गया था। पिता प्रमुदित हैं। माता के आनन्द की सीमा नहीं है। घर के आबालवृद्ध सभी हर्षित-हृदय और प्रफुल्लवदन हैं। ऐसा प्रतीत होता था मानो गृह में प्रसन्नता का कोई स्रोत बह निकला हो। सारा परिवार हर्ष से फूला नहीं समाता था, परन्तु मूलशंकर गहरे विचारों में मग्न थे। उन्हें लगता था कि सब लोग मिलकर उन्हें बन्धन में डालने का उद्योग कर रहे हैं। एक दिन सायंकाल मूलशंकर का मन सम्बन्धियों की मोह-माया से उचाट हो गया। बाईस वर्ष की अवस्था में, उठते हुए यौवन और भरी जवानी में, विवाहोत्सव से सुशोभित अपने धन-धान्यपूर्ण गृह को, विवाह-सम्बन्धी सारे हाठ-बाट को, साज और सामग्री को, माता-पिता के प्यार और दुलार को, इष्ट-मित्रों के सरस स्नेह को तिलाञ्जलि देकर और यह निश्चय कर कि "फिर लौटकर घर नहीं आऊँगा," घर से निकल पड़े। यह बात सवंत् १९०३ की है।

मूलशंकर ने गृह-त्याग की पहली रात्रि अपने नगर से छह कोस के अन्तर पर व्यतीत की। अभी रात्रि का एक प्रहर शेष था कि वे पुनः अपनी यात्रा पर चल पड़े। उन्होंने सायंकाल से पूर्व बीस कोस पर एक ग्राम में पहुँचकर विश्राम लिया। यहाँ उन्होंने हनुमान् के एक मन्दिर में रात्रि व्यतीत की। अपनी यात्रा में उन्होंने बड़े चातुर्य से काम लिया। वे प्रसिद्ध मार्ग पर न चलकर ऊँचे-नीचे विषम पथ से जाते थे कि कहीं कोई जान-पहचानवाला सम्मुख न आ जाए।

उधर जब माता-पिता को पता लगा कि मूलशंकर सहसा कहीं चला गया है तब वे भौंचक्के रह गये। उनपर भीषण वज्रपात हुआ।

पिता की व्याकुलता का ठिकाना न रहा, ममतामयी माता जल-विहीन मीन की भाँति तड़पने लगी। बन्धुवर्ग के मस्तिष्कों को शोक-तरङ्गों ने निमग्न कर दिया। विवाह-सम्बन्धी सारा ठाट-बाट, साज-सामग्री, राग-रङ्ग सहसा फीका हो गया। घर-बार, द्वार-दीवाल, सबपर उदासीनता छा गई। अन्वेषण कार्य तुरन्त आरम्भ कर दिया गया। चारों ओर अश्वारोही और पदाति सिपाही दौड़ाये गये। जहाँ-जहाँ मूलशंकर के जाने की सम्भावना हो सकती थी, वहाँ-वहाँ खोजनेवाले पहुँचे, परन्तु मानसरोवर की यात्रा के लिए पिंजड़ा तोड़कर निकले हुए राजहंस का कोई पता न चला सका।

२

अमरता की खोज

मूलशंकर की दो अभिलाषाएँ थीं—एक सच्चे शिव की प्राप्ति और दूसरी मृत्यु महारोग की महौषधि ढूँढकर मृत्युञ्जय बनना। उन्होंने विद्वज्जनों और इष्ट-मित्रों से सुना था कि सच्चे शिव की प्राप्ति और मृत्यु-यन्त्रणा से त्राण पाने का उपाय योग है, अतः वे योगियों की खोज में प्रवृत्त हुए। शैला-निवासी लालाभक्त योगी के सम्बन्ध में मूलशंकर ने मार्ग में ही पर्य्यटक संन्यासियों एवं वैरागियों से बहुत-कुछ सुन लिया था। वे उन्हीं से मिलने के लिए जा रहे थे कि मार्ग में उन्हें साधुवेष में ठगों का एक दल मिला। मूलशंकर की अंगुलियों में स्वर्ण-मुद्रिकाएँ और शरीर पर मूल्यवान् रेशमी वस्त्र थे। इस वेश-भूषा को देखकर एक साधु ने कटाक्ष करते हुए कहा—"त्यागी बनने चले हो! हाथ की अंगूठियाँ तो छोड़ी नहीं गईं, वैराग्य-सिद्धि क्या धूल करोगे?" जिस महात्मा ने ऐरावत हाथी त्याग दिया हो, वह उसके बन्धन की रस्सी से कब स्नेह करने लगा था? उन्होंने अंगूठियाँ उतारकर उन कपट वेषधारी साधुओं के आगे फेंक दीं और अपने मार्ग पर चल पड़े।

लालाभक्त योगी के पास पहुँचकर मूलशंकर योगाभ्यास करने लगे। यहीं उन्हें एक ब्रह्मचारी मिले, जिन्होंने मूलशंकर को नैष्ठिक ब्रह्मचर्य की दीक्षा लेने के लिए प्रेरित किया। मूलशंकर ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर उनसे दीक्षा ग्रहण कर ली। ब्रह्मचारीजी ने दीक्षा देकर उन्हें काषायवस्त्र धारण कराये। उनके एक हाथ में तूंबा देकर आदेश दिया कि आज से तुम्हारा नाम 'शुद्धचैतन्य' हुआ। ब्रह्मचारी शुद्धचैतन्यजी वहीं साधु-सन्तों की मण्डली में रहते हुए योग-साधन में प्रवृत्त हो गये।

एक रात की बात है शुद्धचैतन्यजी मठ से बाहर एक विशाल वृक्ष के नीचे बैठे हुए आराधना कर रहे थे। इसी समय पेड़ पर पक्षियों की एक विलक्षण 'घू-घू' की ध्वनि उस गहरी रात्रि में गूँजने लगी। ब्रह्मचारीजी ने बाल्यावस्था में माँ-बाप से भूत-प्रेत के भ्रमयुक्त संस्कार ग्रहण किये थे, अतः वे सहसा भयभीत हो गये और उसे भूत-ध्वनि समझकर मठ में प्रविष्ट हो गये। शुद्धचैतन्यजी बहुत

दिनों तक लालाभक्त के मठ में रहकर योगसाधना करते रहे, परन्तु यह देखकर कि उनकी वास्तविक मन:कामना यहाँ पूर्ण नहीं हो सकेगी, वे उस मठ से प्रस्थान कर कोटकाँगड़ा नामक एक छोटे-से नगर में जा विराजे।

कोटकाँगड़ा में शुद्धचैतन्यजी को एक नया अनुभव हुआ। उन्होंने वहाँ बहुत-से वैरागी देखे। उनके साथ एक युवती राजकुमारी भी थी। शुद्धचैतन्यजी यत्न करने पर भी यह न जान सके कि यह कहाँ की है और इनके चंगुल में कैसे आ फँसी है। उस युवती ने शुद्धचैतन्य से परिहास करने का प्रयत्न किया, किन्तु ब्रह्मचारीजी तो स्त्री के साथ परिहास करने को पाप एवं ब्रह्मचर्यव्रत के विरुद्ध समझते थे, अत: वे उपेक्षा कर गये।

एक वैरागी ने देखा कि शुद्धचैतन्यजी रेशमी धोती धारण किये हुए हैं। तब उस बाबा ने कटाक्ष करते हुए ब्रह्मचारीजी से कहा कि वह रेशमी धोती धारण करते हुए त्यागी और वैरागी कैसे बन सकते हैं ? ब्रह्मचारीजी के पास उस समय तीन रुपये शेष थे। उन्होंने रेशमी धोती को उतार कर फेंक दिया और सूती धोती क्रय कर धारण कर ली। कोटकाँगड़ा में उन्होंने तीन मास काटे, परन्तु उनकी मनोरथ-मुक्ता उन्हें वहाँ न मिली। जब उन्हें विश्वास हो गया कि जिस रत्न की खोज में मैं गृह-त्याग कर यहाँ आया हूँ उसकी प्राप्ति यहाँ सर्वथा असम्भव है, तब उन्होंने कोटकाँगड़ा को भी छोड़ने का संकल्प किया। यहाँ रहते हुए उन्होंने सिद्धपुर में कार्तिक मास में होनेवाले मेले की चर्चा सुनी। यह सोचकर कि मेले में अनेक संन्यासी, साधु, विरक्त, योगी-महात्मा पधारेंगे, उनसे कदाचित् अभीष्ट-सिद्धि हो सके, वे सिद्धपुर की ओर चल दिये।

पिताजी से अन्तिम भेंट

शुद्धचैतन्यजी कोटकाँगड़ा से थोड़ी ही दूर गये थे कि उनकी भेंट एक पूर्व-परिचित ग्रामीण वैरागी से हुई। गृह-त्याग के अनन्तर चिरकाल के पश्चात् शुद्धचैतन्यजी ने एक स्नेही व्यक्ति का अवलोकन किया था, इसलिए उसे देखकर उनका हृदय उमड़ पड़ा और उनकी आँखों से टप-टप आँसू गिरने लगे। उन्हें देखकर वैरागी की भी यही अवस्था हुई। वैरागी ने ब्रह्मचारीजी के मुख से उनके गृह-त्याग की सारी कहानी श्रवण की। श्रीशुद्धचैतन्यजी ने अपने गृह-त्याग, मार्ग की विघ्न-बाधाओं और काषायवस्त्र धारण करने का कारण बताया।

प्रथम तो ब्रह्मचारीजी के वेश पर वैरागी को हँसी आई, परन्तु तुरन्त गम्भीर होकर उसने गृह-त्यागने के लिए ब्रह्मचारीजी की भत्र्सना भी की। अन्त में दु:खी होकर वैरागी ने पूछा—"क्या तुमने गृह त्याग दिया? अब घर वापस न जाओगे?" शुद्धचैतन्यजी ने प्रथम मिले स्नेही को स्पष्ट उत्तर दिया—"हाँ, मैंने गृह त्याग दिया है। कार्तिक के मेले पर सिद्धपुर जा रहा हूँ।" इस प्रकार वार्त्तालाप करते हुए वे एक-दूसरे से पृथक् हो गये। श्री शुद्धचैतन्यजी ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए कालान्तर में सिद्धपुर जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने नीलकण्ठ महादेव के मन्दिर में आसन जमाया। इस मन्दिर में पहले से ही कई दण्डी स्वामी और बहुत-से ब्रह्मचारी विराज रहे थे। कुछ समय तक उन्होंने मेले में आये हुए विद्वान् ज्ञानियों और अध्यात्मवेत्ताओं के सत्संग से निर्विघ्नतापूर्वक भूरि-भूरि लाभ उठाया। जहाँ मेले में आये अन्य लोग खान-पान और शयन में सुख मानते थे, वहाँ वैराग्य के रंग में रंगे हुए, सच्ची लगन से प्रेरित, धुन के धनी शुद्धचैतन्यजी एक-एक महात्मा के आसन पर जाकर सिर झुकाते थे, इसलिए कि किसी से भवभय-भञ्जनी भगवती योगविद्या प्राप्त हो और अमर जीवन का मार्ग मिले।

उधर, उस वैरागी ने स्व-स्थान पर जाकर पत्र द्वारा उनके पिता को सूचित कर दिया कि तुम्हारे पुत्र ने गृह त्यागकर काषायवस्त्र धारण कर लिये हैं और अब वह सिद्धपुर के मेले में गया है। पुत्र का समाचार पाते ही उनके पिता चार सैनिकों को साथ लेकर सिद्धपुर जा पहुँचे और मेले में घूम-फिरकर अपने पुत्र को खोजने लगे। खोजते-खोजते उनके पिता एक दिन प्रात:काल उस शिवालय में जा पहुँचे जहाँ उनका पुत्र गेरुवे वस्त्र धारण किये बैठा था। पुत्र को इस वेश में देखकर उनकी क्रोधाग्नि भड़क उठी। उनकी आँखें लाल हो गईं। वे कड़ककर बोले—"तूने सदैव के लिए हमारे कुल को कलङ्कित कर दिया है।" आवेश में उन्होंने और भी बहुत कुछ ऊँचा-नीचा कहा। उस समय पिताजी की ताड़ना से त्राण पाने के लिए शुद्धचैतन्यजी ने अपने आसन से उठकर पिताजी के दोनों चरण पकड़ लिये और कहा—"मैंने गृह-त्याग कुछ धूर्तों के बहकाने से किया है। अपने इस कर्म का मैं पर्याप्त फल पा चुका हूँ। मैंने बहुत कष्ट उठाये हैं। आप मेरे अपराधों को क्षमा करें। मैं तो स्वयं ही घर लौटने की सोच रहा था। अब मैं आपके साथ घर चलने को उद्यत हूँ।"

पुत्र की इन बातों से न तो पिताजी की क्रोधाग्नि ही शान्त हुई और न वे निश्चिन्त ही हुए। उन्होंने उसके तूंबे को फोड़ दिया और गेरुवे कुर्ते की धज्जियाँ उड़ा दीं, साथ ही शतशः दुर्वचनों की वृष्टि भी करते गये। श्वेत वस्त्र पहनाकर वह उन्हें अपने ठहरने के स्थान पर ले-गये। वहाँ ले-जाकर भी बहुत कटु वचन कहे। उन्होंने कहा—"तेरी माता तेरे वियोग में रो-रोकर मर रही है और तू ऐसा कठोर-हृदय है कि मातृ-हत्या करना चाहता है।" पुत्र ने अति विनय से कहा कि अब आप निश्चिन्त हो जाइए। मैं आपके साथ चलकर माताजी का दर्शन करूँगा, परन्तु पिता निश्चिन्त नहीं हुए। उन्होंने पुत्र पर कड़ा पहरा लगा दिया और सैनिकों को आज्ञा दी कि इस निर्मोही को अकेला कहीं मत आने-जाने दो। रात-भर जागते हुए इसे अपनी दृष्टि में रखो।

शुद्धचैतन्यजी ने पिताजी को आश्वासन तो दे दिया, परन्तु उनका वैराग्य क्षणिक नहीं था। उन्हें सच्चे शिव के दर्शन और मृत्युञ्जय बनने की तीव्र उत्कण्ठा थी। वे पिता के चंगुल से निकल भागना चाहते थे। इसी उधेड़बुन में उन्हें रात्रि-भर निद्रा नहीं आती थी। पितृबन्धन में पड़े दो दिन और दो रात्रियाँ व्यतीत हो गईं। तीसरा दिन भी ज्यों-त्यों करके कटा। तीसरी रात्रि आ गई। उसके एक-एक पल को शुद्धचैतन्यजी आँखों में काट रहे थे। वे शैय्या पर लेटे हुए अवश्य थे, देखनेवालों को वे सोये हुए दिखाई देते थे, परन्तु वास्तव में वे जाग रहे थे। तीसरी रात का भी आधा भाग बीत गया। तीसरा प्रहर प्रारम्भ हुआ। दैवयोग से पहरेवाले ऊँघते-ऊँघते गाढ़ निद्रा में लीन हो गये। अवसर का लाभ उठा ब्रह्मचारीजी भाग खड़े हुए। हाँ, चलते समय हाथ में एक जलपात्र अवश्य ले-लिया कि यदि किसी ने पूछा तो—"लघुशंका करने जा रहा हूँ"—ऐसा कह दिया जाएगा। बिना रोक-टोक भागते हुए आप सिद्धपुर से आध कोस दूर एक उद्यान में जा पहुँचे। उद्यान में एक पुराना मन्दिर था। वटवृक्ष की शाखाओं के सहारे ब्रह्मचारीजी मन्दिर के शिखर पर छिपकर बैठ गये और सोचने लगे कि—'देखें अब क्या होता है?'

दूसरी ओर जब पहरेवालों और पिताजी को ब्रह्मचारीजी के भागने का पता चला तो वहाँ हलचल मच गई। उन्हें ढूँढने के लिए सैनिकों और पिताजी ने रात्रि में ही दौड़-धूप आरम्भ कर दी। खोजते हुए वे लोग उस उद्यान में भी पहुँचे जहाँ ब्रह्मचारीजी छिपे

बैठे थे। इन लोगों ने मन्दिर के बाहर-भीतर ढूँढा, मालियों से भी पूछ-ताछ की, परन्तु ब्रह्मचारीजी अदृष्ट ही रहे। अन्त में निराश होकर वे लोग उद्यान से बाहर हो गये। यह दृश्य रात्रि के चार बजे तक ब्रह्मचारीजी के सामने होता रहा, परन्तु वे ऐसे दुबके बैठे थे कि हिलना-डुलना, खाँसना-खखारना तो दूर रहा उन्होंने श्वास-प्रश्वास की गति को भी रोका हुआ था। सारा दिन उन्होंने घोर कष्ट में और बिना खाये-पिये व्यतीत किया। कुछ अन्धकार होने पर रात्रि के सात बजे वे मन्दिर की चोटी से नीचे उतरे और सड़क छोड़कर आगे चल पड़े। उस ग्राम से दो कोस के अन्तर पर जाकर उन्होंने एक ग्राम में विश्राम किया। प्रात:काल होने पर उस ग्राम से भी प्रस्थान कर गये। पिताजी कई दिन तक सिद्धपुर में रहे, परन्तु अन्त में निराश और हताश होकर लौट गये। यह शुद्धचैतन्यजी का अन्तिम पितृ-दर्शन और स्वजन-संसर्ग था।

ग्राम-ग्राम और नगर-नगर में विचरते हुए वे अहमदाबाद होकर बड़ौदा पहुँचे। वहाँ उन्होंने चैतन्यमठ में आसन जमाया। चैतन्यमठ अद्वैत शंकर-वेदान्त में निष्ठा रखनेवाले संन्यासियों एवं ब्रह्मचारियों का अच्छा केन्द्र था। वहाँ रहनेवाले ब्रह्मानन्दजी ब्रह्मचारी तथा अन्य संन्यासी लोग वेदान्त में बहुत घुटे हुए थे। उन्होंने वेदान्त की फक्किकाएँ सुना-सुनाकर इन्हें भी पक्का वेदान्ती बना दिया। उनके सत्संग में रहकर शुद्धचैतन्यजी भी '**अहं ब्रह्मास्मि**' का उद्घोष करने लगे, परन्तु शुद्धचैतन्यजी की ज्ञान-पिपासा अभी शान्त नहीं हुई थी, अत: जब उन्होंने वाराणसी की रहनेवाली एक बाई के मुख से यह सुना कि नर्मदा-तट पर बड़े-बड़े विद्वानों की एक सभा होनेवाली है, तब वे तुरन्त बड़ौदा से नर्मदा की ओर चल पड़े। वे वहाँ सच्चिदानन्द परमहंस के सम्पर्क में आये और उनसे ज्ञान-चर्चा करते रहे। सच्चिदानन्दजी के यह बताने पर कि आजकल नर्मदा के तट पर चाणोदकर्णाली में बड़े-बड़े विद्वान् ब्रह्मचारियों और संन्यासियों की एक मण्डली ठहरी हुई है, शुद्धचैतन्यजी चाणोदकर्णाली में जा विराजे। यहाँ उनका सम्पर्क चिदाश्रम आदि सच्चे विद्वान् संन्यासियों और अनेक सुयोग्य पण्डित ब्रह्मचारियों से हुआ जिनके साथ आप अनेक शास्त्रीय एवं पारमार्थिक विषयों पर वार्तालाप करके ज्ञानगोष्ठी का सुख अनुभव करते रहे। वहीं एक परमानन्द नामक परमहंस विराजमान थे। श्रीशुद्धचैतन्यजी ने उनके पास अध्ययन करना आरम्भ कर दिया। कई मास के अध्ययन से उन्होंने वेदान्तसार, आर्यहरिमीडे

तोटक, आर्यहरिहर तोटक और वेदान्त-परिभाषा आदि प्रमुख ग्रन्थ पढ़ लिये।

संन्यास-दीक्षा एवं परिव्रजन

शुद्धचैतन्यजी को जिस ब्रह्मचर्य-दीक्षा-पद्धति में दीक्षित किया गया था उसके अनुसार उन्हें अपने हाथ से ही भोजन बनाना पड़ता था। इस बखेड़े से उनके विद्याध्ययन में बाधा पड़ती थी। सांसारिक वासनाओं से तो वे पहले ही विमुक्त हो चुके थे, अतः उन्होंने संन्यासाश्रम में प्रविष्ट होने का निश्चय किया। संन्यास लेने में उन्होंने दो लाभ देखे—एक तो भोजन बनाने के बखेड़े से छुट्टी मिल जाएगी, दूसरे चतुर्थाश्रम में प्रवेश करने से नाम और आकृति आदि में परिवर्तन हो जाने पर कोई उन्हें पहचान भी न सकेगा। पिता आदि द्वारा पकड़े जाने का भय भी जाता रहेगा। इस प्रकार संन्यासाश्रम में प्रविष्ट होने का निश्चय कर उन्होंने अपने एक मित्र दक्षिणी पण्डित द्वारा स्वामी श्रीचिदाश्रमजी को कहलाया कि आप ब्रह्मचारी शुद्धचैतन्य को संन्यास में दीक्षित करने की कृपा करें, परन्तु उस संन्यासी-प्रवर ने यह कहकर कि ब्रह्मचारी अभी युवक है, अपनी असहमति प्रकट की।

श्रीचिदाश्रमजी के संन्यास न देने से शुद्धचैतन्यजी निराश एवं हताश नहीं हुए। वे विद्याध्ययन और योगसाधन में समय व्यतीत करते हुए किसी अन्य संन्यासी से संन्यास-दीक्षा ग्रहण करने की प्रतीक्षा करने लगे। सन्तों के सत्संग में, मुनियों के विमल मिलाप में, विद्याविनोद में, शास्त्र में, आत्मिक आराधन-चिन्तन और योगाभ्यास में शुद्धचैतन्यजी ने नर्मदा-तट पर डेढ़ वर्ष व्यतीत किया। इस समय वे अपनी आयु के चौबीस वर्ष पूर्ण कर चुके थे।

एक दिन श्रीशुद्धचैतन्यजी ने सुना कि चाणोद से डेढ़ कोस के अन्तर पर जंगल में एक दाक्षिणात्य दण्डी स्वामी पूर्णानन्दजी सरस्वती आकर विराजे हैं। वे बड़े विद्वान् और उत्तम संन्यासी हैं। उनके साथ एक ब्रह्मचारी भी है। यह सूचना पाकर शुद्धचैतन्यजी अपने मित्र दक्षिणी पण्डित को साथ लेकर प्रशंसित दण्डी स्वामी की सेवा में उपस्थित हुए और अभिवादन करने के पश्चात् उनके समीप बैठकर वार्तालाप करना आरम्भ कर दिया। ब्रह्मविद्या-सम्बन्धी अनेक विषयों पर बातचीत होती रही। अन्त में शुद्धचैतन्यजी को निश्चय हो गया कि दण्डीजी महाराज और उनके साथी ब्रह्मचारी दोनों ही ब्रह्मविद्या

में निपुण हैं। शुद्धचैतन्यजी के हृदय में उनसे संन्यास ग्रहण करने की उत्कट इच्छा उत्पन्न हुई। शुद्धचैतन्यजी के संकेत पर उनके मित्र दक्षिणी पण्डित ने दण्डीजी के समक्ष शुद्धचैतन्य को संन्यासाश्रम में दीक्षित करने का निवेदन करते हुए कहा—"दण्डीजी महाराज! यह ब्रह्मचारी शुद्धचैतन्य अति सुशील और विनीत है। ब्रह्मविद्या पढ़ने के लिए अतीव उत्कण्ठित है, परन्तु भोजन बनाने के बखेड़े में ही इसका बहुत-सा समय व्यर्थ हो जाता है, जिससे इसके विद्याध्ययन में बाधा आती है, अत: इसकी कामना के अनुसार आप इसे संन्यास दे दीजिए।" दण्डीजी ने भी शुद्धचैतन्य की भरपूर यौवनावस्था देखकर पहले तो दीक्षा देना अस्वीकार कर दिया, परन्तु दक्षिणी पण्डित के बहुत आग्रह करने पर वे शुद्धचैतन्यजी को संन्यास की दीक्षा देने के लिए सहमत हो गये।

दो दिन तक व्रत, उपवास, जपादि अनुष्ठान कराकर तीसरे दिन दण्डी स्वामी पूर्णानन्दजी ने शुद्धचैतन्य को संन्यास में दीक्षित किया। उनके हाथ में दण्ड और कमण्डलु देकर उनका नाम दयानन्द सरस्वती घोषित किया। विनयावनत शिष्य को दण्डीजी ने संन्यासियों के धर्म बताये, संन्यास की रीति-नीति का उपदेश दिया, आश्रम-मर्यादा, विद्योपार्जन और जप-तप आदि करने की शिक्षा दी। दयानन्दजी कई दिन तक गुरु-चरणों में बैठकर ब्रह्मविद्या के ग्रन्थ पढ़ते रहे, उन्होंने गुरु की अनुमति और अपनी इच्छा के अनुसार दण्ड का विसर्जन कर दिया, क्योंकि उससे सम्बन्धित कर्मकाण्ड के कारण उनके अध्ययन में बाधा पड़ती थी। कुछ दिनों के पश्चात् गुरुजी तो द्वारका चले गये, परन्तु दयानन्दजी चाणोदकर्णाली में ही टिके रहे।

स्वामी दयानन्दजी को योगाभ्यास और विद्या-प्राप्ति की उत्कट अभिलाषा थी। वे जहाँ भी किसी योगी अथवा विद्वान् का पता पाते, वहीं पहुँच जाते। चाणोद के पास ही व्यासाश्रम में उन्हें महात्मा योगानन्द का पता लगा तो वहाँ जाकर उनसे योग की क्रियाएँ सीखने लगे। जब उन्होंने सुना कि छिन्नाड़े में कृष्णशास्त्री नामक एक धुरन्धर वैय्याकरण रहते हैं तब वे व्याकरण-अध्ययन की लालसा से उस ग्राम में जा पहुँचे। कुछ समय तक उनसे व्याकरण पढ़कर वे पुन: चाणोदकर्णाली में आ विराजे और वहाँ एक राजगुरु से वेदाध्ययन करने लगे।

इस बार चाणोदकर्णाली में स्वामी दयानन्दजी का सम्पर्क दो

अच्छे योगियों से हुआ। उनमें से एक का नाम था ज्वालानन्दपुरी और दूसरे का नाम था शिवानन्द गिरि। वे दोनों ही प्रसन्नचित्त, शान्तात्मा और योगी थे। स्वामी दयानन्द भी अपना अहोभाग्य मानकर लगे उनके मंगल-मिलाप का आनन्द लूटने। योगी महात्माओं ने भी जान लिया कि यह जिज्ञासु आत्म-पिपासु है, अतः उन्होंने दयानन्दजी को अपने साथ मिलाकर योगाभ्यास आरम्भ कराया। अभ्यास के पश्चात् तीनों मिलकर योगशास्त्र की चर्चा किया करते थे। कुछ समय पश्चात् ये दोनों योगी अहमदाबाद चले गये और दयानन्दजी को आदेश दे गये कि एक मास पश्चात् हमारे पास आना। उस समय हम आपको योगसाधन के सम्पूर्ण गूढ़ तत्त्व क्रियाओं-सहित भली-भाँति समझा देंगे। वहाँ हमारा आसन नदी के किनारे दुग्धेश्वर महादेव के मन्दिर में होगा।

दयानन्दजी महाराज चाणोद में रहकर एक मास तक जप, तप, क्रियानुष्ठान करते रहे, फिर उन महात्माओं के आदेशानुसार अहमदाबाद चले गये। दुग्धेश्वर के मन्दिर में जाकर उनके दर्शनों से कृतार्थ हुए। उन योगियों ने भी अपनी प्रतिज्ञा पूरी की। उन्होंने योग के भेद और रहस्य बताकर योग के तत्त्वों और अमूल्य रत्नों से दयानन्दजी को आकण्ठ भर दिया। इन दोनों योगियों को स्वामीजी ने अपनी श्रद्धाञ्जलि इन शब्दों में अर्पित की है—

"वहाँ उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की और अपने कथनानुसार मुझे निहाल कर दिया। इन्हीं महात्माओं के प्रभाव से मुझे क्रिया-समेत पूर्ण योग-विद्या भली-भाँति विदित हो गई, इसलिए मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। वास्तव में उन्होंने मुझपर महान् उपकार किया। इस कारण मैं उनका विशेषरूप से अनुगृहीत हूँ।"

चिरकाल तक योगिजनों के सत्संग से कृतकृत्य होकर श्रीस्वामीजी ने आबूपर्वत की यात्रा के लिए प्रस्थान किया। उन्होंने सुना था कि आबू पर बहुत-से योगिजन रहते हैं, इस कारण इस पर्वत पर आकर वे महात्माओं से मिलने का प्रयत्न करने लगे। यहाँ उन्हें कई ऐसे योगी मिले जो पूर्वोक्त दो योगियों से भी आगे बढ़े हुए थे। इनसे भी स्वामीजी ने विशेष योग-तत्त्वों की प्राप्ति की।

इस प्रकार सात-आठ वर्ष तक भिन्न-भिन्न स्थानों का पर्यटन करते हुए महात्माओं के मिलाप से, विद्वानों के सम्पर्क से, अभ्यासियों के मेल-जोल से और योगी-सन्तों के शुभ सत्संग से आत्मिक

उन्नति करते हुए स्वामीजी महाराज वैशाख संवत् १९१२ में होनेवाले कुम्भ के महामेले पर हरद्वार पधारे। उनके यहाँ आने का प्रयोजन यह था कि कुम्भ पर बहुत-से योगिजन गुप्तरूप में आकर रहते हैं, उनसे मिलकर ज्ञान-चर्चा करेंगे। कुम्भ के सम्बन्ध में ऋषिवर ने लिखा है—"मैंने हरद्वार का वह पहला ही कुम्भ देखा था। मैंने यह कभी कल्पना भी नहीं की थी कि कुम्भ के मेले में इतने त्यागी और तत्त्वदर्शी पुरुष आएँगे।" स्वामीजी ने यहाँ इन योगियों का सत्संग किया। साथ ही वे चण्डी के पहाड़ पर उन क्रियाओं को क्रियात्मकरूप भी देते जाते थे।

मेले के पश्चात् दयानन्दजी ने ऋषीकेश की यात्रा की। वहाँ उच्चतर महात्मा संन्यासियों के समीप रहकर योग-साधन की रीतियाँ सीखीं, विमल-चित्त और विशुद्धात्माओं का सत्संग-लाभ किया। उष्णता बढ़ जाने पर सन्त लोग गङ्गा के ऊपरी भागों में चले जाते थे, परन्तु स्वामीजी बहुत दिनों तक अकेले ही ऋषीकेश में विराजते रहे।

एक दिन यहाँ उन्हें एक ब्रह्मचारी और दो पहाड़ी साधु मिले। परस्पर अधिक परिचय हो जाने से स्वामीजी उनके साथ टिहरी की यात्रा में प्रवृत्त हुए। टिहरी नगर के बाहर उन्होंने किसी स्वच्छ स्थान में आसन लगाया। यह नगर उस समय विद्यावृद्ध साधुजनों के निवास और बहुत-से सुपठित राज-पण्डितों के कारण प्रसिद्ध था। एक दिन का वर्णन है कि एक राज-पण्डित ने स्वामीजी के आसन पर आकर उन्हें अपने गृह पर भोजन पाने के लिए सादर निमन्त्रित किया। नियत समय पर उनको लिवा लाने के लिए एक पुरुष भी आया। स्वामी दयानन्दजी और उनका साथी ब्रह्मचारी दोनों निमन्त्रणदाता गृहस्थ के गृह पर गये। गृह-द्वार से आगे बढ़ते ही स्वामीजी को अत्यन्त घृणा आई, क्योंकि उन्होंने देखा कि एक पण्डित मांस काट-काट कर पका रहा है। कुछ अधिक आगे जाने पर उन्होंने देखा कि मांस और अस्थियों के ढेर और पशुओं के भुने हुए सिरों पर कई पण्डित छुरी आदि से कार्य कर रहे हैं। इस सारे तान्त्रिक दृश्य को देख स्वामीजी घृणा से व्याकुल और आश्चर्य से चकित हो गये। इतने में उन्हें आते देख गृहपति सम्मानपूर्वक स्वागत के लिए सम्मुख आया। उसने आदर से कहा, "कृपया बिना संकोच भीतर चले आइए", परन्तु स्वामीजी को तो घृणा के कारण वहाँ एक

क्षण ठहरना भी भारी प्रतीत हो रहा था, इसलिए यह कहकर—"आप अपना काम करते जाइए, मेरे लिए कुछ कष्ट न कीजिए", वे झट वहाँ से लौट पड़े और अपने स्थान पर आकर विश्राम लिया। थोड़े समय के अनन्तर वह गृहपति स्वामीजी के पास फिर आया और उनके लौट आने पर दु:ख प्रदर्शित करता हुआ बोला—"कृपया चलिए, गृह पर भोजन पाइए। न जाने आप क्यों पीछे लौट आये हैं। हमने तो आपके निमित्त मांसादि उत्तमोत्तम भोजन प्रस्तुत किये हैं।" स्वामीजी ने स्पष्ट कह दिया—"यह सब वृथा और निष्फल है, क्योंकि आप मांस-भक्षी हैं। मांस का खाना तो दूर रहा, मैं तो उसके देखने से रोगी हो जाता हूँ। मेरे योग्य तो केवल फलादि हैं। यदि आप मेरा न्योता करना ही चाहते हैं तो कुछ अन्न और फल आदि वस्तु भिजवा दीजिए। मेरा ब्रह्मचारी यहीं पर भोजन बना लेगा।" यह सुनकर वह पण्डित अपने किये पर लज्जित हुआ और घर जाकर उसने स्वामीजी द्वारा निर्दिष्ट अन्न, फलादि पदार्थ उनके स्थान पर पहुँचा दिये।

स्वामीजी महाराज कई दिनों तक टिहरी में रहे। यहीं उन्होंने तन्त्र-ग्रन्थों का अध्ययन किया। टिहरी से प्रस्थान कर स्वामीजी ने श्रीनगर में पधारकर केदारघाट पर एक मन्दिर में आसन लगाया। श्रीनगर के समीप एक वनावृत पहाड़ी पर गङ्गागिरि नामक एक अच्छे विद्वान् महात्मा निवास करते थे। वे महात्मा दिन के समय कभी उस पहाड़ी से नीचे नहीं उतरते थे। स्वामीजी का उस एकान्तवासी शान्तात्मा के साथ मिलाप हो गया। प्रतिदिन के वार्तालाप से दोनों मित्र हो गये। वे नित्यप्रति मिलकर योगादि उत्तम-उत्तम विषयों की चर्चा में समय बिताते। स्वामीजी को उन एकान्तसेवी महात्मा की संगति ऐसी अच्छी लगी कि वह दो मास से भी अधिक उनके साथ रहे।

उत्तराखण्ड की यात्रा

ग्रीष्म-ऋतु के आरम्भ में गङ्गागिरि से विदा होकर स्वामीजी अपने एक ब्रह्मचारी और दो पहाड़ी साधुओंसहित केदारघाट से चलकर रुद्रप्रयाग, आदि स्थानों में घूमते हुए शिवपुरी आदि गये। शरद्-ऋतु के चार मास उन्होंने शिवपुरी में ही व्यतीत किये। शिवपुरी से पीछे लौटते समय स्वामीजी ने साथियों के संग को भी एक प्रकार का खटका ही समझा, अत: उनसे पृथक् होकर पुन: केदारघाट आ

गये। वहाँ से चलकर कुछ समय तक गुप्तकाशी में रहे। गुप्तकाशी से गौरी-कुण्ड, भीम-गुफा और त्रियुगी-नारायण होते हुए थोड़े ही दिनों में तीसरी बार केदारघाट में आ विराजे। गङ्गागिरिजी के सत्संग-सुख के कारण केदारघाट का वास उन्हें अतिप्रिय था। कुछ समय यहाँ रहकर दयानन्दजी के मन में हिममण्डित हिमालय की पर्वतमालाओं में भ्रमण करने और वहाँ रहनेवाले सिद्ध योगियों की खोज करने की उमंग पैदा हुई। बस, फिर क्या था, भयङ्कर शीत और विषम पर्वतों की यात्रा की कठिनाइयों की परवाह किये बिना वे हिमशैल-शिखरों की कन्दराओं में सुने जानेवाले सिद्ध योगियों की खोज में चल पड़े। तीनों सहचर तो शीताधिक्य के कारण आगे न बढ़ सके, परन्तु सहिष्णु दयानन्द अकेले ही आगे बढ़ते गये। बीस दिन तक हिमाच्छादन से श्वेत, आकाश स्पर्शी, अति तुंग और अति शीतल शैल-शिखरों के ऊपर-नीचे, इधर-उधर घूमकर लौट आये, परन्तु उन्हें किसी महात्मा अथवा सिद्ध योगी के दर्शन नहीं हुए।

इसके पश्चात् स्वामीजी ने तुंगनाथ की चोटी पर चढ़ना आरम्भ किया। वहाँ मन्दिर में मूर्त्तियों और पुजारियों का जमघट देख वह उसी दिन नीचे उतर आये। नीचे उतरते हुए उन्हें दो मार्ग दीख पड़े। स्वामीजी उस पथ के पथिक बने जो सघन अरण्य को जाता था। थोड़ी दूर जाने पर वे एक ऐसे विकट वन में पहुँचे जो बड़ी-बड़ी शिलाओं और छोटे-छोटे अनगिणत पत्थरों से आकीर्ण था। वहाँ के नाले जलहीन और भयावने हो रहे थे। आगे बढ़ने के लिए मार्ग का चिह्न तक दिखाई न देता था। स्वामीजी महाराज वृक्षसमूह से घनीभूत वन में घिर गये। सघन वृक्षों ने सूर्य के प्रकाश को रोका हुआ था, अत: वहाँ दिन में ही रात्रि प्रतीत होती थी। वापस लौटने के लिए ऊपर दृष्टि डाली तो जो मार्ग उतरते समय ढलान के कारण सुगम जान पड़ता था वही अब एक सीधी रेखा के समान खड़ा दिखाई देता था। इस कारण ऊपर न चढ़ सावधानी से वृक्षों की शाखा-प्रशाखाओं और गुल्म-लताओं को पकड़कर नीचे उतरते हुए वे एक नाले के तट पर आ पहुँचे। वहाँ ऊपर की ओर उठी हुई एक शिला पर आरूढ़ होकर उन्होंने चारों ओर दृष्टि डाली तो उन्हें पर्वतों की अगम्य चोटियों और जटिल जंगल के सिवा कुछ भी दिखाई नहीं पड़ा। उस समय भुवन-भास्कर भी अस्त हुआ ही चाहता था। ऐसे कठिन समय में कभी-कभी स्वामीजी सोचते—'ऐसे सुनसान निर्जन

वन में, जहाँ पीने को पानी नहीं, रात्रि के भयङ्कर शीत से रक्षा के लिए अग्नि जलाने का कोई साधन नहीं, मेरी क्या दशा होगी ?' अन्त में वे वीरता से आगे बढ़े, परन्तु उस विकट वन में उन्हें ऐसे स्थानों से होकर निकलना पड़ा जहाँ कण्टकाकीर्ण झाड़ियों में उलझकर उनके वस्त्र खण्ड-खण्ड हो गये। नुकीले पत्थरों की ठोकरों और काँटों के चुभने से उनके पाँव लङ्गड़े और शरीर लहूलुहान हो गया और अन्ततः दुःख और कष्ट सहते हुए उस गहन वन को पार कर वे तुंगनाथ पर्वत की तलहटी में आ पहुँचे। वहाँ आकर उन्होंने देखा कि अब वे साधारण मार्ग पर गमन कर रहे हैं। उस समय चहुँ ओर निस्तब्ध, नीरव रजनी का साम्राज्य था। सर्वत्र अन्धकार छा रहा था, अतः स्वामीजी बड़ी सावधानी से मार्ग टटोल-टटोलकर चल रहे थे। अन्त में वे एक ऐसे स्थान पर जा पहुँचे जहाँ कतिपय पर्णकुटियाँ दीख पड़ीं। पूछने पर पता लगा कि वह मार्ग ओखीमठ को जाता है। महाराज आगे चल पड़े और बड़ी रात बीते ओखीमठ में पहुँचे। प्रभात होने तक वे सुखपूर्वक वहाँ सोये।

ओखीमठ के महन्त का प्रलोभन

प्रातः उठते ही शरीर के कष्ट-क्लेश की परवाह न कर आगे चल पड़े। अभी थोड़ी ही दूर गये थे कि उनके हृदय में मठ को देखने की उत्सुकता जाग्रत् हो गई। वे वापस मठ में लौट आये। स्वामीजी ने देखा कि मन्दिर में ऐसे साधुओं की भरमार थी जो प्रायः पाखण्ड-परायण थे। वे सभी ज्ञान और वैराग्य से शून्य थे। मठ की सम्पत्ति विशाल थी। मठाधीशों का जीवन ठाठ-बाट और आडम्बर में बीत रहा था। कुछ दिन वहाँ ठहरकर स्वामीजी ने उनके जीवन का निरीक्षण और परीक्षण किया। ओखीमठ का प्रमुख महन्त दयानन्द के ब्रह्मचर्य की दीप्ति, ज्ञान और गुणों पर मोहित हो गया। एक दिन उसने दयानन्द से अपना शिष्य बन जाने का अनुरोध किया और प्रलोभन देते हुए कहा—"दयानन्द! घुमक्कड़ों की भाँति घूमने से क्या मिलेगा ? हमारे शिष्य बनकर गद्दी के स्वामी और लाखों रुपये की सम्पत्ति के अधिकारी बनो। तुम महन्त कहलाओगे और तुम्हारी मान-प्रतिष्ठा का भी पार न रहेगा।"

स्वामीजी महाराज कच्चे धागे के बने न थे। वे घर से सब-कुछ सोचकर चले थे। उनकी आत्मा योगाग्नि से प्रदीप्त थी। उन्हें सत्यासत्य का विवेक था, अतः उस ऐश्वर्य को ठुकराते हुए दयानन्द ने कहा—

''महन्तजी! जिस वैभव पर आपको अभिमान है, मेरे पिता की सम्पत्ति आपकी पूजा-पाठ के पाखण्ड से एकत्र की गई सम्पत्ति से कई गुणा अधिक है। जब मैं उसे भी काष्ठ-लोष्ठ के समान त्याग आया हूँ, तब आपके धन-धान्य की ओर कब ध्यान कर सकता हूँ? जिस उद्देश्य से प्रेरित होकर मैंने सकल सांसारिक सुखों से मुख मोड़ा और ऐश्वर्यपूर्ण पितृ-गृह को सदा के लिए छोड़ा है, मैं देखता हूँ उस उद्देश्य पर न तुम चलते हो और न उसका तुम लोगों को कुछ ज्ञान ही है। इस अवस्था में शिष्य बनना तो दूर, मेरा तुम्हारे पास रहना भी असम्भव है।'' महन्त ने पूछा—''आपका उद्देश्य क्या है? किस वस्तु की जिज्ञासा में मग्न तुम इतने कष्ट-क्लेश उठा रहे हो?'' स्वामीजी ने उत्तर दिया—''मैं सत्यविद्या और मोक्ष चाहता हूँ।'' वह महन्त उनके महात्याग और उच्च उद्देश्य को सुनकर प्रसन्न हो उठा और कुछ दिन तक अपने यहाँ ही ठहरने का आग्रह करने लगा। स्वामीजी बहुत वार्तालाप में कुछ सार न देख उस समय तो मौन रहे, परन्तु अगले दिन प्रातःकाल उठकर जोशीमठ की ओर चले गये।

जोशीमठ में बहुत-से सच्चे महाराष्ट्र-संन्यासी निवास करते थे। स्वामीजी ने भी उन्हीं के समीप अपना निवास नियत किया। वहाँ उन्हें कई योगिजन सत्संग के लिए मिल गये। स्वामीजी ने उनसे कई नवीन भेद भी प्राप्त किये और साथ ही विद्वान् साधु-सन्तों से परमार्थ-विषयक वार्तालाप करते रहे। जोशीमठ से प्रस्थान कर स्वामीजी बद्रीनारायण पहुँचे। वहाँ के मुख्य महन्त उस समय रावलजी थे। स्वामीजी ने उनके निकट कई दिन निवास किया। कभी-कभी रावलजी के साथ स्वामीजी का वेदों और दर्शनों पर बड़ा वाद-विवाद छिड़ जाया करता था। एक दिन स्वामीजी ने रावलजी से पूछा—''क्या आस-पास के पर्वतों में कोई सच्चा योगी भी निवास करता है?'' रावलजी ने अति खेद के साथ कहा कि इन दिनों इधर कोई ऐसा योगी नहीं है, परन्तु मैंने सुना है कि इस मन्दिर के दर्शनार्थ प्रायः योगिजन आया करते हैं।

अलखनन्दा के तट पर

रावलजी की बात सुनकर स्वामीजी ने दृढ़-सङ्कल्प कर लिया कि इस समस्त प्रान्त में और विशेषतः पर्वतीय प्रदेशों में सर्वत्र भ्रमण करके ऐसे महापुरुषों का अन्वेषण अवश्य करेंगे। एक दिन सूर्योदय

होते ही वे बद्रीनारायण से चल पड़े और पर्वत की तलहटी के साथ-साथ चलते हुए अलखनन्दा नदी के तट पर जा पहुँचे। वहाँ पर्वत की ऊँची-ऊँची चोटियाँ, सघन हिममयी श्वेत चादर ओढ़े स्फटिक की भाँति ऐसी चमक रही थीं कि देखकर आँखों में चकाचौंध होता था। अलखनन्दा का जल उसके बहाव में पड़ी हुई शिलाओं से टकराकर उछलता था, फेन फेंकता था, गर्जता और चीत्कार करता हुआ बड़े वेग से नीचे की ओर दौड़ा चला जा रहा था। इस प्रकार स्वामीजी महाराज अपने चारों ओर प्रकृति के स्वाभाविक सौंदर्य को निहारते हुए नदी के स्रोत की ओर बढ़ने लगे। मार्ग बड़ा बीहड़ और विषम था। अति कष्ट उठाकर बड़ी कठिनता से वे अन्त को नदी के स्रोत पर जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने सोचा कि मैं इन स्थानों से सर्वथा अपरिचित हूँ, हिमाच्छादित नालों से निकलनेवाले मार्गों से और पर्वतमालाओं के भेदों से अनजान हूँ। उन्हें वहाँ सब ओर गगनभेदी शिखर ही दिखाई दिये और आगे चलने के मार्ग का सर्वथा अभाव ही जान पड़ा। इस अवस्था में थोड़ी देर के लिए वे किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये। अन्त में मार्ग-अन्वेषण के निमित्त उन्होंने अलखनन्दा पार करने का निश्चय किया।

स्वामीजी के शरीर पर वस्त्र बहुत ही थोड़े थे, इसलिए हिममय प्रदेश का अति शीतल पवन तन को तीर की तरह आर-पार करने लगा। क्षण-क्षण में बढ़ते हुए शीत का सहन करना एक बार तो उन्हें असम्भव-सा जान पड़ा। प्यास के कारण मुख सूख रहा था; होठ शुष्क हो रहे थे। कण्ठ में काँटे पड़ गये थे और क्षुधा ने भी घोर रूप धारण कर रखा था। इन दोनों बाधाओं से बचने के लिए स्वामीजी ने हिम का टुकड़ा लेकर चबाया, परन्तु उसने कुछ भी सहारा न दिया। उदर की आग उससे शान्त न हुई। तब वे नदी पार करने में साहस से प्रवृत्त हुए। उस जगह अलखनन्दा कहीं तो बहुत गम्भीर और कहीं एक-दो हाथ गहरी थी। उसका पाट आठ-दस हाथ का था। वह हिम के छोटे-छोटे, तिरछे और नुकीले टुकड़ों से भरी हुई थी। नदी को चीरकर पार करते समय ये नुकीले हिमखण्ड श्री स्वामीजी महाराज के नंगे पाँवों पर बार-बार आघात करते थे। इससे उनके पैरों के तलुवे छिल गये, अंगुलियों में घाव हो गये और स्थान-स्थान से रक्त बहने लगा, परन्तु अति शीतलता के कारण उनके पाँव ऐसे सुन्न हो गये थे कि कितने ही काल तक उन्हें इन बड़े-बड़े घावों का

भान ही न हुआ। इस समय भूमि, आकाश और पवन सभी शीतल हो रहे थे। इन सबने स्वामी-शरीर की स्वाभाविक ऊष्मा को अभिभूत कर लिया था; महाराज की काया पर शून्यता छाई जा रही थी। उनके हृदय पर अचेतनता धीरे-धीरे बढ़ रही थी। यहाँ तक कि वे शून्य अवस्था में मूर्च्छा खाकर हिममय जल में गिरने को ही थे कि उनके अन्त:करण में चैतन्य की रेखा चमक उठी और वे सँभल गये। अपने-आपको थामकर महाराज ने विचारा कि यदि एक बार मैं यहाँ गिर गया तो फिर न उठ सकूँगा; यहीं सुन्न होकर नदी में समा जाऊँगा।

वे साहस से सावधान होकर बड़े बल के साथ उस नदी से बाहर निकले और दूसरे तट पर जा पहुँचे। वहाँ पहुँचकर भी उनकी अवस्था कुछ कालपर्यन्त मृततुल्य बनी रही, परन्तु तो भी साहस का अवलम्बन कर उन्होंने अपने तन के ऊपरी भाग के सारे वस्त्र उतारकर उनसे पाँव से लेकर घुटनों तक का सारा भाग लपेट लिया। उस समय वे चलने में अशक्त, हिलने-डुलने में असमर्थ और व्याकुल-चित्त थे। खड़े-खड़े इस बात की प्रतीक्षा करते थे कि कोई सहायता मिल जाए तो इस संकट-समाकुल स्थान से निकलकर कहीं आगे चलूँ। ऐसे सुनसान शीतप्रधान प्रदेश में कोई मनुष्य मिल जाएगा, यह आशा भी नहीं बँधती थी। वे उस स्थान में नि:सन्देह विवश थे, निस्सहाय थे, अजान थे, निराश थे, परन्तु उत्साहहीन नहीं थे, इसलिए विकसित लोचनों की ज्योति को चारों ओर फैला रहे थे। जैसे घटाटोप से घिरी हुई अमावास्या की महाकालरात्रि में अकस्मात् बिजली की रेखा दौड़ जाए, ठीक वैसे ही स्वामीजी को दो पहाड़ी पुरुष सामने से आते दिखाई दिये। उन आगन्तुक भद्रजनों ने एक परमहंस को दु:खाकुल दशा में पड़ा देख पहले तो नमस्कार किया और फिर समादरपूर्वक निवेदन किया कि महाराज! आइए, हमारे सङ्ग हमारे घर चलिए। आप शीत से ताड़ित और भूख-प्यास से व्यथित हैं। हमारे गृह पर आपको पूर्ण सुख और पुष्कल भोजन मिल जाएगा। स्वामीजी की क्लेश-कहानी को सुनकर उन पहाड़ियों ने कहा कि आप चिन्ता न करें; हम आपको 'सिद्धपत' तीर्थ-स्थान तक भी पहुँचा देंगे। स्वामीजी चलने में असमर्थ थे, इसलिए उन्होंने उनका कथन स्वीकार नहीं किया और कहा, "महाराज! खेद है मैं आपकी यह कृपापूर्ण सहायता स्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि

मुझमें चलने की किञ्चित् भी शक्ति नहीं है।'' उन भद्र गृहस्थों ने फिर भी भक्तिभाव से आग्रह और अनुरोध किया कि हमारे साथ अवश्य पधारिए, परन्तु स्वामीजी यह कहकर कि 'इस समय मैं हिलने-डुलने की अपेक्षा यहाँ मर जाना ही उत्तम समझता हूँ', मौन हो गये; फिर उनके कथन पर उन्होंने कर्णपात नहीं किया। अन्त को वे पहाड़ी मनुष्य अति खेद के साथ वहाँ से चल पड़े और किञ्चित् काल ही में पर्वत के टीलों और उतराई की ओट में स्वामीजी की दृष्टि से ओझल हो गये।*

कुछ काल तक वहीं विश्राम लेने से स्वामीजी का शरीर स्वस्थ और उनका चित्त शान्त हो गया। उसी समय चलकर वे 'वसुधारा' तीर्थ-स्थान पर जा पहुँचे। वहाँ थोड़ी देर विश्राम लेने के अनन्तर फिर चल पड़े और 'मग्रम' के समीपवर्ती प्रदेशों से होते हुए रात के आठ बजे बद्रीनारायण में जा विराजे। उनकी देह की दशा को देखकर रावलजी तथा उनके संगी-साथी सब घबरा गये। विस्मित होकर उन्होंने पूछा—''आप आज सारा दिन कहाँ रहे? आपकी अवस्था ऐसी क्यों हो रही है?'' उस समय स्वामीजी ने उन्हें अपनी सिद्धों के दर्शनार्थ की गई संकट-संकुल यात्रा आद्योपान्त कह सुनाई। रावलजी आदि ने स्वामीजी को कुछ भोज्य पदार्थ दिये। उनको खाते हुए उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा कि अशक्त शरीर में अब शक्ति का संचार हो रहा है, निकला हुआ सामर्थ्य फिर प्रवेश कर रहा है। स्वामीजी फिर सुखपूर्वक रात-भर सोते रहे। दूसरे दिन सवेरे ही शीघ्र उठकर रावलजी से प्रस्थान के निमित्त आज्ञा माँगी। सम्मानपूर्वक एक-दूसरे से मिलकर स्वामीजी महाराज ने वहाँ से प्रस्थान किया।

उत्तराखण्ड की यात्रा से लौटते हुए स्वामीजी महाराज रामपुर और काशीपुर होते हुए द्रोणसागर में आये और सारी शरद्-ऋतु यहीं व्यतीत की। द्रोणसागर में निवास करते हुए एक दिन स्वामीजी के

---

* स्वामीजी का जीवन सर्वप्रथम 'थियोसोफिस्ट' पत्र में छपा था। उसके सम्पादक ने यहाँ अपनी टिप्पणी में लिखा था—इस स्थान पर स्वामीजी अपनी यात्रा की घटनाओं में से एक अतीव मनोरञ्जक घटना को छोड़ जाते हैं, क्योंकि वे उस पुरुष को अथवा उसके नाम को बताना नहीं चाहते जिसने उन्हें इस संकट से बचाया था। उसे वे अपने मित्रों को बता देते हैं, परन्तु पत्र में प्रकाशित करना नहीं चाहते।

सम्पादक महोदय का अनुमान है कि इस संकटमय अवस्था से स्वामीजी की प्राण-रक्षा किसी महात्मा ने की थी।

मन में यह विचार उठा कि हिमालय के हिममय भाग में जाकर देह त्याग देना चाहिए, परन्तु दूसरे ही क्षण उन्हें विचार आया कि पूर्ण ज्ञानी बनकर ही शरीर त्यागना चाहिए, अतः स्वामीजी पर्वतीय प्रदेशों को छोड़कर समभूमि पर विचरते हुए किसी ज्ञानी गुरु की खोज में अग्रसर हुए।

शव-परीक्षा

द्रोणसागर से स्वामीजी मुरादाबाद आये। वहाँ से सम्भल, गढ़मुक्तेश्वर होते हुए गङ्गा-तट पर आ पहुँचे। उस समय उनके पास कई धर्म-पुस्तकों के अतिरिक्त शिव-सन्ध्या, हठयोग-प्रदीपिका, योगबीज और केशराणी-संगति नामक पुस्तकें भी थीं। उनमें से कई पुस्तकों में नाड़ीचक्र का बड़ा विस्तृत वर्णन था। यह श्रान्त करनेवाला विषय न तो कभी पूर्ण रीति से स्वामीजी की बुद्धि में समाया और न ही वे उसे ध्यानपूर्वक स्मरण ही कर सके। उसकी सत्यता में उन्हें सदैव सन्देह रहा करता था। यहाँ तक कि उन्होंने साधारण साधनों से उस संशय को निवारण करने का यत्न भी किया, परन्तु यह संशय निवृत्त होने के स्थान पर दिनोंदिन बढ़ता ही गया। गङ्गा-तट पर विचरते हुए दैवयोग से एक दिन उन्होंने जल में एक शव बहता देखा। शव को देखते ही वे मन-ही-मन विचारने लगे कि नाड़ीचक्र के विषय में जो संशय सदा बना रहता है आज इस शव द्वारा परीक्षा करके उसे मिटा लेना चाहिए। मन में यह भाव आते ही उन्होंने पुस्तकों को नदी-तट पर रख दिया, वस्त्र सँभालकर गङ्गा-प्रवाह में कूद पड़े और तुरन्त ही बहते हुए शव को पकड़कर किनारे पर ले-आये। अपने उपकरणों में से एक तीक्ष्ण चाकू निकालकर लगे शव को चीरने। सावधानी से चीरकर प्रथम हृदय निकाला। उसकी आकृति को, स्वरूप को और लम्बाई-चौड़ाई को पुस्तक-लिखित वर्णन के साथ देर तक मिलाते रहे। इसी प्रकार सिर, ग्रीवा आदि अंगों की भी तुलना की। नाभि आदि चक्रों का भी परीक्षण किया, परन्तु उन पुस्तकों में वर्णित चक्रों और अंगों को उन्होंने वास्तविक चक्रों और अंगों से लेशमात्र भी मेल खाते न देखा। उस परीक्षण से स्वामीजी को पूर्ण निश्चय हो गया कि इन पुस्तकों के ऐसे सब लेख काल्पनिक हैं। इससे उन्होंने उन पुस्तकों को तुरन्त ही फाड़कर खण्ड-खण्ड कर डाला और शव के साथ ही गङ्गा के प्रवाह में बहा दिया। उसी समय से विचारते हुए वे इस परिणाम पर पहुँचे कि वेदों, उपनिषदों,

पातञ्जल और सांख्यशास्त्र के अतिरिक्त शेष समस्त पुस्तकें, जो विज्ञान और योग पर लिखी गई हैं, मिथ्या और अशुद्ध हैं।

गङ्गा के साथ-साथ विचरण करते हुए संवत् १९१२ की समाप्ति पर स्वामीजी फर्रुखाबाद पहुँचे। वहाँ से कानपुर की ओर प्रस्थान किया। संवत् १९१३ में पाँच मास तक स्वामीजी कानपुर और प्रयाग के मध्यवर्ती स्थानों में विचरते रहे। आश्विन मास के आरम्भ में वे काशी पहुँचे। काशी से स्वामीजी चण्डालगढ़[1] पहुँचे। वहाँ दुर्गा-कुण्ड के मन्दिर में दस दिन तक रहे। वहाँ चावल खाना सर्वथा छोड़ दिया। केवल दूध पर ही निर्वाह करके रात-दिन योग-विद्या के अध्ययन और अभ्यास में लीन रहते थे।

नर्मदा के स्रोत का अनुसन्धान

कार्तिक संवत् १९१३ में स्वामीजी महाराज ने नर्मदा नदी का स्रोत देखने के लिए अपनी यात्रा पुनः आरम्भ कर दी। पहाड़ी मार्ग बड़ा विकट था। चलते हुए वे किसी से भी मार्ग न पूछते थे। दक्षिणाभिमुख चुपचाप चलते चले जाते थे। इस प्रकार चलते हुए मार्ग में एक विस्तृत घना जंगल आ गया। उन्हें वह वन जन-संचार-शून्य जान पड़ा, परन्तु विशेष देखने से सुदूर झाड़ियों में कुछ मलिन झोंपड़ियाँ दिखाई पड़ीं। स्वामीजी उस समय क्षुत्पिपासा से पीड़ित थे, इसलिए वे एक झोंपड़ी में गये और उसके अधिपति से माँगकर कुछ दूध ग्रहण किया। वहाँ से आगे चलकर कोई पौन कोस पहुँचने पाये थे कि मार्ग का लोप दिखाई दिया। हाँ, छोटी-छोटी पगडण्डियाँ, जो वास्तव में भेड़-बकरियों के आने-जाने से ऐसे वनों में बन जाया करती हैं, चारों ओर फैली हुई थीं, उन्होंने उनमें से एक को चुन लिया और उसी पर चल पड़े। थोड़ी दूर जाकर ही वे एक निविड़ वन में जा फँसे। इस वन में बेरी के बहुत-से वृक्ष थे। घास अति घनी और लम्बी थी। ऐसे स्थान में ऐसी पद-पंक्तियाँ भी प्रलुप्त हो गई थीं। स्वामीजी थोड़े समय के लिए वहाँ ठहरकर यह सोच ही रहे थे कि किस ओर से आगे बढ़ें, इतने में अचानक एक काला रीछ बड़े वेग से दौड़ता हुआ सामने आता दिखाई दिया। वह हिंसक पशु चिंघाड़ता हुआ अपने पिछले पाँवों पर खड़ा हो गया और मुँह खोलकर उन्हें खाने के लिए आगे की ओर लपका। स्वामीजी महाराज कुछ क्षण तो आश्चर्यचकित, निष्क्रिय होकर खड़े रहे, परन्तु जब

१. चुनार।

अन्त में देखा कि वह पशु उन्हें कुचलने ही लगा है तब अपनी सोटी उन्होंने रीछ की ओर बढ़ायी। वह पशु स्वामी-दण्ड को देखकर वहाँ से उलटे पाँव भाग गया।*

उस भालू का चिंघाड़ना सुनकर जिन झोंपड़ियों में से स्वामीजी ने दुग्ध ग्रहण किया था, वहाँ के लोग शिकारी कुत्ते लेकर घटना-स्थल पर आ गये। वे परमहंसजी को सुरक्षित देख प्रसन्न हुए और बोले—"महाराज! इस जंगल में यदि और थोड़ा भी आगे बढ़ोगे तो आपको घोर संकटों का साम्मुख्य करना पड़ेगा। इस पर्वत में, इस सघन वन में बड़े-बड़े विकट एवं वनैले पशु वास करते हैं। यहाँ आपको सिंहादि अतिक्रूर और भयंकर जीव मिलेंगे। आप कृपा करके हमारे साथ हमारे गाँव में वापस चलिए। हम आपकी सेवा-शुश्रूषा करेंगे।"

स्वामीजी ने उन हितेच्छु वनवासियों के वचनों को सुनकर कृतज्ञता के साथ कहा—"आप मेरे लिए चिन्ता मत कीजिए। मेरे कुशल-मंगल का भय छोड़ दीजिए, क्योंकि मैं प्रभु-कृपा से सदा कुशल और सुरक्षि रहता हूँ।"

ग्रामीणों ने स्वामीजी को अपने निश्चय पर अटल और दृढ़ देखकर उन्हें एक मोटा सोटा दिया और स्वामीजी के धैर्य को धन्य कहते हुए लौट गये। स्वामीजी ने उस लट्ठ को वहीं फेंक दिया और आगे बढ़ने लगे। अभी थोड़ा ही पथ नाप पाये थे कि एक भीषण कानन में जा घिरे। इस विकट एवं विस्तीर्ण वन को पार करते हुए स्वामीजी को बड़ा कष्ट सहन करना पड़ा। वन की कण्टकाकीर्ण झाड़ियों ने उनके तन को छलनी बना दिया। कँटीली झाड़ियों में फँसकर वस्त्र तार-तार हो गये। वहाँ तीक्ष्ण काँटों से लदी हुई झाड़ियाँ ऐसी सटी हुईं थीं कि सीधे खड़े होकर चलना असम्भव था। टेढ़े होकर आगे बढ़ना भी दुष्कर था। ऐसे स्थानों में स्वामीजी

---

* कर्नल अल्काट और मैडम ब्लैवट्स्की इस घटना को यह सिद्ध करने के लिए उद्धृत करते हैं कि दयानन्द योगी थे। उनका कहना है कि क्या योग की शक्ति का प्रयोग किये बिना दयानन्द केवल एक पतली-सी छड़ी द्वारा बड़े भारी रीछ को, जो आक्रमण करने के लिए उद्यत हो रहा था, डराकर भगा सकते थे?

इसमें सन्देह नहीं कि इस घटना से दयानन्द की योग-शक्तियों का परिचय मिलता है।

घुटनों के सहारे सरककर और पेट के बल रेंगकर आगे बढ़ने लगे। उनके तलवे लहू से लाल हो गये। काँटों के चुभने से देह रक्तस्राव करने लगी। तन पर से कहीं-कहीं मांस की बोटियाँ तक उखड़ गईं, परन्तु धुन के धनी स्वामीजी महाराज सारी विघ्न-बाधाओं को अपने अदम्य उत्साह और साहसे से पार करके अन्त में उस वन-दुर्ग पर विजयी हुए।

जब वे उस वन से बाहर आये, उस समय अन्धकार छा रहा था। वे बहुत घायल थे और उनकी अवस्था अधमुई-सी हो रही थी। इतने कष्ट पाने पर भी न तो स्वामीजी उत्साहहीन ही हुए थे और न उन्होंने अपनी अग्रगति ही बन्द की। वे अन्धकारपूर्ण रात्रि में भी इस आशा से आगे बढ़ रहे थे कि कहीं तो मार्ग मिल ही जाएगा। कुछ आगे बढ़ने पर वे एक ऐसे भयानक प्रदेश में पहुँचे जहाँ चारों ओर पर्वत और टीले ही दृष्टिगोचर होते थे, परन्तु वहाँ उन्हें मानव-निवास के कुछ चिह्न प्रतीत होने लगे। कुछ आगे बढ़ने पर उन्हें टिमटिमाते हुए दीपक दिखाई दिये जो मानो आनेवाले पथिक को वहाँ पहुँच जाने की बधाई देते हुए उसके स्वागत में जल उठे थे। समीप जाने पर स्वामीजी को कुछ झोंपड़ियाँ दिखाई दीं। उन कुटियों से थोड़ी दूर पर स्वच्छ जल की एक धारा बह रही थी। वहीं एक विशाल वृक्ष के नीचे स्वामीजी निद्रा देवी की गोद में चले गये।

प्रातःकाल शौचादि से निवृत्त होकर उन्होंने नदी-जल से अपने घावों को धोया। फिर हाथ-पाँव स्वच्छ किये। दण्ड को भी जल से साफ कर लिया। तत्पश्चात् वे सन्ध्योपासना में बैठना ही चाहते थे कि बहुत-सी गायों और बकरियों के रेवड़ के साथ स्त्री-पुरुषों और बालक-बालिकाओं का एक समूह उन झोंपड़ियों से निकलकर स्वामीजी के चारों ओर खड़ा हो गया। एक वृद्ध ने आगे बढ़कर पूछा—"महाराज! आप कहाँ से आये हैं और कहाँ जाएँगे?" स्वामीजी ने उत्तर दिया—"मैं काशी से आया हूँ और नर्मदा नदी का स्रोत देखने जा रहा हूँ।" इतना कहकर स्वामीजी समाधि में निमग्न हो गये और वे लोग भी वहाँ से चले गये। आध घण्टे के पश्चात् उस जन-मण्डली का प्रधान पुरुष दो पर्वतीय पुरुषों को साथ ले स्वामीजी के पास आया और स्वामीजी से अपनी झोपड़ियों में पधारने की प्रार्थना की। स्वामीजी ने यह जानकर कि ये सब लोग मूर्त्तिपूजा-परायण हैं, कुटियों में जाने का निमन्त्रण स्वीकार नहीं किया। भोजन

के लिए पूछने पर स्वामीजी ने कहा—''मैं आजकल अन्न ग्रहण नहीं करता, केवल दूध पीकर ही निर्वाह करता हूँ।'' यह सुनकर वह सहृदय मुखिया स्वामीजी के तूंबे को दुग्ध से आकण्ठ भर लाया। स्वामीजी ने उसमें से कुछ दुग्ध ग्रहण कर लिया। जाते हुए वह प्रधान पुरुष उन दोनों पुरुषों को रात-भर अग्नि जलाकर परमहंसजी के रक्षण का आदेश दे गया। महाराज गाढ़ निद्रा में सोकर उषा में ही उठे और ब्रह्म-समाधि से निवृत्त होकर अपने यात्रा-पथ को छोटा करने लगे।

स्वामीजी ने एक बार शिवराम पाँडे से कहा था कि जब वे पर्यटन किया करते थे तब एक बार ४-५ दिन तक भोजन न मिलने के कारण बहुत ही बुभुक्षित हो गये थे। उनका यह नियम था कि भोजन के लिए किसी से याचना नहीं करते थे। वे इसी क्षुधातुर-अवस्था में थे कि एक मनुष्य ने आकर स्वयं ही उनसे भोजन का प्रस्ताव किया। स्वामीजी उसके साथ उसके घर गये और उसके दिये हुए सत्तू खाकर तृप्त हुए। तत्पश्चात् उस मनुष्य ने स्वामीजी से कहा कि उसकी पुत्रवधू भूताक्रान्त है, आप अनुग्रह करके उसका भूत उतार दें। स्वामीजी उसके साथ उसके घर के भीतर गये और उसकी पुत्रवधू को अपनी लाठी दिखाई। गृहस्थ ने कहा कि और कुछ भी कीजिए। महाराज ने उत्तर दिया कि हमारी लाठी देखकर ही भूत भाग जाएगा। वस्तुतः ऐसा ही हुआ भी। गृहस्थ की पुत्रवधू नीरोग हो गई। गृहस्थ स्वामीजी का बड़ा कृतज्ञ हुआ और कई दिन स्वामीजी की सेवा में रहकर उनकी सेवा-शुश्रूषा करता रहा।

इस घटना के पीछे स्वामीजी पर्यटन करते-करते एक सन्ध्या को एक घर में जाकर ठहरे। उस गृह के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध था कि उसमें भूत निवास करते हैं और इस भय से कोई भी मनुष्य उस घर में नहीं टिकता था। स्वामीजी से भी लोगों ने कहा कि आप इस भूताक्रान्त गृह में न ठहरें, परन्तु स्वामीजी ने नहीं माना और उसी गृह में रात्रि व्यतीत की।

इस समय संवत् १९१३ का कार्तिक अथवा मार्गशीर्ष मास होगा। यहाँ पर ही स्वामीजी के स्वलिखित 'आत्मचरित' की समाप्ति हो जाती है। इसके पीछे उन्होंने क्या किया, कहाँ गये, इस विषय में कुछ भी नहीं लिखा, परन्तु यह तो निश्चित एवं निर्विवाद है कि जब वे नर्मदा के स्रोत को देखने के लिए बाहर निकले थे और भीषण

विघ्न-बाधाओं, आपत्तियों तथा संकटों के होते हुए भी वे असीम दृढ़ता के साथ आगे बढ़े, उन्होंने एक पैर भी पीछे नहीं हटाया, प्रत्युत जो पग बढ़ा आगे ही बढ़ा और इतनी दूर वे आ भी पहुँचे, तब उन्होंने नर्मदा के स्रोत अमरकण्टक में पहुँचकर ही दम लिया होगा, परन्तु नर्मदा-स्रोत का दर्शन करने के पश्चात् कार्तिक संवत् १९१३ से संवत् १९१७ तक उन्होंने क्या किया, कहाँ-कहाँ गये, यह सब अज्ञात ही है। हमारे विचार में स्वामीजी ने इन दिनों 'प्रथम स्वातन्त्र्य-संग्राम' में भाग लिया था। इस सम्बन्ध में आगे कुछ तथ्य प्रस्तुत हैं।

३

सन् १८५७ का स्वातन्त्र्य-संग्राम और महर्षि दयानन्द

महर्षि दयानन्द ने भारत के प्रथम स्वातन्त्र्य संग्राम में भाग लिया था, इस सम्बन्ध में पृथिवीसिंहजी महता विद्यालङ्कार ने अपने ग्रन्थ 'हमारा राजस्थान' में सर्वप्रथम प्रकाश डाला था। इस विषय में कुछ तथ्य प्रस्तुत हैं—

१. महर्षि दयानन्द ने संवत् १९१२, अर्थात् सन् १८५५-५६ में हिमालय की यात्रा की थी। इस यात्रा में वे शंकराचार्य द्वारा संस्थापित ज्योतिर्मठ (जोशीमठ) में भी गये थे। वहाँ के विद्वान् महन्त स्वामी पूर्णानन्दजी के शिष्य थे। उन्होंने स्वामी दयानन्दजी को स्वामी पूर्णानन्दजी से पढ़ने की प्रेरणा दी थी और स्वामी पूर्णानन्दजी के नाम एक पत्र भी दिया था। हिमालय की यात्रा पूरी करके गङ्गा के किनारे भ्रमण करते हुए दयानन्दजी स्वामी पूर्णानन्दजी से मिले। स्वामी पूर्णानन्दजी ने कहा कि मैं ११० (एक सौ दस) वर्ष का हो गया हूँ। वृद्धावस्था के कारण पढ़ाने का काम नहीं कर सकता, अतः तुम मथुरा में मेरे शिष्य विरजानन्द के पास जाओ। यह घटना संवत् १९१२ के अन्त की है। ज्ञान के पिपासु दयानन्द इसके पाँच वर्ष पश्चात् संवत् १९१७ में विरजानन्दजी के पास अध्ययन आरम्भ कर सके थे, परन्तु उस समय अध्ययन आरम्भ न करने का कारण यह था कि वे संवत् १९१३ में कानपुर के आस-पास भ्रमण कर रहे थे। स्मरण रहे यह स्थान नानाजी धोंदुपन्त का प्रमुख क्षेत्र था। स्वामी दयानन्द को पता चल चुका था कि एक भीषण क्रान्ति होनेवाली है। इस क्रान्ति के कारण, जिसके साथ देश-भक्त दयानन्द की पूर्ण सहानुभूति थी, उनके अध्ययन में रुकावट पड़ जाना स्वाभाविक था।

२. जनता को जाग्रत् करने में साधुओं और संन्यासियों ने अभूतपूर्व सहयोग प्रदान किया था। दयानन्द-जैसे देश-भक्त के लिए ये उदाहरण निश्चय ही प्रेरणादायक थे।

३. दयानन्द ने सात-आठ मास में हिमालय की यात्रा पूर्ण कर ली थी। इस यात्रा में तीन मास तो एक ही स्थान शिवपुरी में लग गये थे और दो मास से अधिक साधु श्रेष्ठ गङ्गागिरि के साथ केदार-घाट में लग गये। कुछ समय जोशीमठ के विद्वानों, संन्यासियों और योगियों के साथ व्यतीत हो गया। ऐसे तीव्रगामी दयानन्द के पाँच वर्ष कानपुर के आस-पास बिना कारण के नहीं लग सकते। निश्चय ही वे जनसाधारण में जागृति का, स्वतन्त्रता का मन्त्र फूँक रहे थे।

४. संवत् १९३२ में अनेक व्यक्ति ऋषि दयानन्द को नानाजी के साथी के रूप में जानते थे। विरोधियों ने तो अंग्रेजों को भड़काने के लिए इसका प्रचार भी किया था। स्मरण रहे उस समय तक प्रथम स्वातन्त्र्य संग्राम को केवल अठारह वर्ष ही व्यतीत हुए थे। देश में ऐसे लोगों की संख्या पर्याप्त थी, जिन्होंने इन घटनाओं को अपनी आँखों से देखा था अथवा जो इन घटनाओं से पूर्णरूपेण परिचित थे। मुम्बई शहर में महाराष्ट्र का जोर था, इसलिए नानाजी की कहानी को अच्छी प्रकार जाननेवाले कुछ लोग वहाँ अवश्य होंगे। उन्हीं के मुख से औरों को यह बात पता लगी होगी।

५. दयानन्दजी संवत् १९१३ के कार्तिक मास में नर्मदा का स्रोत देखने के लिए चण्डालगढ़ से चल पड़े थे। नर्मदा का स्रोत उस स्थान से दो सौ मील से अधिक न होगा। दयानन्द-जैसे तीव्रगामी युवक के लिए यह कठिन यात्रा भी पन्द्रह दिन से अधिक की न थी। फिर यह कहना कि वे संवत् १९१३ के मध्य से संवत् १९१७ के कार्तिक तक नर्मदा के किनारे भ्रमण करते रहे, केवल कपोल-कल्पना ही है।

६. महर्षि ने संवत् १९३६ और संवत् १९३७ में अपने जीवन की कुछ घटनाएँ लिखी थीं। वे घटनाएँ हमें संवत् १९१४ के आरम्भ तक पहुँचाती हैं। ऋषि इसके पश्चात् तीन वर्ष और भी जीवित रहे, परन्तु उन्होंने इससे आगे अपनी आत्मकथा नहीं लिखी। यह ठीक है कि उनके पास समय का अभाव था, परन्तु इन तीन वर्षों में वे कुछ तो लिख ही सकते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि अंग्रेज़ी राज्य में संवत् १९१४ तथा १९१५ की घटनाओं (प्रथम स्वातन्त्र्य संग्राम में जन-जागृति के कार्य) का वर्णन करना स्वामीजी ने उचित नहीं समझा, अतः अपनी आत्मकथा को वहीं रोक दिया।

७. पूना-व्याख्यान में भी संवत् १९१४ से १९१६ तक किये गये

कार्यों के विषय में ऋषिवर पूर्ण मौन रहे हैं।

८. 'सत्यार्थप्रकाश' में संवत् १९१४ में रणछोड़जी के मन्दिर व मूर्त्ति का अंग्रेज़ों की तोपों से उड़ाये जाने और बाघेर लोगों की वीरता का वर्णन महर्षि का उन घटनाओं के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध सिद्ध करते हैं। महर्षि के शब्द हैं—

"जब संवत् १९१४ के वर्ष में तोपों के मारे मन्दिर-मूर्त्तियाँ अंग्रेज़ों ने उड़ा दी थीं तब मूर्त्ति कहाँ गई थी? प्रत्युत बाघेर लोगों ने जितनी वीरता की और लड़े, शत्रुओं को मारा, परन्तु मूर्त्ति एक मक्खी की टाँग न तोड़ सकी। जो श्रीकृष्ण के सदृश कोई होता तो इनके धुर्रे उड़ा देता और ये भागते फिरते।"

—'सत्यार्थप्रकाश' एकादशसमुल्लास

संवत् १९१४ और सन् १८५७ एक ही बात है। 'सत्यार्थप्रकाश' के शब्द डिण्डिम घोष के साथ कह रहे हैं कि दयानन्दजी ने उस स्वतन्त्रता-संग्राम में भाग लिया था। उपर्युक्त शब्द किसी प्रत्यक्षदर्शी की लेखनी से ही लिखे जा सकते हैं।

९. महर्षि ने अपने एक व्याख्यान में कहा था—"प्रथम स्वातन्त्र्य संग्राम के दिनों में अंग्रेज़ सूर्योदय से पूर्व भ्रमण करने जाया करते थे, परन्तु अब वे देर से उठने लगे हैं।" यह वर्णन उन दिनों महर्षि द्वारा अंग्रेज़ों की दिनचर्या के अध्ययन पर प्रकाश डालता है और इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करता है कि ऋषि को अंग्रेज़ों की दिनचर्या का पूर्ण ज्ञान था।

१०. गुरु विरजानन्दजी का अपने योग्य शिष्य दयानन्द के साथ समय-समय पर एकान्त में वार्तालाप होता था। विरजानन्दजी के और भी कई प्रिय शिष्य थे, परन्तु इस एकान्त वार्तालाप के समय उन सबको वहाँ से हटा दिया जाता था। जिस समय गूढ़ योग और ब्रह्मविद्या के सम्बन्ध में वार्त्तालाप होता था, उस समय दूसरे शिष्यों को पृथक् नहीं किया जाता था। निश्चितरूपेण उस समय अंग्रेज़ी राज्य के पिछले इतिहास और देश की स्वतन्त्रता-प्राप्ति की चर्चा ही उनका मुख्य विषय होता था। दूसरे शिष्य इसके अधिकारी नहीं समझे जाते थे। विरजानन्दजी भी देश की स्वतन्त्रता के प्रबल समर्थक थे, परन्तु उन्हें इस कार्य के योग्य शिष्य मथुरा-भर में केवल दयानन्द ही मिला था। इन्हीं से एकान्त में इस विषय पर वार्तालाप होता था।

११. महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों में स्वतन्त्रता की इच्छा और

प्रेरणा कूट-कूटकर भरी हुई है। हम यहाँ केवल दो उद्धरण प्रस्तुत करते हैं—

"अब अभाग्योदय से और आर्यों के आलस्य, प्रमाद, परस्पर के विरोध से अन्य देशों के राज्य करने की तो कथा ही क्या कहनी, किन्तु आर्यावर्त्त में भी आर्यों का अखण्ड, स्वतन्त्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो है सो भी विदेशियों से पादाक्रान्त हो रहा है। कुछ थोड़े राजा स्वतन्त्र हैं। दुर्दिन जब आता है तब देशवासियों को अनेक प्रकार का दुःख भोगना पड़ता है। कोई कितना ही करे, परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मत-मतान्तर के आग्रह-रहित, अपने और पराये का पक्षपात-शून्य, प्रजा पर माता-पिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ भी विदेशियों का राज्य पूर्ण सुखदायक नहीं है।"

—सत्यार्थप्रकाश, अष्टम समुल्लास

(हे प्रभो!) आप 'वरुण' सर्वोत्कृष्ट होने से वरुण हो, सो हमको वरराज्य, वरविद्या (और) वरनीति देओ। —आर्याभिविनय

१२. प्रचार के समय महर्षि दयानन्द क्षत्रियों को देश की स्वतन्त्रता की, स्वदेश-भक्ति की तथा स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग की प्रेरणा देते थे। वे स्वयं भी स्वदेशी वस्तुएँ ही प्रयोग में लाते थे।

१३. महर्षि दयानन्द ने ही अपने शिष्य श्यामजीकृष्ण वर्मा में देश की स्वतन्त्रता के लिए अनुपम अग्नि प्रचण्ड की थी।

१४. महर्षि के शिष्य श्रीकृष्णसिंह के सुपुत्र केसरीसिंह ने भी इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। उनके नौजवान पुत्र और भाई सभी देश-भक्ति में बलिदान हुए। वे स्वयं भी इस क्षेत्र में जूझते रहे। उन्होंने राजस्थान में स्वतन्त्रता के लिए अग्नि प्रचण्ड की और स्वयं वर्षों कारागार की यातनाएँ भोगीं।

१५. अंग्रेज़ी सरकार महर्षि के विचारों से अच्छी प्रकार परिचित हो गई थी और गुप्तचर-विभाग ऋषि दयानन्द के कार्यों पर कड़ी दृष्टि रखता था।

१६. कुछ जानकार लोगों की धारणा है कि महर्षि दयानन्द को विष देने में अंग्रेजों का भीषण षड्यन्त्र था।

यह सारी सामग्री महर्षि दयानन्द की देश-भक्ति पर, उनके सन् १८५७ के प्रथम स्वातन्त्र्य संग्राम में भाग लेने पर उत्तम प्रकाश डालती है। यह सम्भव नहीं कि दयानन्द-जैसा क्रान्तिकारी देश-

भक्त एवं सुधारक उस स्वतन्त्रात-संग्राम से पृथक् रहा हो।

निस्सन्देह महर्षि दयानन्द उत्कट मोक्षाभिलाषी थे, परन्तु क्या मुमुक्षु-जन आठों प्रहर योगाभ्यास के सिवा कुछ नहीं करते?

बन्दा वैरागी मोक्ष-प्राप्ति में संलग्न थे, परन्तु दुष्टों से पञ्जाब की रक्षा करने के लिए वे नर्मदा का किनारा छोड़कर पञ्जाब आ गये। ध्यान और भजन-परायण होते हुए भी वह प्रान्त के नवाब और दिल्ली के सम्राट् के लिए हौआ-सा बन गये थे।

महर्षि दयानन्द संवत् १९१४ की अपेक्षा ज्ञान और योगाभ्यास में बहुत आगे बढ़ जाने पर भी अन्त तक समाधि के साथ वेद-भाष्य, अन्य ग्रन्थों के लेखन, प्रचार और शास्त्रार्थ आदि के लिए पर्याप्त समय देते थे तो तेतीस वर्ष की यौवनावस्था में वे इस भीषण हलचल से पृथक् कैसे रह सकते थे?

कानपुर में दयानन्दजी-जैसे योगी का निरन्तर भ्रमण किस उद्देश्य से था? वह व्यर्थ नहीं था। कानपुर का क्षेत्र योगियों और विद्वानों का क्षेत्र नहीं था, अपितु वह राजनैतिक उथल-पुथल का क्षेत्र था।

महर्षि दयानन्द में सेनापति की योग्यता थी, परन्तु आदर्श संन्यासी होने के कारण वे सेनापति का काम नहीं सँभाल सकते थे। हाँ, जन-साधारण को सुमार्ग पर चलाना संन्यासी का कर्त्तव्य है और यही कार्य वे संवत् १९१३ और १९१४ में करते रहे।

४

गुरु के चरणों में

प्रथम स्वातन्त्र्य संग्राम की प्रचण्ड अग्नि मन्द पड़ चुकी थी। स्वतन्त्रता-संग्राम को तीन वर्ष व्यतीत हो चुके थे। दयानन्दजी को स्वामी पूर्णानन्दजी से विरजानन्दजी की पुण्यकीर्ति, ख्याति और विद्वत्ता पहले ही विदित हो चुकी थी। वे उनसे मिलने के लिए अत्यन्त उत्सुक थे, अतः वे मथुरा की ओर चल दिये। मार्ग में वे हाथरस ठहरे। वहाँ उन्हें समाचार मिला कि मुरसान में स्वामी विरजानन्दजी का किसी पण्डित से शास्त्रार्थ होनेवाला है, अतः उन्होंने तुरन्त मुरसान के लिए प्रस्थान कर दिया। वहाँ पहुँचकर विदित हुआ कि शास्त्रार्थ तो हो चुका, अतः वे स्वामी विरजानन्दजी के विपक्षी पण्डित से जाकर मिले और उनसे अनुरोध किया कि "मुझे विरजानन्दजी के पास ले-चलिए।" पण्डितजी की बातों से वे समझ गये कि पण्डितजी पराजित हो गये हैं। दयानन्दजी ने उसी पण्डित को पुनः उत्तेजित किया कि चलो देखें तो सही कि वे कैसे तार्किक हैं? परन्तु पण्डितजी ने उत्तर दिया कि विरजानन्द कोई साधारण विद्वान् नहीं है। उनका अष्टाध्यायी और महाभाष्य पर पूर्ण अधिकार है। पण्डितजी के मुख से भी विरजानन्दजी के पाण्डित्य की बात सुनकर दयानन्दजी ने मथुरा जाकर विरजानन्दजी से साक्षात् करने का संकल्प किया।

संवत् १९१७ में दयानन्दजी मथुरा पहुँचते हैं। उस समय उनकी अवस्था ३६ वर्ष की होगी। लगभग सात फुट ऊँचा तप्त स्वर्ण-सा गौरवर्ण का शरीर, जिसपर ब्रह्मचर्य का ओज और तेज टपक रहा था, जो योग-साधन तथा विविध प्रकार के तप और व्रतों से कान्तिमय हो रहा था, व्यायाम से सुगठित एवं सन्तुलित था, बरबस लोगों को अपनी ओर आकर्षित कर लेता था। उनके तन पर काषाय वस्त्र, एक हाथ में कमण्डलु, दूसरे हाथ में मोटा सोटा, गले में रुद्राक्ष की माला, भाल पर भभूत रम रही है। बगल में एक वस्त्र में थोड़ी-सी पुस्तकें हैं—यह संन्यासी मथुरा में आकर रंगेश्वर महादेव के मन्दिर में विराजमान हुए और कुछ दिन पश्चात् दण्डी विरजानन्दजी के दरबार में पहुँचे।

दण्डीजी का एक सामान्य नियम था कि पढ़ाने के अतिरिक्त समय में वे अपना द्वार बन्द रखते थे। केवल दर्शनार्थियों से मिलना पसन्द नहीं करते थे। हाँ, विद्या के अभिलाषी, शास्त्र के जिज्ञासु से मिलने के लिए वे सदा प्रस्तुत रहते थे। विद्वानों से मिलने पर वे विशेष प्रकार का उल्लास प्रदर्शित करते थे। जिस समय दयानन्द द्वार पर पहुँचे उस समय भी द्वार बन्द था। दयानन्द ने धीरे से द्वार खटखटाया। अन्दर से प्रश्न हुआ—"कौन है?" दयानन्द ने विनयपूर्वक उत्तर दिया—"मैं कौन हूँ, यही जानने के लिए आपकी शरण में आया हूँ।"

द्वार अब भी नहीं खुला। एक और प्रश्न हुआ—"क्या कुछ पढ़े भी हो?" दयानन्द ने जो कुछ पढ़ा था, सब-कुछ सुना दिया। भीतर से उत्तर आया—"आज तक जो कुछ तुमने मनुष्य-प्रणीत ग्रन्थों में पढ़ा है, वह सब अनार्ष होने से त्याज्य है, उस सबको भुला दो, क्योंकि जब तक मनुष्य-प्रणीत ग्रन्थों का प्रभाव तुम्हारे हृदय-पटल पर रहेगा, तब तक तुम्हारे चित्त में आर्ष-ग्रन्थों का प्रकाश प्रवेश न कर सकेगा। यदि तुम्हारे पास मनुष्य-प्रणीत ग्रन्थ हों तो उन्हें भी यमुना में डाल आओ।"

पुस्तकें फेंकना विद्यार्थी के लिए अति दुष्कर कार्य होता है—विशेषकर उन दिनों में जबकि पुस्तकों का मिलना कठिन था, किन्तु दयानन्द तो विलक्षण पुरुष थे। पुस्तकें फेंककर वे गुरुजी के चरणों में लौटे और बोले—"महाराज! पुस्तकें यमुना में फेंक आया हूँ और साथ ही पुराने पढ़े को विस्मृत कर हृदय की पट्टी को स्वच्छ कर लिया है।"

दण्डीजी के दरबार का द्वार खुल गया। दयानन्द को प्रवेश की अनुमति मिल गई, परन्तु अभी भी एक परीक्षा और शेष थी। विरजानन्दजी ने कहा—"दयानन्द! तुम संन्यासी हो। संन्यासी के भोजन और निवास का कोई निश्चित ठौर-ठिकाना नहीं होता, अतः तुम्हारा हमारे पास अध्ययन करने का कोई स्थिर ढंग नहीं दीखता।" दयानन्दजी ने थोड़ी-सी बातचीत से ही जान लिया था कि जिस महामानव का सान्निध्य उन्हें आज प्राप्त हुआ है, वह सचमुच लोकोत्तर है। उन्होंने अनुभव किया कि अब तक जिन गुरुओं के सम्पर्क में वे आये, वे प्रायः एकांगी थे, अतः उनकी शिक्षा-दीक्षा भी एकांगी ही रही। आज जो गुरु उनके समक्ष है, वह उन सबसे विलक्षण, लोकोत्तर

और सर्वांगीण प्रतीत होता है, अत: दयानन्द ने निश्चय कर लिया कि जैसे भी हो इस महागुरु से शिक्षा अवश्य लेनी है। इस निश्चय के करने में उन्हें कोई विलम्ब नहीं लगा। उन्होंने विनीतभाव से निवेदन किया—"महाराज! आप इसकी चिन्ता न कीजिए। मैं इसका प्रबन्ध कर लूँगा।" विरजानन्दजी ने सन्तुष्ट होकर दयानन्द को अपना विद्यार्थी बनाना स्वीकार कर लिया।

दयानन्दजी के भोजन का प्रबन्ध कुछ दिनों तक दुर्गाप्रसाद क्षत्रिय ने किया। फिर अमरलाल नामक एक गुजराती औदीच्य ब्राह्मण से स्वामीजी का परिचय हो गया। ज्योतिष्-विद्या में पारंगत होने के कारण उन्हें जोशीबाबा की पदवी मिली थी। ज्योतिष् में उनका विशेष पाण्डित्य देखकर महाराज सिन्धिया ने उन्हें १०-१२ ग्राम दे दिये थे। उनकी आय से ही अमरलाल का निर्वाह होता था। अमरलाल प्रतिदिन सौ ब्राह्मणों को भोजन कराया करता था। इसी उदारचेता ब्राह्मण ने महाराज से विद्या-समाप्ति तक प्रतिदिन अपने यहाँ ही खाते रहने का अनुरोध किया। वह इतना श्रद्धालु था कि स्वामीजी को अन्न देकर ही स्वयं अन्न ग्रहण करता था। यदि उसे कहीं निमन्त्रण में जाना होता था तो पहले स्वामीजी को भोजन कराकर ही कहीं जाता था। अमरलाल के विषय में दयानन्दजी ने लिखा है—"आहार आदि की व्यवस्था करने के कारण मैं अमरलाल का नितान्त आभारी हूँ। भोजन के सम्बन्ध में वे इतने सावधान रहते थे कि जब तक मेरे भोजन का प्रबन्ध न हो जाता था, तब तक वह स्वयं भोजन न करते थे। वस्तुत: अमरलाल एक महात्मा थे।" इसके पश्चात् दयानन्दजी के रहने के स्थान का भी प्रबन्ध हो गया। विश्राम-घाट पर लक्ष्मीनारायण के मन्दिर के नीचे की मंजिल में एक कोठड़ी रहने के लिए मिल गई। यह कोठड़ी मन्दिर के द्वार के एक पार्श्व में थी। यद्यपि वह कुछ बड़ी न थी, परन्तु एक व्यक्ति के रहने के लिए पर्याप्त थी। उसकी स्थिति बड़ी मनमोहक थी। एक ओर मन्दिर की खिड़की के पास खड़े होते ही यमुना के मनोरम सौन्दर्य पर दृष्टि पड़ती थी तो दूसरी ओर वनस्थली की रम्यता हृदय को आनन्द प्रदान करती थी।

अमरलाल ने इस निस्सहाय संन्यासी की सहायता करके अपने-आपको अमर कर लिया। कौन जानता था कि वह संन्यासी एक दिन वैदिक धर्म का पुनरुद्धारक और आर्यजाति का उन्नायक होगा!

अमरलाल को क्या पता था कि वह दयानन्द का पालन-पोषण करके भारत के ही नहीं, अपितु सारी पृथिवी के धर्म-प्रेमियों को जीवन दे रहा है!

श्रीगोवर्द्धन सर्राफ़ दयानन्द को चार आने मासिक तेल के लिए दिया करते थे, जिससे वे रात्रि में दीपक जलाकर अपना पाठ याद किया करते थे। हरदेव पत्थरवाला उन्हें दो रुपये मासिक दूध के लिए दिया करता था। पुण्यसञ्चय में इन दोनों का भी योग था।

भोजन और आवास की व्यवस्था हो जाने पर दयानन्दजी का अध्ययन आरम्भ हुआ। विरजानन्दजी का पाण्डित्य अपूर्व था, उनकी प्रतिभा असाधारण थी और स्मृति विस्मयजनक! सर्वसाधारण में वे 'व्याकरण-सूर्य' के नाम से प्रसिद्ध थे। विरजानन्दजी की यह दृढ़ धारणा थी कि आर्ष-ग्रन्थों के बिना यथार्थ ज्ञान असम्भव है। उनका यह विश्वास था कि पाणिनि-कृत 'अष्टाध्यायी' के सिवा और किसी ग्रन्थ में आर्ष-ग्रन्थों के रहस्य-भेदन की शक्ति नहीं और पतञ्जलिकृत 'महाभाष्य' के बिना पाणिनि का यथार्थ ज्ञान समझ में नहीं आ सकता, अतः वे इन दोनों ग्रन्थों के पढ़ने-पढ़ाने पर बल दिया करते थे। दयानन्द को भी उन्होंने 'अष्टाध्यायी' पढ़ाना आरम्भ किया और साथ-ही-साथ 'महाभाष्य' भी पढ़ाने लगे।

अब तक जितने विद्यार्थियों ने विरजानन्दजी से शिक्षा पाई थी, उनमें उदयप्रकाश आदि दो-चार को छोड़कर शेष सभी अल्पवयस्क तथा अपठित अथवा अल्प-पठित ही उनके पास आये थे। दयानन्द ऐसा विद्यार्थी था, जो केवल पठित ही न था, अपितु योगी होने के साथ महाबुद्धिमान् भी था, अतः अनेक बार पढ़ने के समय दयानन्द पाठ में शंकाएँ कर देते थे। गुरुजी उनका समाधान करते थे। कभी-कभी गुरु-शिष्य में शास्त्रार्थ भी छिड़ जाता था। विरजानन्द महान् तार्किक थे, परन्तु दयानन्द भी कोई साधारण वाक्पटु न थे। गुरुजी कई बार उन्हें 'कालजिह्व' और 'कुलक्कर' की उपाधियाँ दे देते थे। कालजिह्व का अर्थ है—जिसकी जिह्वा असत्य के खण्डन और भ्रान्तिजाल के छेदन में काल के समान कार्य करे। कुलक्कर का अर्थ है खूँटा, अर्थात् जो खूँटे के समान दृढ़ और अविचलित रहकर विपक्षी को पराभूत कर सके। दयानन्द को इन नामों से पुकारकर वे बहुत प्रसन्न होते थे। दयानन्दजी ने अपने भावी जीवन में क्रान्तदर्शी गुरु की इन दोनों उपाधियों को सर्वथा पूर्ण कर दिखाया।

विरजानन्दजी की पाठशाला में दयानन्द साधारण विद्यार्थियों के समान नहीं थे। पाठशाला और पाठ-प्रसंग को छोड़कर विरजानन्दजी का अन्य विद्यार्थियों के साथ और कोई सम्बन्ध न रहता था, परन्तु दयानन्द के साथ उनके पाठ-प्रसंग के अतिरिक्त अन्य विषयों की भी आलोचना हुआ करती थी। गुरुदेव के साथ उनका एकान्त में विशेष वार्तालाप भी हुआ करता था।

विरजानन्दजी प्राणपन से दयानन्द को ज्ञानदान देने लगे। उनकी यह कामना उत्तरोत्तर बलवती होती गई कि जो कुछ ज्ञान-धन उनके पास सञ्चित एवं सुरक्षित है, वह सारा-का-सारा दयानन्द में उँडेल दें। उधर दयानन्द भी यत्नवान् थे कि महान् गुरु की ज्ञाननिधि से सब रत्न ले-लिये जाएँ। इस प्रकार दोनों दान-आदान में संलग्न थे।

एक दिन की बात है कि दयानन्द अपने नित्य-नियमानुसार मथुरा नगर से दूर यमुना नदी के पावन शीतल तट पर एकान्त में ध्यानारूढ़ थे। वे समाधि से उठनेवाले ही थे कि यमुना में स्नान करके आती हुई एक स्त्री ने भक्तिभाव से अपना सिर दयानन्द के चरणों पर रख दिया। दयानन्द ने विनम्रता से उस देवी को परे हटने को कहा और स्वयं वस्त्रों-समेत यमुना में कूदकर सचैल स्नान किया। स्नान के पश्चात् उधर ही निर्जन स्थान में तीन दिन तक निराहार रहे। चौथे दिन गुरुजी के दरबार में उपस्थित हुए।

इधर विरजानन्दजी अपने शिष्य की अकारण अनुपस्थिति से अत्यन्त व्याकुल और व्यग्र हो रहे थे। उन्होंने यत्नपूर्वक दयानन्द की खोज कराई, परन्तु कोई न बता सका कि दयानन्द कहाँ है? जब दयानन्द लगातार तीन दिन तक न आये, तब "**अनिष्टशंकी खलु बन्धुजनः**" को चरितार्थ करते हुए उनका मन नाना क्लिष्ट कल्पनाओं से आक्रान्त होने लगा। भगवान् की निरन्तर आराधना के पश्चात् उन्हें अपनी इच्छा के अनुरूप एक शिष्य मिला था। वह मन-ही-मन जिस शिष्य पर कर्त्तव्य-भार डालने का विचार किया करते थे, वही शिष्य सहसा लुप्त हो गया। विरजानन्दजी की उन दिनों की व्यग्रता का अनुमान कोई ऐसा भुक्तभोगी ही लगा सकता था, जिसकी चिर-अभिलाषित निधि प्राप्त होकर खो जाए।

चौथे दिन जब दयानन्द दण्डीजी के दरबार में पहुँचे और गुरुजी के चरण-स्पर्श करके अभिवादन किया, तब गुरुजी ने दयानन्द के शरीर का स्पर्श करते हुए उसे कृश अनुभव करके पूछा—"दयानन्द!

इतने दिन तुम कहाँ रहे ? वत्स! तुम कृशाङ्ग प्रतीत होते हो। क्या कारण है ?'' गुरुजी की इस स्नेहसिक्त जिज्ञासा के उत्तर में अखण्ड ब्रह्मचर्य-व्रतधारी दयानन्द ने अथ से इति तक सब कथा कह सुनाई। एक क्षण पूर्व जो वृद्ध अत्यन्त बेचैन हो रहा था, उसने सहसा प्रफुल्लित होकर दयानन्द को खींचकर अपने गले से लगा लिया और बोल उठे—''अन्धे को लाठी मिल गई!''

विरजानन्दजी के पास भृत्य हैं, जो उनका भोजन बनाते तथा अन्य विद्यार्थियों के भोजन की व्यवस्था करते थे। वे दण्डीजी के स्नान के लिए जल भी लाते, परन्तु आदर्श गुरु-भक्त दयानन्द ने भृत्यों को कुछ काल के लिए विश्राम दे दिया। वे गुरुजी की कुटिया में नियमपूर्वक झाड़ू लगाने लगे। वे गुरुजी के लिए यमुना से जल भी लाते। उनके लिए यमुना की मध्यधारा से पेय जल भी भर लाते। इस प्रकार उन्होंने अनन्य गुरु-भक्ति का परिचय दिया और गुरुदेव का मन अपनी मुट्ठी में कर लिया।

एक दिन विरजानन्दजी ने आवेश में आकर दयानन्दजी पर लाठी का ऐसा प्रहार किया कि उनकी भुजा पर गहरी चोट आई, परन्तु अपनी पीड़ा का कोई ध्यान न कर उन्होंने गुरुजी से प्रार्थना की—''महाराज! मेरा शरीर कठोर है और आपके हाथ कोमल हैं। मारने से आपको क्लेश होता होगा, इसलिए मुझे मारा न कीजिए।'' यह कहकर वे गुरुजी का हाथ सहलाने लगे। कहते हैं, उस दिन के घाव का चिह्न उनकी भुजा पर जीवन-भर बना रहा। वे जब उसे देखते थे तब अपने गुरु के उपकारों का स्मरण करने लग जाते थे।

विरजानन्दजी अतीव कृपालु थे। वे दिन-रात विद्यार्थियों को पढ़ाते रहते थे। विद्यार्थी के बार-बार पूछने पर वे उसे पुनः-पुनः बताते थे और इसमें तनिक भी न घबराते थे, किन्तु दयानन्द के साथ उनका व्यवहार विलक्षण था। एक दिन दयानन्द की मेधा ने उन्हें धोखा दे दिया। दयानन्दजी की स्मरणशक्ति इतनी तीक्ष्ण थी कि वे अपने पाठ को एक बार सुनकर ही स्मरण कर लेते थे, परन्तु एक दिन अष्टाध्यायी की कोई ऐसी क्लिष्ट प्रयोग-सिद्धि आई कि वह स्वामीजी को विस्मृत हो गई। उसे स्मरण करने का बड़ा प्रयत्न किया, परन्तु व्यर्थ। अन्त में गुरुजी से प्रार्थना की—''महाराज! यह प्रयोग-सिद्धि फिर बतला दीजिए।'' गुरुजी ने कोरा उत्तर दिया। दयानन्द ने फिर प्रयत्न किया, परन्तु वे कृतकार्य नहीं हुए। वे पुनः

गुरु-चरणों में उपस्थित हुए। गुरुजी ने कड़ककर कहा—"हम एक बात को बार-बार बताने के लिए यहाँ नहीं बैठे हैं। जाओ, इसे स्मरण करके लाओ। हम पिछला पाठ सुने बिना अगला पाठ नहीं पढ़ाएँगे। यदि प्रयोग स्मरण न आये तो यमुना में कूदकर प्राण भले ही दे देना, परन्तु प्रयोग-स्मृति के बिना हमारे पास मत आना।"

दयानन्द के सहपाठी गुरुजी के इस व्यवहार से चकित हैं। वे इसे गुरुजी के व्यवहार में परिवर्तन मानते हैं, किन्तु दयानन्द इससे क्षुब्ध नहीं हैं। वे मानते हैं कि गुरुजी मेरे कल्याण के लिए ही यह सब करते हैं। जिसे कल दायित्व का गुरुतर भार सौंपना है, उसे आत्मनिर्भरता सिखाना गुरु का अनिवार्य कर्त्तव्य है। गुरु के आदेश को शिरोधार्य कर दयानन्द चुपचाप वहाँ से चले गये। जाते हुए वे मन-ही-मन प्रतिज्ञा कर गये कि अब गुरुजी की सेवा में तभी उपस्थित होंगे, जब इस प्रयोग को स्मरण कर लेंगे, अन्यथा प्राण त्याग देंगे। "**कार्यं वा साधयेयं शरीरं वा पातयेयम्**"—ऐसा निश्चय करके वे यमुना के तीर पर एकान्त में जाकर बैठ गये और ध्यान लगाकर उस प्रयोग का चिन्तन करने लगे। चिन्तन करते हुए उनपर योगनिद्रा छा गई। उस अवस्था में वे देखते हैं कि कोई मनुष्य आनुपूर्वी से उन्हें उस प्रयोग की सिद्धि बता रहा है। प्रयोगसिद्धि की समाप्ति पर दयानन्द की योगनिद्रा भंग हुई। वे पुलकित-गात्र होकर गुरुजी की सेवा में उपस्थित हुए और सारी प्रयोगसिद्धि कह सुनाई। प्रयोगसिद्धि सुनकर विरजानन्दजी के हर्ष का पार न रहा। उन्हें निश्चय हो गया कि उनके मनोरथ को पूर्ण करनेवाला आ गया है।

दयानन्द से एक बार एक अपराध हो गया। विरजानन्दजी का नियम था कि वे केवल दर्शनार्थ आये हुए मनुष्यों को टका-सा उत्तर दे दिया करते थे। अपने पूर्वाश्रम के सम्बन्धियों से तो आदर्श संन्यासी की भाँति किसी भी अवस्था में नहीं मिलते थे। एक दिन ऐसी घटना घटी कि विरजानन्दजी के जन्म-ग्राम का निवासी उनका कोई बन्धु उनकी कीर्ति सुनकर उनके दर्शनों की भावना से दण्डीजी के शिष्यों से अनुनय-विनय करने लगा। दण्डीजी के नियम-पालन की कठोरता से उनके सम्पर्क में आनेवाले सभी जन परिचित थे, अतः किसी ने भी आगन्तुक सज्जन की मनःकामना पूर्ण न की। तब वह दयानन्द के पास पहुँचा। दयानन्द ने भी अन्य शिष्यों की भाँति इस कार्य को असम्भव बतलाया। अभ्यागत सज्जन ने अत्यधिक अनुनय-विनय,

प्रार्थना और आग्रह करते हुए दयानन्दजी के पैर पकड़कर कहा—"मेरे लिए गुरुजी की अप्रसन्नता सह लीजिएगा, परन्तु मुझे दर्शन अवश्य करा दीजिए। मैं चुपचाप दूर से दर्शन करके चला जाऊँगा।" स्वभाव से दयालु दयानन्दजी उसे अपने साथ गुरु-अट्टालिका पर ले-आये। थोड़ी देर तक वह मौन साधे दण्डीजी के दुर्लभ दर्शनों का आनन्द लूटता रहा। अन्त में दयानन्दजी का संकेत पाकर वह शनैः-शनैः पीछे चला गया। स्वामीजी भी उसके साथ विश्राम-घाट पर जाने के लिए वहाँ से उतर आये। दोनों सीढ़ियों से उतर रहे थे कि स्वामीजी को अपना एक सहाध्यायी मिला। उन्होंने उसे संकेत से समझा दिया, परन्तु उसने विरजानन्दजी के पास जाकर कह ही दिया—"महाराज! आज दयानन्द के साथ आपके पास जो व्यक्ति आया था, वह कौन था? वेशभूषा से तो वह पञ्जाबी प्रतीत होता था।" यह जानकर कि मेरे पास कोई चुपचाप आया और लौट गया, विरजानन्दजी क्रोध में आ गये। दयानन्द के आने पर उन्हें बहुत झिड़कियाँ दीं और कहा—"तुमने मुझे नेत्रहीन समझकर ऐसा किया है। यहाँ से चले जाओ! तुम्हारे लिए डेवढ़ी बन्द कर दी गई है।" स्वामीजी उसी समय गुरुजी के चरण पकड़कर क्षमा-याचना करने लगे, परन्तु सुनवाई नहीं हुई। कई दिन पश्चात् नयनसुखजी ने विनय करके दयानन्दजी का दण्डीजी के दरबार में आना खुलवा दिया।

स्वामीजी का दरबार में आना एक बार फिर बन्द हुआ। एक दिन दयानन्दजी ने गुरुजी की बैठक के स्थान में झाड़ू देकर कूड़ा-कर्कट एक कोने में एकत्र कर दिया और बुहारी रखकर कूड़ा फेंकने के लिए कोई वस्तु ढूँढने लगे। इतने में दण्डीजी टहलते हुए उसी ओर आ गये और उनका पाँव उस कूड़े पर पड़ गया। बस, दण्डीजी क्रुद्ध हो गये। दयानन्दजी को आलसी, अनुद्यमी आदि अनेक वचन कहकर उनकी डेवढ़ी बन्द कर दी। उस समय स्वामीजी का अध्ययन समाप्त होने में कुछ ही समय शेष रह गया था। स्वामीजी ने नन्दन चौबे और नयनसुख के पास जाकर कहा—"गुरुजी वास्तव में तो कुपित नहीं हैं, फिर भी कुछ आवेश में आकर उन्होंने मेरा आना-जाना बन्द कर दिया है। मेरी विद्या-समाप्ति में थोड़े ही दिन शेष हैं। मैं नहीं चाहता कि गुरुजी की अप्रीति लेकर जाऊँ, अतः आप दोनों साथ चलकर मेरा अपराध क्षमा करा दीजिए।" दोनों को लेकर दयानन्दजी दण्डीजी के दरबार में आये और दोनों हाथों से गुरु-

चरणों को पकड़कर अपना अपराध क्षमा कराया। दण्डीजी कभी-कभी शिष्यों पर कुपित हो जाया करते थे, परन्तु उनका कोप दूध के उबाल की भाँति क्षणिक हुआ करता था। वे सहज कृपालु थे और शिष्यों पर तो उनकी प्रीति का कोई पार नहीं था। वे तुरन्त सन्तुष्ट हो गये और दयानन्द के लिए दरबार का द्वार खोल दिया।

दयानन्द की आदर्श गुरु-दक्षिणा

प्राचीन परम्परा के अनुसार विद्या-समाप्ति पर विद्यार्थी का एक विशेष संस्कार होता है, जिसे समावर्तन-संस्कार कहते हैं। उस दिन शिष्य अपने सामर्थ्य के अनुसार गुरु को कुछ दक्षिणा भी देता है। दयानन्द के समावर्तन-संस्कार का दिन भी आ पहुँचा। दयानन्दजी ने दण्डीजी से क्या-क्या पढ़ा, उसका पूर्ण विवरण आज प्राप्त नहीं है, परन्तु इतना निश्चित है कि व्याकरण के प्रामाणिक आर्ष-ग्रन्थ अष्टाध्यायी और महाभाष्य पूर्णतया पढ़े। इनके साथ-साथ वेदान्तादि-दर्शनों, उपनिषदों तथा निरुक्तादि के विशेष-विशेष स्थलों का भी गुरुमुख से अनुशीलन किया। पाठ के अतिरिक्त भी एकान्त में गुरु-शिष्य का समागम होता था। दोनों संसार-त्यागी विरक्त संन्यासी थे, अत: उनके वार्तालाप का विषय सांसारिक तो निश्चय ही नहीं होता था। अधिकतर वह दार्शनिक, आध्यात्मिक एवं देशदशा-सम्बन्धी ही होता था। विरजानन्दजी कई बार पढ़ाते-पढ़ाते अपने शिष्यों से कहा करते थे—"इस समय मैं तुम्हारे हृदय में जो स्फुल्लिंग डाल रहा हूँ, काल पाकर वह इतना प्रचण्ड हो जाएगा कि उससे इस देश में फैले सभी मत-मतान्तर भस्म होकर समाप्त हो जाएँगे।" औरों के हृदय में वे स्फुल्लिंग सर्वदा के लिए शान्त हो गये, किन्तु दयानन्द के हृदय में वह सचमुच प्रचण्ड ज्वाला के रूप-में परिणत हुआ।

दयानन्द आर्ष-ग्रन्थों का अध्ययन कर कृतार्थ हुए। सोना दिव्य कुन्दन बन गया। दयानन्द की विदाई का समय आ गया। गुरु विरजानन्द लौंगों का अधिक सेवन करते थे। दयानन्द इस बात को जानते थे, अत: वे कहीं से गुरुजी को भेंट करने के लिए कुछ लौंग ले-आये और उन्हें श्रद्धापूर्वक गुरु के चरणों में अर्पित कर दिया। गुरु के चरणों का स्पर्श कर उन्होंने कहा—"महाराज! आपने असीम कृपा करके मुझे विद्यादान दिया है। उसके लिए मेरा रोम-रोम आपका धन्यवाद करता है। प्रभो! अब आपका शिष्य आपसे देशाटन की आज्ञा ग्रहण करना चाहता है।"

सामान्यत: विरजानन्द अपने शिष्यों से कोई दक्षिणा नहीं लेते थे। उन्हें आशीर्वाद देकर समावर्तित कर देते थे, परन्तु आज उनका व्यवहार विलक्षण था। उन्होंने दयानन्द से पूछा—"दयानन्द! क्या लाये हो?" उनकी इस अपूर्व जिज्ञासा को सुनकर उनके अन्य शिष्य घबरा गये। उन्हें अपनी-अपनी दक्षिणा की अल्पता एवं तुच्छता अखरने लगी। वे सोचने लगे—"आज गुरुजी को क्या हो गया है?" जो गुरु किसी छात्र से दक्षिणा के नाम पर एक कण भी स्वीकार नहीं करता था, आज वही एक अकिञ्चन कौपीनधारी संन्यासी से दक्षिणा की जिज्ञासा कर रहा है! विद्यार्थी इस प्रकार के विचारों में उलझ रहे थे कि दयानन्द ने धीर-गम्भीर भाव से कहा—"थोड़े-से लौंग लाया हूँ।"

विरजानन्दजी ने अपने तेजस्वी स्वर में कहा—"क्या हमारे घोर परिश्रम का यही पारिश्रमिक है?"

महागुरु के इस विलक्षण परिवर्तित भाव से सभी छात्र घबरा गये, परन्तु दयानन्द ने अत्यन्त शान्त एवं विनीत भाव से निवेदन किया—"मैं अकिञ्चन संन्यासी हूँ, ये लौंग भिक्षा करके लाया हूँ। गुरुजी! विश्वास कीजिए। मेरे पास है ही क्या, जो आपको भेंट करूँ।"

गुरुजी इसपर अत्यन्त स्नेहसिक्त स्वर से बोले—"दयानन्द! क्या तुम समझते हो कि मैं तुमसे वह वस्तु माँगूँगा, जो तुम्हारे पास नहीं है? मैं तुमसे गुरु-दक्षिणा में वह वस्तु लेना चाहता हूँ, जो तुम्हारे पास है।"

इतना सुनकर आदर्श शिष्य ने महागुरु के चरणों पर अपना सिर रख विनय-भरे शब्दों में कहा—"गुरुदेव! यह सेवक अपने मन-सहित तन को आपके चरणों में अर्पित किये हुए है। श्री-मुख से जो आदेश होगा, उसे शिरोधार्य्य करूँगा—आजीवन निभाऊँगा। गुरु महाराज! आज्ञा कीजिए।"

अपने प्यारे शिष्य से प्रोत्साहनपूर्ण वाक्य सुनकर विरजानन्दजी का रोम-रोम हर्षित हो गया! उनके हृदय में शिष्य-स्नेह का स्रोत प्रबलता से प्रवाहित होने लगा। उन्होंने आशीर्वाद पूर्वक स्वामीजी से कहा—"वत्स! भारत देश में दीन-हीन जन अनेकविध दु:ख पा रहे हैं; जाओ उनका उद्धार करो। मत-मतान्तरों के कारण जो कुरीतियाँ प्रचलित हो गई हैं, उनका निवारण करो। आर्यजनता की बिगड़ी हुई

दशा को सुधारो। आर्यसन्तान का उपकार करो। ऋषि शैली प्रचलित करके वैदिक ग्रन्थों के पठन-पाठन में लोगों को प्रवृत्तिशील बनाओ। गङ्गा-यमुना के निरन्तर गतिशील प्रवाह की भाँति लोकहित-कामना से क्रियात्मक जीवन बिताओ। प्रिय पुत्र! गुरु-दक्षिणा में यही वस्तु मुझे दान करो। अन्य किसी सांसारिक पदार्थ की मुझे चाह नहीं है।''

स्वामी दयानन्दजी ने गुरुदेव के वचन को स्वीकार किया और गद्‌गद कण्ठ से कहा कि—''श्री महाराज देखेंगे कि उनका प्रिय शिष्य इन आज्ञाओं का किस प्रकार प्राणपन से पालन करता है।'' श्री विराजनन्दजी ने पुलकित-गात्र होकर अन्त में फिर नतशिर शिष्य के शिर पर हाथ रक्खा और भूयोभूयः आशीर्वाद देकर कहा—''बहुत अच्छा दयानन्द! जाओ, ईश्वर आपको सुख-सफलता-सम्पन्न करे! आप सफल-मनोरथ, सिद्धकाम हों।''

स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी गुरु-चरण-कमलों का गाढ़ आलिङ्गन करके वहाँ से विदा हुए और आगरा जाने की तैयारी करने लगे। पृथक् होते समय शिष्य को विरजानन्दजी ने जो अन्तिम बात कही, वह यह थी—''दयानन्द! स्मरण रखना, मनुष्यकृत-ग्रन्थों में परमात्मा और ऋषि-मुनियों की निन्दा भरी पड़ी है, परन्तु आर्ष-ग्रन्थों में इस दोष का लेश भी नहीं है। आर्ष और अनार्ष-ग्रन्थों की यह बड़ी परख है। इस कसौटी को कभी न छोड़ना।''

गुरुदेव का आशीर्वाद प्राप्त कर दयानन्द लोकोपकार और लोकोद्धार में प्रवृत्त हुए। दयानन्दजी बीच-बीच में गुरुजी के पास आते रहे और अपनी शंकाएँ मिटाते रहे।

उधर विरजानन्दजी दयानन्द के कार्य का उत्सुकता से निरीक्षण करते थे। एक बार दयानन्द मेरठ में विराजमान थे कि उनके पास दण्डीजी का यह सन्देश पहुँचा—''दयानन्द! तुम्हारी धवल कीर्ति अभी तक हमारे पास नहीं पहुँची।'' विरजानन्दजी के इस सन्देश में कितनी व्यग्रता और उत्कण्ठा भरी हुई है!

एक बार दयानन्द प्रचार करते-करते अपने गुरु की नगरी मथुरा में आ विराजे और दैवयोग से उनकी भेंट अपने सहपाठी युगलकिशोर से हो गई। अभिवादन के पश्चात् उन दोनों में शास्त्रालाप भी छिड़ गया। दयानन्दजी ने कण्ठी और तिलक का प्रबल खण्डन किया। पं० युगलकिशोर से उनकी युक्तियों और प्रमाणों का कोई उत्तर न

बन सका, अत: वे कहने लगे—"मैं गुरुजी से तुम्हारे विरुद्ध शिकायत करूँगा।" दयानन्द ने कहा—"भले ही करो।"

युगलकिशोर ने गुरुजी के पास जाकर कहा—"महाराज! आपने दयानन्द को विद्या प्रदान कर साँप को दूध पिलाया है। वह कण्ठी-तिलक का खण्डन करता-फिरता है।" यह सुनकर हृष्टमना विरजानन्दजी ने पूछा—"क्या तुम सत्य कह रहे हो? तुम्हें यह वृत्तान्त किसने बताया है?" युगलकिशोर बोले—"और कौन बताएगा? स्वयं मेरे साथ वार्तालाप के प्रसंग में दयानन्द ने इनका खण्डन किया है।" गुरुवर और अधिक उल्लसित होकर कहने लगे—"युगलकिशोर! यह शुभ संवाद सुनाने के लिए तुम्हें अनेक साधुवाद!"

युगलकिशोर को आशा थी कि गुरुजी यह वृत्तान्त सुनकर दयानन्द के विषय में भला-बुरा कहेंगे। वैसा न करके उन्होंने उलटे प्रसन्नता प्रकट की। इसपर चकित और खिन्न होकर युगलकिशोर ने कहा—"तो क्या मैं भी कण्ठी तोड़ दूँ, तिलक-छाप मिटा दूँ?"

"क्या तुमने भी ये मूर्खता के चिह्न धारण किये हुए हैं?" विरजानन्दजी ने पूछा।

यह सुनकर युगलकिशोर ने अपने कण्ठ से कण्ठी उतारकर फेंक दी और भाल पर हाथ फेरकर तिलक भी मिटा दिया।

इतना करने पर युगलकिशोर ने फिर पूछा—"आपने हम लोगों को ऐसा उपदेश कभी नहीं दिया।" विरजानन्दजी ने कहा—"मुझे तुममें से एक भी इस भारी भार को उठाने में समर्थ दिखाई नहीं दिया।"

विरजानन्दजी सच्चे परीक्षक थे। वे जानते थे कि कौन किस कार्य के उपयुक्त है। युगलकिशोर विद्वान् और बुद्धिमान् थे, परन्तु वे गृहस्थ थे। प्रत्येक गृहस्थ की भाँति वे भी गृहस्थी की उलझनों में फँसे रहते थे, अत: विरजानन्द की दृष्टि में दयानन्द के सिवा अन्य कोई इस भार को उठाने में समर्थ नहीं था।

५

कार्यक्षेत्र में अवतरण

पूर्व-समय में, लोकहितार्थ मृत्यु को भी वश में करनेवाले महायोगी, महात्मा अगस्त्य के आश्रम से जैसे मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजी दिव्य अस्त्र-सम्पन्न होकर जन-कल्याण के लिए अग्रसर हुए थे, वैसे ही महात्मा विरजानन्दजी की कुटी से दयानन्द विद्या के अलौकिक अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होकर कार्यक्षेत्राभिमुख हुए। श्रीकृष्ण से प्रोत्साहन पाकर जैसे अर्जुन की नाड़ी-नाड़ी और नस-नस में वीरता का रक्त खौलने लग गया था, वैसे ही विरजानन्दजी की वचन-विद्युत् ने दयानन्द की काया में क्रियात्मक जीवन की कल्पनातीत गति उत्पन्न कर दी। वे एक सुशिक्षित, निपुण सेनापति की भाँति अतिसाहस से उस क्षेत्र में उतर आये, जहाँ मत-मतान्तरों का घोर संग्राम हो रहा था, ईर्ष्या-द्वेष के धूम्र से लोगों की साँस घुटी जाती थी, आँखें बन्द हुई जाती थीं; पैशुन्य, निन्दा और लांछन की धूल उड़ रही थी और बड़े-बड़े वीरों ने भी स्वार्थ-पाठ का ही सबसे अधिक माहात्म्य मान रक्खा था।

स्वामीजी के पास परहित-साधन और परमार्थोपदेशरूपी दो वरुणास्त्र थे। इन्हीं को लेकर वे रण-भूमि में अपनी वीरता का परिचय देकर साम्प्रदायिक सैनिकों के उत्पन्न किये हुए धूल-धूएँ का उपशमन करने में प्रवृत्त हुए।

दयानन्द वैशाख संवत् १९२० के अन्त में आगरा नगर में पधारे। यह नगर उस समय बड़ी रौनक़ पर था। हाईकोर्ट वहाँ होने से इस नगर की बड़ी शोभा थी। स्वामीजी ने वहाँ यमुना के किनारे भैरव मन्दिर के निकट लाला गल्लामल रूपचन्द अग्रवाल के बगीचे को अपना निवास-स्थान बनाया। उसी उद्यान में एक और साधु निवास करता था। वह स्वामीजी के दर्शनों से ही उनका श्रद्धालु-भक्त बन गया और उसने पोस्टमास्टर-जनरल के कार्यालय में रायबहादुर पण्डित सुन्दरलाल और नगर के अनेक सद्गृहस्थों को जाकर समाचार दिया कि अमुक उद्यान में एक बड़े विद्वान् पधारे हैं। उनका उपदेश तो पृथक् रहा, उनके दर्शनों से ही शान्ति प्राप्त हो जाती है। अब स्वामीजी के पास बहुत-से नगरवासी आने लगे। पण्डित सुन्दरलाल

ने भी दर्शन करके तृप्ति प्राप्त की।

उन्हीं दिनों कैलाशपर्वत नामक एक संन्यासी उसी उद्यान में आकर ठहरे और गीता की कथा करने लगे। स्वामीजी से भी उनका मेल-जोल हो गया। एक दिन कैलाशपर्वत कथा करते-करते गीता (१८।६६) के "**सर्वधर्मान् परित्यज्य**", इस श्लोक का ठीक अर्थ नहीं लगा सके। एक भक्त ने स्वामी दयानन्दजी से इस श्लोक का अर्थ करने की प्रार्थना की। स्वामीजी ने कहा—"इस पद में जो समास है, उसमें अकार का लोप हुआ है, इसलिए '**सब अधर्मों को छोड़कर**' ऐसा अर्थ करना चाहिए।"

यह अर्थ सुनकर लोग परम सन्तुष्ट हुए और धन्य-धन्य कहने लगे। इस यशोगान में कैलाशजी ने भी भाग लिया। उन्होंने लोगों से यह भी कहा—"वास्तव में दयानन्द बहुत बड़े विद्वान् हैं। यदि आपमें से किसी को कुछ पढ़ना हो तो उन्हीं से पढ़ना चाहिए।" इस घटना से स्वामीजी की कीर्ति सारे नगर में फैल गई और धर्म-जिज्ञासुओं की मण्डलियाँ उनके पास आने लगीं।

कैलाश स्वामी तो दस दिन उद्यान में रहकर भरतपुर चले गये, परन्तु स्वामीजी वहीं रहे। एक बार रविवार के दिन सुन्दरलाल ने स्वामीजी से निवेदन किया—"संस्कृत अब तो मृत मानी जाती है, व्यवहार में काम नहीं आती। आपने इसपर इतना परिश्रम क्यों किया है?" महाराज ने उत्तर दिया—"इससे अपना परलोक सुधारेंगे और यदि अन्य कोई पुरुष भी अपना कल्याण करना चाहे तो उसे सहायता देने के लिए उद्यत हैं।" इस उत्तर से प्रेरित होकर पं० सुन्दरलाल और बालमुकन्दजी ने स्वामीजी से अष्टाध्यायी पढ़ना आरम्भ कर दिया।

पञ्चदशी की कथा

कुछ लोगों के आग्रह पर स्वामीजी ने पञ्चदशी की कथा आरम्भ की। कथा करते हुए एक दिन उसमें एक ऐसा स्थल आ गया कि कभी-कभी ईश्वर को भी भ्रम हो जाता है। स्वामीजी ने उसपर आक्षेप करते हुए कहा—"यह कैसी बात है? जिसको भ्रम हुआ वह ईश्वर कहाँ रहा? ईश्वर को कभी भ्रम नहीं हुआ करता। इससे सिद्ध हुआ कि यह ग्रन्थ भ्रममूलक और मनुष्यकृत है।" ऐसा कहकर उन्होंने पुस्तक पटक दी। लोगों ने बहुत आग्रह किया, परन्तु दयानन्दजी ने वह पुनः नहीं उठाई।

नेती-धोती द्वारा रोग-निवृत्ति

पण्डित सुन्दरलाल के मस्तक में कोई ऐसा दोष था, जिससे उन्हें सुगन्धि-दुर्गन्धि का ज्ञान नहीं होता था। स्वामीजी ने उन्हें नेती-धोती और न्योली क्रियाएँ विधिपूर्वक सिखाकर स्वस्थ कर दिया और उनका वह दोष सर्वथा दूर हो गया। अन्य भी अनेक जनों ने स्वामीजी से योगक्रियाएँ सीखीं।

आगरा में रहते हुए स्वामीजी के शरीर पर फुंसियाँ निकल आयीं। एक दिन कुछ लोगों के साथ वे यमुना के राजघाट पर गये और वहाँ उन्होंने बस्ती कर्म द्वारा तीन-चार बार मूलद्वार द्वारा जल चढ़ाकर निकाल दिया। जब उदर पूर्णतया शुद्ध हो गया, तब स्नान करके अपने स्थान पर लौट आये। उस दिन उन्होंने केवल दाल-भात ही ग्रहण किया। स्वामीजी ने यह क्रिया नर्मदा के समीप विन्ध्याचल पर रहनेवाले एक कनफटे नाथ के पास कई दिन रहकर सीखी थी। इस क्रिया से उनकी फुंसियाँ शान्त हो गईं।

प्रथम रचना-सन्ध्या

आगरा-निवास के समय स्वामीजी ने सन्ध्या की एक पुस्तक का सम्पादन किया। महाशय रूपलाल ने डेढ़ सहस्र रुपये लगाकर तीस सहस्र प्रतियाँ छपवाई थीं।

मूर्त्तिपूजा का खण्डन

स्वामीजी इन दिनों मूर्त्तिपूजा का खण्डन किया करते थे। परिणामस्वरूप आगरा के दो प्रसिद्ध पण्डित चेतूलाल और कालिदास इस बात पर सहमत हो गये कि मूर्त्तिपूजा वेद-विरुद्ध है, परन्तु कहने लगे कि गृहस्थ होने के कारण हम स्वतन्त्र नहीं हैं, इसलिए इसके विरुद्ध नहीं कह सकते। स्वामीजी के उपदेश से पं० सुन्दरलाल ने भी शिवलिंग-पूजा छोड़ दी।

एक मथुरावासी पण्डित घासीराम आगरा आया। वह स्वामीजी के सत्संग से इतना प्रभावित हुआ कि उसे मूर्त्तिपूजा से अति घृणा हो गई।

एक अनपढ़ ब्राह्मण उन्हीं दिनों आगरा में आया। वह योग के ६४ आसन लगाना जानता था। वह जितेन्द्रिय और सदाचारी था। स्वामीजी ने उसे वस्त्र आदि धोने के कार्य पर रख लिया। जब कभी स्वामीजी मौज में आते, तब उससे आसन लगवाकर देखा करते थे।

१८ घण्टे की समाधि

स्वामीजी उन दिनों नियम से दोनों समय योगारूढ़ हुआ करते थे। किसी-किसी दिन पहरों अचल भाव से ध्यानावस्थित रहते थे। आगरा में लोगों ने उन्हें उठारह घण्टे तक भी समाधिस्थ देखा था।

स्वामीजी यहाँ भागवत का तीव्र खण्डन किया करते थे और महाभारत को विचारा करते थे। यदि किसी विषय में सन्देह हो जाता तो स्वामीजी पत्र-व्यवहार द्वारा अथवा स्वयं जाकर गुरुजी से निवारण करा लेते थे।

वेदों की खोज में धौलपुर की ओर

स्वामीजी आगरा में लगभग दो वर्ष रहे। महाराज वेदों पर विचार करना चाहते थे, परन्तु जब आगरा में वेद उपलब्ध नहीं हो सके तब वे वेदों के अन्वेषण में धौलपुर पधारे। पन्द्रह दिन वहाँ ठहरकर फिर आबूपर्वत चले गये।

ग्वालियर में

जिस समय स्वामीजी ग्वालियर पधारे, उस समय ग्वालियर-नरेश जियाजीराव सिन्धिया ने १०८ भागवत पाठ का आयोजन कर रक्खा था। माघशुक्ला नवमी संवत् १९२२ से आरम्भ करके माघ-पूर्णिमा के दिन उसकी समाप्ति का निश्चय था। भागवत-सप्ताह के लिए दूर-दूर से पण्डित लोग बुलाये गये। महाराजा ने अपने कर्मचारियों द्वारा भागवत-सप्ताह का माहात्म्य स्वामीजी से पुछवाया। स्वामीजी ने कहा—"ऐसे कार्यों के फल कष्ट-क्लेश के सिवा कुछ नहीं हुआ करते। विश्वास न हो तो करके देख लो।" यह सुन महाराजा हँसकर बोले—"स्वामीजी संन्यासी हैं, अतः जो चाहें कह सकते हैं। हम गृहस्थ हैं, हमें तो सब-कुछ करना पड़ता है।" अन्त में जब महाराज की ओर से स्वामीजी को कथा में सम्मिलित होने का निमन्त्रण आया, तब स्वामीजी ने कहला भेजा—"गायत्री का पुरश्चरण होना चाहिए। भागवत-सप्ताह में हम सम्मिलित नहीं होंगे।"

सम्पूर्ण राज्य में प्रसन्नता का सागर उमड़ पड़ा था। सारा नगर स्वच्छ, सुसिक्त और सुसज्जित था। काशी के, कलकत्ता के, दक्षिण के तथा अन्यान्य स्थानों के अनेक शास्त्री-शिरोमणि निमन्त्रित होकर आये थे। आस-पास के राज्यों के सुप्रतिष्ठित सज्जन और राजा लोग तथा राजबन्धु-वर्ग आकर स्ववेशभूषा से नगर की शोभा बढ़ा रहे थे। समग्र राज्य की विभूतियाँ वहाँ एकत्र हो रही थीं। उत्तुंग राज-

प्रासाद से लेकर एक घसियारे की पर्ण-कुटी तक सब कहीं यह उत्सव मनाया जा रहा था। घर-बाहर, हाट-बाट, जहाँ देखो भागवत-कथा की चर्चा चल रही थी। उसी समय स्वामीजी ने रामकुई पर भागवत-खण्डन पर व्याख्यान देना आरम्भ कर दिया। उस निर्भय परमहंस के व्याख्यानों में भी भारी भीड़ होने लगी। स्वामीजी की अभयता ने नगरनिवासियों को भी निडर बना दिया। वे उत्साह से भागवत-खण्डन सुनते और स्वामीजी के कथन की सत्यता स्वीकार करते थे।

स्वामीजी नित्यप्रति व्याख्यान में पण्डितों को शास्त्रार्थ के लिए ललकारते रहे; विज्ञापनों द्वारा भी निमन्त्रित करते रहे, परन्तु इतने विख्यात विद्वानों में से एक ने भी उनके सम्मुख आने का साहस नहीं किया। विषूचिका के कारण रामकुई पर बहुत रोना-पीटना होने लगा, इसलिए स्वामीजी वहाँ से डेरा उठाकर बाबाजी के उद्यान में चले गये।

करौली में

ग्वालियर से स्वामीजी महाराज सन् १८६५ मई के अन्त में करौली पधारे। यहाँ महाराजा के साथ धर्म-विषय पर उनका वार्तालाप होता रहा। पण्डितों से भी कुछ शास्त्रालाप होता रहा। यहाँ स्वामीजी वेदाभ्यास में विशेष समय लगाया करते थे। करौली में स्वामीजी ने कई मास निवास किया।

जयपुर में

करौली से प्रस्थान कर स्वामीजी आश्विन संवत् १९२२ (अक्तूबर सन् १८६५) में जयपुर पधारे। वहाँ उन्होंने रामकुमार नन्दराम मोदी के उद्यान में डेरा डाला। श्रवणनाथ के शिष्य लक्ष्मणनाथ भी वहाँ निवास करते थे। उन्हें महाराजा रामसिंह जोधपुर से लाये थे। उन्होंने स्वामीजी के साथ ब्रजनन्दजी के मन्दिर में सम्भाषण किया। उन्हें निश्चय हो गया कि ये सकल शास्त्र-निष्णात और योगी हैं। उन्होंने स्वामीजी से प्रार्थना की—"कृपा करके आप इसी मन्दिर में विराजें। हमारा साम्प्रदायिक लोगों के साथ एक शास्त्रार्थ होनेवाला है। आप कृपा कर उसमें हमारी सहायता कीजिए।" स्वामीजी ने उत्तर दिया—"यदि शास्त्रार्थ में मुझे बुलाना चाहते हैं तो स्मरण रखिए, मैं जो कुछ कहूँगा, अपने विचारों के अनुकूल ही कहूँगा।" यह कहकर स्वामीजी अपने निवास-स्थान पर चले गये।

व्याकरण पर प्रश्नोत्तर

जयपुर में स्वामीजी ने व्याकरण-सम्बन्धी प्रश्न लिखकर पण्डितों के पास भेजे। पण्डित-प्रवरों ने उत्तर में गाली प्रदान करना ही पर्याप्त समझा। स्वामीजी ने उनके लेख में आठ प्रकार के दोष निकालकर हरिश्चन्द्र आदि भद्र पुरुषों के पास पत्र भेजा। उन्होंने स्वामीजी के पक्ष की पुष्टि करते हुए पण्डितों के व्यवहार की निन्दा की। स्वामीजी ने पण्डितों के पास जो प्रश्न भेजे थे, उनमें दो ये भी थे—

१. "**कल्म च किं भवति।**"

२. "**येन कर्मणा सर्वे धातवः सकर्मकाः किं तत्कर्म?**"

एक दिन सब पण्डित मिलकर व्यास बक्षीरामजी के पास गये और बोले—"किसी प्रकार आप स्वामी दयानन्दजी से हमारा शास्त्रार्थ करा दीजिए।" पण्डितों की प्रेरणा से व्यासजी ने स्वामीजी को महलों में निमन्त्रित किया। पण्डित भी वहाँ एकत्र हो गये। पण्डितों की ओर से एक पण्डित ने स्वामीजी से पूछा—"क्या १५ प्रश्न और आठ प्रकार के दोष आपने ही लिखकर भेजे थे?" स्वामीजी ने कहा—"हाँ, मैंने ही भेजे थे।" तत्पश्चात् पण्डित ने 'कल्म' शब्द की व्याख्या की। स्वामीजी ने उसका तुरन्त खण्डन कर दिया। इस पर पण्डित लोग अति विस्मित हुए और कहने लगे—"अच्छा, इसका अर्थ आप ही कीजिए।" स्वामीजी ने कहा कि जो कुछ परस्पर कथन हो वह लिखा जाना चाहिए, परन्तु पण्डितों ने स्वीकार न किया। तब स्वामीजी ने 'कल्म' शब्द की बड़ी योग्यता से व्याख्या की। अन्य पण्डित तो चुपचाप सुनते रहे, परन्तु एक मैथिल पण्डित ने आक्षेप करते हुए कहा—"यह अर्थ कहाँ लिखा है?"

स्वामीजी ने उत्तर दिया—"जो कुछ मैंने वर्णन किया है उसका तात्पर्य महाभाष्य के अनुकूल है।" मैथिल पण्डितजी ने कहा—"महाभाष्य तो व्याकरण ही नहीं है।" यह सुनकर स्वामीजी ने उसे यही बात कि महाभाष्य की गिनती व्याकरण में नहीं है, लिख देने के लिए बाधित किया, परन्तु वह पण्डित यह कहते हुए कि—"अब जाने दो, रात बहुत बीत गई। आपको भी नगर से बाहर उद्यान में जाना है। द्वार बन्द हो जाएँगे, फिर आपको कष्ट होगा," वहाँ से उठ खड़े हुए। स्वामीजी ने उठते हुए कहा—"यह एक विलक्षण सभा है, जिसमें महाभाष्य व्याकरण नहीं माना जाता और यह पण्डितजी भी एक विचित्र बुद्धि के धनी हैं, जो महाभाष्य को

व्याकरण नहीं मानते!''

जैनमुनि मौन हो गये

एक जैनमुनि ने स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने की इच्छा प्रकट की। स्वामीजी ने कहलवा दिया—''जब आपका जी चाहे पधारिए, मैं वार्तालाप के लिए उद्यत हूँ।'' जैनमुनि ने कहलवा दिया—''किसी के स्थान पर जाने से हमारे नियमों में बाधा पड़ती है, अतः हमारा आना नहीं हो सकेगा। यदि कहीं आते-जाते किसी उद्यान आदि में मिलाप हुआ तो धर्म-चर्चा करेंगे।'' इसपर स्वामीजी ने कहला दिया कि जब ऐसा मिलाप होगा, तब देखा जाएगा। इस बीच पत्रों द्वारा ही वार्तालाप कीजिए। फिर स्वामीजी ने १५ प्रश्न लिखकर जैनमुनि के पास भेज दिये। प्रश्नों का उत्तर तो मुनिजी की समझ में नहीं आया, परन्तु स्वमतानुसार उसने आठ प्रश्न लिखकर स्वामीजी की सेवा में भेज दिये। अपने प्रश्नों का तत्काल और युक्तियुक्त उत्तर पाकर मुनिजी ने मौन साधने में ही अपना कल्याण समझा।

ठाकुर स्वामीजी के भक्त बन गये

अचरौल के ठाकुर रणजीतसिंहजी एक सत्संगी पुरुष थे। साधु-सन्तों में उनकी बड़ी श्रद्धा थी। अपने एक मित्र से स्वामीजी की प्रशंसा सुनकर वे उनके दर्शनार्थ जयपुर आये और उन्हें अचरौल पधारने के लिए निमन्त्रण दे गये। स्वामीजी को लिवा लाने के लिए अगले दिन उन्होंने एक मझोली भिजवाई, परन्तु वे पैदल ही वहाँ पहुँच गये। स्वामीजी के सत्संग से ठाकुरजी को बड़ा लाभ हुआ। उनके हृदय की गाँठें खुल गईं, भ्रम मिट गये, संशय-निवृत्त होकर उन्हें सन्मार्ग का ज्ञान प्राप्त हो गया। मूर्त्तिपूजा से उनकी आस्था उठ गई।

प्रथम चार दिवस तो स्वामीजी का आसन राजमन्दिर में ही लगा रहा, परन्तु स्वामीजी एकान्तसेवी थे, इसलिए उनकी आज्ञा से, एकान्तप्रदेश में ठाकुरजी ने एक स्वच्छ पर्ण-कुटी निर्मित करा दी। वहाँ प्रतिदिन ठाकुरजी तथा अन्य अनेक सत्संगी सज्जन उनकी सेवा में उपस्थित हुआ करते थे। स्वामीजी मनुस्मृति, उपनिषद्, गीता आदि ग्रन्थों के प्रकरण सुनाकर कृतार्थ किया करते थे। बहुत-से विद्यार्थी भी स्वामीजी के पास जाते थे। उन्हें वे ब्रह्मचर्य आदि का उपदेश करते थे।

एक दिन ठाकुरजी का कार्यकर्त्ता हीरालाल कायस्थ मदिरा-

पान किये हुए उसी मार्ग से जा रहा था, जिसके समीप स्वामीजी की कुटी थी। उसे वहाँ पहुँचकर स्मरण हो आया कि जिन स्वामीजी को ठाकुरजी ने बुलवाया है, उनके पास भी चलना चाहिए। वह स्वामीजी के पास चला गया और नमस्कार करके विनीतभाव से पास बैठकर सुनने लगा। उस समय स्वामीजी मनुस्मृति का प्रायश्चित्ताध्याय सुना रहे थे। गोवध, सोने की चोरी, सुरापान आदि पापों के फल अगले जन्म में मिलते हैं। उनका व्याख्यान स्वामीजी ने कुछ ऐसे शब्दों में, कुछ ऐसे ढंग से किया कि हीरालाल का भय के मारे हृदय काँप उठा; वह रोमाञ्चित हो गया। पूर्वकर्मों पर पश्चात्ताप व अश्रुपात करते हुए उसने वहीं यह व्रत धारण किया कि "भविष्य में दुराचरण कदापि नहीं करूँगा।" उस दिन के अनन्तर भ्रमण करने जाते समय वह प्रतिदिन स्वामीजी की सेवा में उपस्थित हुआ करता था।

स्वामीजी चार मास के लगभग वहाँ टिके। नित्यप्रति उपनिषदों और गीता की कथा सुनाया करते थे। प्रतिमा-पूजन का खण्डन करते थे और कहते थे कि ध्यान भीतर करना चाहिए। उस समय उन्होंने भागवत-खण्डन में एक पत्रक भी छपवाया था।

शैव-वैष्णव शास्त्रार्थ-समर में

उन दिनों जयपुर में शैवों और वैष्णवों का विवाद चल रहा था। महाराजा रामसिंहजी वैष्णवों और शैवों के शास्त्रार्थ-संग्राम की व्यवस्था कर रहे थे। दोनों सम्प्रदायों के सन्त, महन्त और पण्डितप्रवर जयपुर में एकत्र हो रहे थे। इस शास्त्रार्थ-समर के सूत्रपातकर्त्ता शैव सम्प्रदाय के सेनापति लक्ष्मणनाथजी थे। यद्यपि नाथजी के कारण शैव प्रबल थे, फिर भी अपनी विजय को निश्चित बनाने के लिए व्यास बक्षीराम आदि शैव पण्डितों ने इस साम्प्रदायिक संग्राम में अपनी ओर से स्वामीजी को सेनापति बनाने का निश्चय किया। दयानन्दजी वैष्णवाचार्यों के साथ भिड़ गये। उनका प्रतिपक्षी वैष्णव सम्प्रदाय का परम पण्डित श्रीयुत हरिश्चन्द्र था। स्वामीजी को यह सिद्ध करना था कि वैष्णव सम्प्रदाय नवीन, काल्पनिक, निर्मूल और आचार-विचार से शून्य है। स्वामीजी ने जब वैष्णव धर्म की पुस्तकों के प्रमाण देकर इस सम्प्रदाय की समालोचना की तब जहाँ वैष्णवों को लज्जा और पराजय ने अभिभूत कर लिया, वहाँ शैवों के हर्ष एवं उल्लास का कोई पार न था। उस विजय से प्रभावित होकर लोग धड़ाधड़ शैव बनने लगे। कण्ठियों का स्थान रुद्राक्ष की मालाएँ लेने

लगीं। महाराज रामसिंह ने भी शैव सम्प्रदाय को स्वीकार कर लिया। इससे राजकीय हाथियों और घोड़ों के गलों में भी रुद्राक्ष की मालाएँ पड़ गईं।

वैष्णव सम्प्रदाय के दिग्गज को परास्त करने के कारण स्वामीजी की कीर्तिचन्द्रिका दसों दिशाओं में प्रकाशित हो गई। पण्डितमात्र पर उनके पाण्डित्य की धाक बैठ गई। इस प्रकार स्वामीजी ने साढ़े चार मास तक जयपुर में निवास किया।

यहाँ पाठक एक बात अवश्य ध्यान में रक्खें, स्वामीजी ने वैष्णव सम्प्रदाय का खण्डन कर शैवमत की स्थापना की। वे स्वयं भस्म रमाते और रुद्राक्ष की माला धारण करते थे, परन्तु मूर्त्तिपूजा का उन्होंने कभी समर्थन नहीं किया। एक भी साक्षी ऐसी नहीं मिलती, जिससे यह सिद्ध होता हो कि उन्होंने स्वयं कभी भी मूर्त्ति-पूजा की हो। शिव-मन्दिरों में महीनों ठहरे, परन्तु लिंग पर एक बार भी जल नहीं चढ़ाया, न उनके सामने दण्डवत् किया और न मस्तक झुकाया। उस समय भी वे वेद पर ही निर्भर थे और लोगों को सन्ध्या तथा गायत्री का उपदेश करते थे।

पुष्कर महा-मेले में

जयपुर से प्रस्थान कर स्वामीजी दूदू, किशनगढ़ और अजमेर होते हुए चैत्र कृष्णपक्ष ११ संवत् १९२२ को पुष्कर पहुँचे। यहाँ उन्होंने ब्रह्माजी के मन्दिर में आसन जमाया और बलपूर्वक प्रतिमा-पूजन का खण्डन आरम्भ कर दिया। बहुत-से ब्राह्मण चिढ़कर स्वामीजी के पास शास्त्रार्थ के लिए आये, परन्तु वहाँ पहुँचकर उनमें से किसी को भी स्वामीजी का सामना करने का साहस न हुआ। तब उन सबने व्यंकट शास्त्री से शास्त्रार्थ करने की प्रार्थना की। व्यंकट शास्त्री ने पहले तो स्वामीजी के पास जाकर शास्त्रार्थ करना स्वीकार कर लिया, परन्तु अन्त में मुकर गया। तब स्वामीजी स्वयं उसके पास गये।

उस समय कोई तीन-चार सौ ब्राह्मण वहाँ एकत्र हो गये थे। वाद का विषय नियत हुआ 'भागवत'। शास्त्रीजी ने भागवत का मण्डन किया, परन्तु स्वामीजी ने उसका खण्डन इतनी प्रबल युक्तियों से, प्रबल प्रमाणों से किया कि व्यंकटजी को अपना बचाव उस विषय से किनारा करने में ही सूझा। वे एक शब्द के शुद्धाशुद्ध उच्चारण पर वाद करने लगे। स्वामीजी उस शब्द को "दैवासुर"

कहते थे और वह ''देवासुर'' कहता था। अन्त में उसने स्वामी-पक्ष को स्वीकार करते हुए कहा—''स्वामीजी की विद्या बड़ी प्रबल है।'' स्वामीजी ने शास्त्रीजी से व्याकरण पर भी घण्टाभर वाद किया और विजयी हुए। शास्त्रीजी ने स्वामीजी की विद्या की प्रभूत प्रशंसा की और उन्हें अपने अघोरी गुरुजी से भी मिलाया। वह अघोरी अति हृष्ट-पुष्ट, बड़ा लम्बा-चौड़ा था। जो कोई उसके पास जाता, उसे वह पत्थर उठा-उठाकर मारा करता था, गालियाँ भी दे दिया करता था। मृतकों की देहों को चिताओं पर से उठाकर खा जाया करता था, परन्तु संस्कृतभाषा का एक अच्छा विद्वान् था। स्वामीजी महाराज उसके साथ देर तक बातें करते रहे। समाप्ति पर उसने सबको अभिमुख करके संस्कृत में कहा—''**पूर्णतः सत्यं दयानन्दस्य कथनं नानेन सह विवादो व्यर्थकलहश्च कर्तव्यः**'' **इति**। फिर उन्हीं शब्दों को व्यंकटजी ने आर्यभाषा में सब उपस्थितजनों को सुनाते हुए कहा—(''स्वामी दयानन्दजी का पक्ष सर्वथा सत्य है। इनसे व्यर्थ कलह न करो।'') यह सुनकर सब ब्राह्मण उदासीन मुख होकर वहाँ से चले गये। व्यंकट शास्त्रीजी का उतने ही समय में स्वामीजी के साथ इतना सख्यभाव हो गया कि उसने स्वामीजी से कहा—''जब कभी आपको शास्त्रार्थ में सहायता की आवश्यकता पड़े तो मुझे स्मरण कीजिएगा। मैं बिना विलम्ब उपस्थित हो जाऊँगा।''

मेले की बड़ी धूमधाम थी। उधर स्वामीजी महाराज भी कुरीतियों का धुआँधार खण्डन कर रहे थे, जिससे उस महा-मेले में एक भारी हलचल मच गई थी। साम्प्रदायिक-सागर दयानन्दजी के वाणी-वायु से विचलित होकर संशय के झकोले खाने लगा। स्वामीजी महाराज के उपदेशों से लोग इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने कण्ठियाँ उतार-उतारकर ब्रह्माजी के मन्दिर के एक कोने में ढेर लगा दिया। ब्राह्मण लोग भागे-भागे फिर व्यंकट शास्त्री के पास गये। उसने कहा—''हम उनसे क्या वादविवाद करें? जो कुछ वह कहता है सब सत्य कहता है, परन्तु इतना अवश्य है कि उसकी चलेगी तब, जब कोई राजा-महाराजा उसका शिष्य बन जाएगा।''

एक दिन स्वामीजी ने पण्डित नानूराम नामक एक प्रतिष्ठित व्यक्ति से कहा कि—''आप इस कण्ठी का बखेड़ा गले में क्यों डाले हुए हैं? इस अवैदिक चिह्न को उतार क्यों नहीं डालते?'' उसने उत्तर दिया कि—''यदि आप लोगों में अब्राह्मण संन्यासी न बने तो

मैं भी कण्ठी बाँधना छोड़ दूँगा।'' स्वामीजी ने कहा—''हम क्या करें ? यहाँ तो आकाश ही बदला पड़ा है। यदि मुझसे हो तो मैं स्पष्ट कहता हूँ कि विद्वान् ब्राह्मण के सिवा अन्य किसी को भी संन्यास लेने का अधिकार नहीं है।''

ब्रह्माजी के मन्दिर के महन्त मानपुरीजी थे। वे बड़े सज्जन पुरुष थे। पहले-पहल, एक बार जब मूर्त्तिभोग के अनन्तर स्वामीजी को उन्होंने दूध दिया तो स्वामीजी ने यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि मैं पत्थर-पूजा का दूध नहीं पीता; उस समय मानपुरीजी रुष्ट हो गये और स्वामीजी को दूध देना बन्द कर दिया, परन्तु पीछे वे प्रसन्न होकर उनके सहायक बन गये। स्वामीजी के साथ उनका सौहार्द भी हो गया। स्वामीजी विनोद में कभी-कभी उन्हें कह दिया करते थे—''पुरीजी! आपको तो यह ढाई मन की मूर्त्ति पारसपत्थर मिल गया है। इससे जितनी सुवर्ण-सिद्धि करो, वह साधु-संन्यासियों को लड्डू आदि से समर्चित करने में समर्पण कर दिया करो। भाँड-धूर्त्त लोगों के लिए कुत्सित व्यय न किया करो।'' महन्त मानपुरीजी सुदृढ़-अंग और बलवान् थे। वे स्वामीजी की सहायता के लिए तैयार रहते थे।

एक दिन बहुत-से ब्राह्मणों ने ऐक्य करके स्वामीजी को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा। वे तो सदा ही सन्नद्ध रहते थे, तुरन्त वहाँ पहुँच गये। शास्त्रार्थ थोड़ी देर ही चला था कि पण्डितों के पैर उखड़ गये। निरुत्तर होकर लगे दायें-बायें झाँकने। इतने में कई लठैत बीच में आ कूदे और स्वामीजी को अवाच्य बकने लगे। वे लोग उस समय ऊधम मचाना ही चाहते थे कि मानपुरीजी वहाँ जा पहुँचे। उन्होंने डाँट-डपटकर उन लोगों को वहाँ से परे खदेड़ दिया। उसी समय सैकड़ों मनुष्यों ने कण्ठियाँ उतारकर पुष्करार्पित कर दीं।

स्वामीजी ने वहाँ रामानुजियों को भी शास्त्रार्थ के लिए पत्र लिखा, परन्तु उन्हें शास्त्रार्थ का साहस न हुआ। स्वामीजी महाराज इस सम्प्रदाय के भ्रममूलक विचारों का खण्डन करते हुए कहते थे—''**तप्ततनुः स्वर्गं गच्छति**'' यह श्लोक ही ठीक नहीं और यदि इसे मान भी लिया जाए तो इसका अच्छा अर्थ यह है कि शम-दम, जप-तप, स्वाध्याय आदि तपस्या से तप्त तनवाला स्वर्ग को जाता है। तप्त का अर्थ 'जलाना' करना भूल है।

एक पण्डा स्वामीजी से कहने लगा—''मैं संन्यासियों का पुरोहित

हूँ। आगे कई संन्यासियों ने मुझे श्लोक बनाकर दिये हैं, आप भी बनाकर दीजिए।'' स्वामीजी ने हँसकर कहा कि अरे! तू हमारा भी पुरोहित बनता है ? उन्होंने श्लोक तो बनाकर न दिया, परन्तु उपदेश करके उसके कण्ठ से कण्ठी उतरवा दी।

उन्हीं दिनों एक द्रविड़ संन्यासी चन्द्रघाट पर आकर ठहरा था। वह पुराणों की कथा कराकर ब्रह्मभोज कराया करता था। उसके साथ शास्त्रार्थ करने के लिए, कोई दो सौ ब्राह्मण, स्वामीजी को वहाँ ले-गये, परन्तु द्रविड़ संन्यासी सम्मुख नहीं हुए।

शिवदयाल नामक एक पुजारी ब्रह्मा की पूजा किया करता था। स्वामीजी ने उसे कहा—''शिवदयालजी! क्या आपका देव आपसे वार्तालाप भी किया करता है ?'' जब वह नक्कारा बजाता तो महाराज उससे कहते कि चमड़ा कूटने से क्या लाभ है ? झाँझ बजाने से भी उसे रोकते थे। शिवदयाल ने प्रार्थना की कि मुझे ईश्वर का नाम बताइए। स्वामीजी ने उसे ईश्वर का नाम 'सच्चिदानन्द' बताया। उसने स्वामीजी से उपदेश लेकर कण्ठी उतार दी, मूर्त्तिपूजन छोड़ दिया और घाटों पर अन्य पण्डों की भाँति माँगने जाना भी त्याग दिया।

एक दिन, एक वृद्धा देवी ब्रह्माजी के मन्दिर में मूर्त्ति-दर्शन करके लौटते समय स्वामीजी के दर्शनार्थ भी पधारी। स्वामीजी ने पूछा—''माता! कहाँ से आ रही हो ?'' उसने कहा—''ब्रह्माजी के दर्शन करके आई हूँ।'' स्वामीजी बोले—''क्या ब्रह्माजी ने आपको कोई उपदेश भी किया है ?'' वृद्धा ने कहा—''हाँ, किया है।'' तब स्वामीजी तुरन्त अपने आसन से उठ खड़े हुए और उस वृद्धा देवी को साथ लेकर ब्रह्माजी की प्रतिमा के समीप जा उपस्थित हुए और उस वृद्धा से बोले—''मातः! अब मेरे सम्मुख, इस मूर्त्ति को कहो कि बोले,'' उस वृद्धा ने हँसकर कहा—''स्वामीजी! यह मूर्त्ति तो क्या, आपके सामने सभी चुप हो जाते हैं। जो बोलता है, आपकी पीठ-पीछे ही बोलता है।''

एक दिन एक सेठ ने स्वामीजी से आकर पूछा—''महाराज! मैं मन्दिर बनवाना चाहता हूँ। इसमें आप क्या सम्मति देते हैं ?'' महाराज ने गम्भीर-भाव से उत्तर दिया—''सेठजी! किसी अन्य धर्म-कार्य में धन व्यय करो, जिससे अपना और दूसरों का कल्याण हो।'' स्वामीजी का उपदेश सुनकर उस सेठ ने मन्दिर बनाने का विचार छोड़ दिया।

स्वामीजी प्रायः कहा करते थे कि अनेक स्तोत्र जो आचार्यों के

नाम से प्रचलित हैं, वास्तव में पण्डितों ने बनाकर उनके नाम से विख्यात किये हैं। भागवत भी व्यासकृत नहीं, अपितु बोपदेव का बनाया हुआ है। वे पण्डे-पुरोहितों को कहा करते थे कि सत्य के प्रचार से इसलिए न हिचकिचाओ कि आजीविका जाती रहेगी। खीर-पूड़ी आदि प्रारब्ध-जन्य भोग तुम्हें सत्यप्रचार से भी पुष्कल प्राप्त होते रहेंगे। यहाँ रंगाचार्य के एक शिष्य ने भी स्वामीजी से गीता के श्लोक पर कुछ वार्तालाप किया था, परन्तु वह अत्यन्त हठीला था।

एक व्यक्ति के पूछने पर स्वामीजी ने कहा—"शिव कल्याणकारी परमेश्वर का नाम है, उसे मैं मानता हूँ, परन्तु पार्वती के पति में मैं विश्वास नहीं रखता।"

स्वामीजी के सन्तोष, क्षमा, शान्ति और सरलता का सभी सन्त लोग यश गाते। उनकी विद्वत्ता का लोहा सारी पण्डित-मण्डली ने मान लिया था। उनके विजय-नाद की गम्भीर ध्वनि से पुष्कर से लेकर मरुभूमि के दूर-दूर के प्रदेश गुंजायमान हो गये थे। अनेक सज्जनों ने स्वामीजी को अपने नगरों में पधारने के लिए निमन्त्रण भी दिये।

अजमेर में

२२ दिन तक पुष्कर में निवास करके स्वामीजी अजमेर पहुँचे और वंशीलालजी के उद्यान में ठहरे। स्वामीजी ने आते ही सारे नगर में विज्ञापन लगवा दिये कि मूर्त्तिपूजन आदि विषयों पर किसी की शंका हो तो आये, समाधान किया जाएगा। कुछ लोग इधर-उधर की बातें बनाते रहे, परन्तु सम्मुख कोई नहीं आया।

ईसाई पादरियों से संवाद

अजमेर में स्वामीजी का पादरी राबिन्सन, ग्रे और शूलब्रेड के साथ जीव, सृष्टि-क्रम और वेदविषय पर तीन दिन तक संवाद होता रहा। स्वामीजी बड़ी योग्यता से उत्तर देते रहे। चार दिन ईसा का ईश्वर होना, मरकर जी उठना फिर आकाश पर आरोहण करना इत्यादि बातों पर स्वामीजी ने प्रश्न किये। इनका पादरियों से कोई उत्तर न बन पड़ा। इसपर लड़कों ने ताली पीट दी, परन्तु स्वामीजी ने उनको ऐसा करने से रोक दिया। उस शास्त्रार्थ में पादरियों ने एक वेद-मन्त्र का नाम लेकर कुछ पाठ पढ़ा। जब उसका पता पूछा, तो वे कुछ न बता सके। अगले दिन पादरी नहीं आये। कहते हैं कि बाद में किसी आक्षेप के कारण चिढ़कर पादरी शूलब्रेड ने स्वामीजी से कहा कि ऐसी बातों से आप कभी कारावास में चले जाएँगे। स्वामीजी

ने बड़ी गम्भीरता से मुस्कराते हुए कहा—''सत्य के लिए कारावास कोई लज्जाजनक वार्त्ता नहीं है। धर्म-पथ पर आरूढ़ होकर मैं ऐसी बातों से सर्वथा निर्भय हो गया हूँ। प्रतिपक्षी लोग, यदि अपने प्रभाव से ऐसा कष्ट दिलाएँगे, तो जहाँ कष्ट सहते हुए मेरे चित्त में शोक की कोई तरंग भी उत्पन्न नहीं होगी, वहाँ मैं अपने प्रतिपक्षियों की अकल्याण-कामना भी कभी नहीं करूँगा। पादरीजी! मैं लोगों के डराने-धमकाने से सत्य को नहीं छोड़ सकता। ईसा को भी लोगों ने फाँसी पर लटका ही तो दिया था!''

बड़े पादरी राबिन्सन के निमन्त्रण पर स्वामीजी उनसे मिलने गये। शिष्टाचार के अनन्तर पादरीजी ने पूछा कि ब्रह्माजी ने जो अपनी पुत्री से व्यभिचार किया था, उसका आप क्या समाधान करते हैं? स्वामीजी ने तुरन्त उत्तर दिया कि एक नाम के अनेक मनुष्य हुआ करते हैं। इसमें कोई प्रमाण नहीं कि यह वही ब्रह्मा थे। महर्षि ब्रह्मा तो अत्यन्त पवित्र थे। स्वामीजी के कथन पर पादरी अतिप्रसन्न हुए और उन्हें अपने हाथ से लिखकर एक पत्र दिया कि 'स्वामी दयानन्द सरस्वती वेदों का एक विख्यात विद्वान् है। मैंने अपने सम्पूर्ण जीवन में इन-जैसा संस्कृत का पण्डित दूसरा नहीं देखा। ऐसे महापुरुष संसार में बहुत थोड़े होते हैं। इनसे जो भी सज्जन मिलेगा, लाभ ही उठाएगा। जो सज्जन इनसे मिले इनका सम्मान ही करे।'

कर्नल ब्रुक से गोरक्षा पर वार्तालाप

उन दिनों कर्नल ब्रुक गवर्नर-जनरल के एजेण्ट थे। वे गैरिक वस्त्र-धारियों से बहुत चिढ़ा करते थे। एक दिन वे वंशीलाल के उद्यान की ओर आ निकले। स्वामीजी को देख वे टोपी उतारकर उनके सम्मुख आये। दोनों ने परस्पर सम्मान प्रदर्शित किया। फिर दोनों आमने-सामने कुर्सियों पर बैठकर वार्तालाप में प्रवृत्त हुए। स्वामीजी के सम्भाषण से प्रभावित होकर एजेण्ट महाशय ने अगले दिन उन्हें अपने बँगले पर बुलाया। कर्नल ब्रुक द्वारा भेजी गई गाड़ी पर बैठकर स्वामीजी रामस्वरूप-सहित बँगले पर पहुँचे। पौन घण्टा तक गोरक्षा विषय पर वार्तालाप होता रहा। जब कर्नल महाशय ने गोरक्षा से लाभ और गोहत्या से हानि स्वीकार कर ली, तब स्वामीजी ने कहा कि आप यत्न करके गोहत्या बन्द करा दीजिए। इसपर कर्नल महाशय ने कहा—''महाराज! गोहत्या बन्द करना मेरे अधिकार में नहीं है। हाँ, मैं आपको एक पत्र लिख देता हूँ, आप लाट महाशय से

मिलें। अन्य भी जिस राजकर्मचारी को आप मेरा पत्र दिखाएँगे, वह आपको अवश्य सम्मानपूर्वक मिलेगा।'' पत्र लेकर स्वामीजी अपने स्थान पर चले आये।

कर्नल ब्रुक ने एक पत्र जयपुराधीश को भी लिखा कि खेद है कि आपने एक अपूर्व पण्डित के साथ सम्भाषण न किया। पत्र पढ़कर महाराज को बड़ा पश्चात्ताप हुआ। वह किसी प्रकार स्वामीजी का दर्शन करने का प्रयत्न करने लगे।

दो महात्माओं के 'अहं' की परीक्षा

एक दिन साँवले रंग के दो तपस्वी युवक स्वामीजी के मिलापार्थ वहाँ आये। स्वामीजी ने उन्हें बड़े आदर-सत्कार से बिठलाया। वे संस्कृत के सिवा किसी दूसरी भाषा में बात-चीत नहीं करते थे। कुछ काल तक योग-सम्बन्धी चर्चा होती रही। चलते समय वे कहने लगे—''स्वामीजी! हम तो अब तृप्त हैं, पूर्ण शान्त हैं।'' स्वामीजी ने कुछ हँसकर कहा—''नहीं, महात्माजी! अभी अहंकार जीतना शेष है।'' उन्हों कहा—''हमने अहंकार सर्वथा जीत लिया है।'' तपस्वी अभी भीतर से निकलकर बाहर गये ही थे कि स्वामीजी के संकेत से एक ब्रह्मचारी ने उनसे कलह करना आरम्भ कर दिया। वह झगड़ा इतना बढ़ा कि दोनों तपस्वी और ब्रह्मचारी आपस में गुत्थम-गुत्था हो गये और एक-दूसरे को पटकते हुए ऊपर-नीचे होने लगे। शोर सुनकर भीतर बैठे हुए सब मनुष्य स्वामीजी-सहित बाहर आगये और उन्हें पृथक्-पृथक् कर दिया। फिर स्वामीजी महाराज ने उन तपस्वियों को भीतर ले-जाकर समझाया कि आप हमारा कहना नहीं मानते थे; परीक्षा से सिद्ध हो गया कि आपमें अहंकार अभी मन्द नहीं हुआ। मुनियों को और विशेषत: अभ्यासियों को अभिमान कदापि नहीं करना चाहिए।

उन दोनों तपस्वियों ने महाराज से क्षमा-याचना की और 'नमो नारायण' कहकर चले गये। वे तपस्वी स्वामीजी के दर्शनों को दो बार फिर भी आये।

रामसनेही मैदान छोड़कर भागे

उन दिनों अजमेर में रामसनेहियों के सबसे बड़े महन्त आये हुए थे। स्वामीजी ने उन्हें शास्त्रार्थ करने के लिए ललकारा। उन्होंने उत्तर दिया कि हमारा आपसे शास्त्रार्थ नहीं हो सकता, क्योंकि हम किसी के स्थान पर नहीं जाते और यदि कोई हमारे स्थान पर आये,

तो हम अपनी गद्दी से उतरकर उसका अभ्युत्थान आदि आदर-सत्कार नहीं करते। जब स्वामीजी को यह बात ज्ञात हुई तो उन्होंने कहला भेजा कि मुझे आवभगत की कोई आवश्यकता नहीं, आप सुखपूर्वक अचल आसन से गद्दी पर बैठे रहिए, परन्तु शास्त्रार्थ कीजिए। जब महन्तजी ने देखा कि वह मान आदि का कोई ध्यान न करके यहीं आना चाहते हैं, तब उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि भई! हम तो 'राम-राम' रटते हैं और भोजन आदि पाकर सुख से समय व्यतीत करते हैं। हमें शास्त्रार्थ आदि कुछ नहीं आता। तब रामसनेही मत पर संस्कृत में कुछ प्रश्न लिखकर स्वामीजी ने उस महन्त के पास भेजे। "हम कल इसका उत्तर देंगे", ऐसा कहकर महन्तजी ने वह प्रश्न-पत्र रख लिया, परन्तु अगले दिन प्रातःकाल ही वह अपना बोरिया-बिस्तर बाँधकर वहाँ से भाग गया।

स्त्रियों को उपदेश नहीं देते

एक दिन बहुत-सी देवियाँ स्वामीजी के समीप आईं। स्वामीजी ने पूछा—"कहाँ से आई हो?"

"महाराज! साधुओं के पास से होकर यहाँ आई हैं।" उन्होंने उत्तर दिया।

स्वामीजी ने पूछा—"साधुओं के पास क्यों गईं थीं?"

"आप कहें तो हम आपके पास आ जाया करें।"

"हमारे पास आने का क्या प्रयोजन है?"

"महाराज! हम उपदेश लेना चाहती हैं?"

"यदि यही प्रयोजन है तो हम स्त्रियों को उपदेश नहीं दिया करते। अपने पतियों को हमारे पास भेज देना। वे यहाँ से उपदेश सुनकर आपको भी सुना देंगे।"

यह सुनकर वे वापस चली गईं और फिर कभी नहीं आईं।

यहाँ भी बहुत-से लोगों ने कण्ठियाँ उतार दीं। सावर के ठाकुरजी स्वामीजी के उपदेश सुनने आये और प्रभावित होकर गये।

अकेला हूँ तो क्या हुआ

स्वामीजी के दो-एक भक्त उन्हें अजमेर से किशनगढ़ ले-गये और सुखसागर के तीर पर उनका उतारा कराया। यहाँ के सुयोग्य पण्डित कृष्णवल्लभ जोशी और महेशदास ओसवाल स्वामीजी से अतिप्रेम करते थे। महेशदास ने स्वामीजी का आतिथ्य भी किया। किशनगढ़ के राजा वल्लभकुलसेवक थे। जब उन्होंने सुना कि एक

स्वामी भागवत की तीव्र आलोचना करता है, तब अनेक पण्डितों के साथ ठाकुर गोपालसिंहजी को विघ्न-बाधा डालने के लिए भेजा। मनुष्यों के अन्तरंग को जाननेवाली दृष्टि से स्वामीजी ने उनके गुप्त भावों को जान लिया। स्वामीजी शौच, स्नानादि से निवृत्त होकर तन पर विभूति रमा काष्ठ के आसन पर आ बैठे। महाराज ने उस मण्डली से वहाँ आने का कारण पूछा। उस समय एक ब्राह्मण ने कुछ पत्रे उलट-पुलटकर स्वामीजी के आगे रक्खे। महाराज ने कहा—"तुम स्वयं पढ़ो।" तब पण्डितजी ने पत्रे पढ़े। उनका तात्पर्य यह था कि वल्लभमत ही सर्वोत्तम है। यह सुनकर स्वामीजी ने इसका खण्डन किया। इसका उत्तर तो उनसे कुछ न बन पड़ा, परन्तु हल्ला-गुल्ला करने पर उतारू हो गये। इसपर स्वामीजी अपने काष्ठासन पर खड़े होकर बोले—"मुझे अकेला समझकर आगे हाथ न बढ़ाना। अकेला तो मैं अवश्य हूँ, परन्तु तुम सबकी हेकड़ी तोड़ने के लिए पर्याप्त हूँ। यदि शास्त्रार्थ करना हो तो मैं कटिबद्ध हूँ, परन्तु यदि 'शस्त्रार्थ' ही करना चाहते हो तो भी पीछे नहीं हटूँगा, तुम्हारा मान-मर्दन करने को सुसज्जित हूँ।"

इतनें में श्रीमालीवंश के ब्राह्मण तीस-चालीस की संख्या में स्वामीजी की सहायता के लिए आ पहुँचे और उसी समय कलह-प्रिय लोग वहाँ से भाग गये।

किशनगढ़ से दूदू और बगरू में उपदेश करते हुए स्वामीजी जयपुर पधारे और अचरौल के ठाकुर रणजीतसिंह के उद्यान में आ विराजे। उनके शुभागमन का सन्देश जयपुर-नरेश को भेजा गया। अनेक निमन्त्रणों पर जब स्वामीजी राजप्रासाद में पहुँचे, तब जयपुराधीश अन्तःपुर में पहुँच चुके थे। इस अशिष्ट आचार से कुपित होकर वे वहाँ से लौट आये और पुनः अनेक प्रयासों पर भी वहाँ नहीं गये।

हमने हँसने का उपदेश दिया है

जब दयानन्द जयपुर से प्रस्थान करने लगे, तब अनेक भक्तों के प्रेमाश्रु टपकने लगे। विनोदी दयानन्द ने उन्हें उद्बोधन देते हुए कहा—"मन को भारी मत करो। हमने तुम्हें हँसानेवाला उपदेश दिया है, रुलानेवाला नहीं।"

स्वामीजी कार्तिक बदी नवमी संवत् १९२३ को आगरा जा विराजे। मौखिक उपदेशों के अतिरिक्त स्वामीजी ने आठ पृष्ठ की

एक छोटी-सी पुस्तक भागवत-खण्डन पर लिखी। इसकी कई सहस्र प्रतियाँ छपवाकर वहीं वितरित करा दीं और कई सहस्र हरद्वार-कुम्भ पर बाँटने के लिए मथुरा जाते हुए अपने साथ ल-गये।

गुरु-शिष्य का अन्तिम मिलन

पाँच विद्यार्थियों-सहित स्वामीजी अपने गुरु की चरण-शरण में गये और नम्रीभूत होकर गुरुराज को नमस्कार किया। एक सुवर्णमुद्रा और एक मलमल का थान भेंट किया। भागवत-खण्डन पुस्तक का परिचय भी कराया। गुरुदेव अपने कृपापात्र, सुयोग्य और विजयी शिष्य से मिलकर अति प्रसन्न हुए। कृपा का हाथ सिर पर फेरकर भूरि-भूरि आशीर्वाद प्रदान करने लगे। उनका हृदय हर्षोत्कर्ष से भर गया और उन्हें यह जानकर पूर्ण सन्तोष हुआ कि उनके लगाये हुए पेड़ पर मनोवाञ्छित फल आया है; उनका उद्देश्य भली-भाँति सिद्ध हो रहा है।

स्वामीजी महाराज कई दिन तक गुरु-सेवा में रहकर सन्देहास्पद विषय पूछते रहे, शास्त्रीय तत्त्वों को समझते रहे और फिर हरद्वार का कुम्भ मेला समीप आया जान वहाँ जाने के लिए उन्होंने गुरुदेव से अनुमति की प्रार्थना की। गुरु महाराज का आदेश उपलब्ध कर विनीत नमस्कारपूर्वक वे गुरु-चरणों से विदा हुए। आदर्श गुरु और आदर्श शिष्य का यह अन्तिम मिलाप था।

मथुरा से चलकर स्वामीजी मेरठ आये और एक देवी के मन्दिर में आसन लगाया। उस समय उनके साथ एक ब्रह्मचारी भी था। स्वामीजी दोशाला ओढ़ते थे, पाँव में जुराब रखते थे और उनके गले में स्फटिक की एक माला भी होती थी। गङ्गाराम नामक एक प्रतिष्ठित व्यक्ति से उनका साक्षात् हो गया।

कामदेव से बचने का उपाय

एक दिन गङ्गारामजी ने कामदेव से बचने का उपाय पूछा तो महाराज ने उत्तर दिया—"कामवासना जीतने का यह विधान है कि एकान्त स्थान में रहे, नाच आदि कभी न देखे। अनुचित स्वरूप को देखना, अनुचित शब्दों का सुनना और अनुचित वस्तुओं का स्मरण करना छोड़ दे। स्त्रियों की ओर न निहारे। नियमपूर्वक जीवन व्यतीत करे। इन साधनों से वासना मन्द हो जाती है। मनुष्य जितना वासना की तृप्ति का यत्न करेगा, वह शान्त न होकर उतनी ही बढ़ती चली जाएगी, इसलिए विषयवासना का चिन्तन भी न करे। जितेन्द्रिय

बनने के अभिलाषी को रात-दिन 'प्रणव' का जप करना चाहिए। रात को यदि जप करते हुए आलस्य बहुत बढ़ जाए तो दो घण्टा-भर गाढ़ निद्रा लेकर उठ बैठे और पूर्ववत् पवित्र "प्रणव" का जाप करना आरम्भ कर दे। बहुत सोने से स्वप्न अधिक आने लग जाते हैं। ये जितेन्द्रिय व्यक्ति के लिए अनिष्टकर होते हैं। प्रातःकाल मालकंगनी के पाँच दाने खा लिया करे। इस प्रकार जप आदि साधनों से काम-वासना जीत ली जाती है।"

पाखण्ड-खण्डिनी पताका

हरद्वार का कुम्भ मेला समस्त आर्यावर्त्त में अनुपम मेला होता है। साधु-सन्त, त्यागी-तपस्वी और चारों वर्णों के गृहस्थ लाखों की संख्या में यहाँ एकत्र होते हैं। अपने उद्देश्य की उद्घोषणा के लिए स्वामीजी ने इस अवसर को बहुत अनुकूल समझा, अतः वे कुम्भ-संक्रान्ति से एक मास पूर्व फाल्गुन सुदी ७ सं० १९२३ को हरद्वार पधारे। वहाँ भीमगोडे के ऊपर सप्तसरोवर पर एक बाड़ा बाँध कुछ पर्णकुटियाँ बना रहने लगे। वहीं स्वामीजी ने एक पताका भी गाड़ दी, जिसपर लिखा था—"पाखण्ड-खण्डिनी पताका।"

स्वामीजी ने मेले में प्रतिदिन उपदेश देना आरम्भ किया। पौराणिक धर्म के उस गढ़ में उन्होंने वैदिक धर्म का प्रचार किया। पोपलीला के सघन वन पर समालोचना के कठोर कुठाराघात किये। पौराणिक कथा और माहात्म्य की कोमल, ललित लताओं पर तीव्र खण्डन-प्रहार किया। स्वामीजी के आश्रम पर झूलते निराले झण्डे को देखकर लोग शत-शत संख्या में भीतर चले आते और उनमें से बहुतेरे स्वामीजी के कथनों को स्वीकार कर लेते थे। उस सारे महा-मेले में, जहाँ सुनो दयानन्दजी के प्रबल प्रचार की ही चर्चा सुनाई देती थी। आज तक लोगों ने एक संन्यासी के मुख से मूर्त्ति-पूजन का खण्डन, श्राद्धों का निराकरण, अवतारों का अमूलकपन, पुराणों, उप-पुराणों और पर्व-स्नान-माहात्म्य का मिथ्यात्व नहीं सुना था, इसलिए कई लोग इस नवीन दृश्य को अति विस्मय से देखते थे। कई-एक इसका दोष कलिकाल के मत्थे मढ़ते थे। कितने ही पण्डित इस संन्यासी को 'नास्तिक' कहते थे। पण्डितों और साधुओं ने स्वामीजी के विरुद्ध व्याख्यान देना भी आरम्भ कर दिया। उनके प्रति कुवाच्य कहने में भी उन्होंने कोई कसर न उठा रक्खी। बहुत-से ब्राह्मण और साधु स्वामीजी की कुटी पर शास्त्रार्थ करने जाते और दो-एक प्रश्नोत्तर

में ही निरुत्तर हो जाते थे।

स्वामी महानन्द संस्कृत-पठित थे। उन्होंने अपने जीवन में पहली बार वेदों के दर्शन स्वामीजी के पास किये।

काशी के सुप्रसिद्ध पण्डित विशुद्धानन्दजी ने एक दिन—"**ब्राह्मणोऽ स्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याꣳ शूद्रो अजायत**"॥ इस मन्त्र का अर्थ यह किया कि ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से, क्षत्रिय भुजाओं से, वैश्य ऊरू से और शूद्र पैरों से उत्पन्न हुए हैं। स्वामीजी ने विशुद्धानन्द के अर्थों पर कटाक्ष करते हुए श्रोताओं को बताया कि चतुर्वर्णयुक्त समाज में ब्राह्मण मुख हैं, अर्थात् मुख-सदृश हैं, क्षत्रिय भुजा हैं, वैश्य ऊरू हैं और शूद्र पाँव हैं।

सर्वमेध यज्ञ

उस महा-मेले पर स्वामीजी ने बहुत-से व्याख्यान दिये। अनेक शास्त्रार्थ किये। बीसियों वादियों को जीता। सैकड़ों जिज्ञासुओं को समझाया और भागवत खण्डन की सहस्त्रों पुस्तकें बाँटी। स्वामीजी की 'पाखण्ड-खण्डिनी-पताका' और उपदेशों ने बहुत लोगों को अपनी ओर आकर्षित किया, परन्तु इस कुम्भ पर स्वामीजी ने देखा कि जनता अज्ञान-अन्धकार में ठोकरें खा रही है; विद्वान् स्वार्थान्ध होकर धर्म के नाम पर भोली-भाली जनता को लूट रहे हैं। साधु गृहस्थों से भी गये-बीते हैं। धर्म केवल आडम्बर बन गया है। इस सारी स्थिति को देखकर स्वामीजी ने सोचा कि अन्य साधुओं की भाँति रहने-सहने से काम नहीं चलेगा। अभी मुझे और तप तपना होगा। तप करके शक्ति का सञ्चय करना होगा। इन विचारों की उमंगें उनके हृदय में उठ ही रही थीं कि एक दिन व्याख्यान देते-देते वे गद्गद हो गये और "**सर्वं वै पूर्णं ꣳ स्वाहा**" कहकर उठ खड़े हुए। स्वामीजी ने अपने वस्त्र, पुस्तक और धनादि जो कुछ उनके पास था, वहीं बाँट दिया। महाभाष्य की एक पुस्तक, एक स्वर्णमुद्रा और मलमल का एक थान गुरुदेव की सेवा में मथुरा भेज दिया।

कैलाशपर्वतजी ने स्वामीजी को सर्वमेध यज्ञ करते देख पूछा—"यह क्या करने लगे हो?" स्वामीजी ने उत्तर दिया कि—"जब तक आवश्यकताएँ अल्प न हो जाएँ, पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होती और प्रयोजन भी सिद्ध नहीं हो सकता। मैं सब पन्थाइयों के विरुद्ध स्पष्ट-स्पष्ट कहना चाहता हूँ, इसके लिए निर्द्वन्द्व होना परमावश्यक है।"

६

शक्ति-सञ्चय : पुनः कार्यक्षेत्र में

स्वामीजी पुस्तकें आदि सब वस्तुएँ त्यागकर सारे तन पर भस्म रमा, एक कौपीनमात्रधारी, मौनावलम्बी हो गये। व्याख्यान देना और वाद विवाद करना तो दूर, वाणी का व्यापार भी बन्द करके केवल अपनी कुटी में रहने लगे। जो केसरी अपने गम्भीर नाद से सारे मठों को हिला रहा था, अखाड़ों को कँपा रहा था, जिसकी गर्जना से सब सम्प्रदायी थर्राते थे, वही स्वदेशवासियों की अकर्मण्यता के कारण मौन धारण करके चुप हो गया। वाणी का सर्व-व्यापार निरोध कर अपनी कुटी ही में समय काटने लगा।

परन्तु जिस महात्मा ने "**वदन्ब्रह्मावदतो वनीयान्**" (ऋ० १०।११७।७), अर्थात् "उपदेश देनेवाला विद्वान् न बोलनेवाले से श्रेष्ठ है" का पाठ पढ़ा हो, वह भला कब तक मौन रह सकता था? एक दिन किसी व्यक्ति ने स्वामीजी के कुटीद्वार पर आकर यह वाक्य बोला—"**भागवतं निगमतरोर्गलितं फलम्**", अर्थात् वेद से भागवत श्रेष्ठ है। स्वामीजी असत्य का सम्मान और सत्य का हनन कैसे सहन कर सकते थे? उन्होंने यह वाक्य सुनते ही मौनव्रत छोड़कर भागवत का खण्डन करना आरम्भ कर दिया।

स्वामीजी ने उसी समय यह भी निश्चय किया कि ईश्वर और गुरु की कृपा तथा वेदशास्त्र के परिशीलन से मुझे जो ज्ञान प्राप्त हुआ है, मैं धर्म-प्रचार और लोकहित करते हुए उसे सफल बनाऊँगा। देववाणी में वार्तालाप करता हुआ कुछ काल के लिए गंगा के किनारे-किनारे भ्रमण करूँगा। ऐसा निश्चय कर वे ऋषीकेश चले गये। ५-६ दिन पश्चात् वहाँ से लौटकर हरद्वार और कनखल होते हुए लण्ढौरा में आ विराजे। यहाँ उन्हें तीन दिन तक निराहार रहना पड़ा। जब क्षुधा ने बहुत पीड़ित किया तब एक खेतवाले को संकेत किया। उसने तीन बैंगन दिये। उन्हीं को खाकर स्वामीजी ने क्षुधा-निवृत्ति की।

यहाँ से चलकर शुक्रताल और परीक्षितगढ़ होते हुए वे गढ़मुक्तेश्वर पहुँचे। यहाँ पन्द्रह दिन तक निवास किया। उन दिनों स्वामीजी एक माँझी की कुटी के समीप रात-दिन रेत में पड़े रहते थे। जो कोई पास

आता उसे संस्कृत ही में उपदेश देते थे। वहाँ पण्डितों से भी कुछ वार्तालाप हुआ था। वहाँ भी आप तीन दिन तक निराहार पड़े रहे। चौथे दिन जब माँझी की रोटी आई तब उसने सोचा कि यह परमहंस तीन दिन से यहीं पड़ा है। न तो इसके पास कोई अन्न लाया है और न ही यह माँगने गया है। निरन्न पेट है। उसने स्वामीजी के पास जाकर अपनी रोटी में से आधी तोड़कर आदर से उन्हें दी, जिसे स्वामीजी ने ग्रहण कर लिया।

राजघाट में

गङ्गा के किनारे-किनारे भ्रमण करते हुए यतिवर कर्णवास पहुँचे। वहाँ वे गंगा के पुल पर आसन लगाये बैठे थे कि दो विद्यार्थी उस परमहंस की भव्याकृति से आकृष्ट होकर उनके तन पर गङ्गा-रज लगाने लगे। स्वामीजी ने विद्यार्थियों को अष्टाध्यायी, उपनिषद् और मनुस्मृति पढ़ने का उपदेश दिया।

इन दिनों स्वामीजी कमण्डलु तक भी नहीं रखते थे। कौपीन भी एक ही था। स्नान करके उसे सुखा देते थे और ध्यान से उठने के पश्चात् उसे ही धारण कर लेते थे।

यहाँ से स्वामीजी फर्रुखाबाद में विश्रान्तघाट पर ठहरे। यहाँ तीन दिन तक रहे। एक दिन पण्डित मणिलाल ने पूछा—"महाराज! गङ्गा और सूर्य क्या वस्तु हैं?" स्वामीजी ने कहा—"ये जड़-पदार्थ हैं।"

फर्रुखाबाद से दयानन्दजी चासी आये। यहाँ नन्दराम नामक चक्रांकित ब्राह्मण ने अपना पाखण्ड फैला रक्खा था। स्वामीजी के आगमन और उनके अगाध पाण्डित्य की बात सुनकर वह चुपचाप गङ्गा के परली पार खिसक गया। बस, इसी से उसकी पोल खुल गई और सारे जाट वैरागी होने से बच गये। वहाँ महाराज पन्द्रह दिन तक अपने उपदेशामृत की वर्षा करते रहे।

चासी से चलकर भ्रमण करते हुए महाराज रामघाट में आकर एक पर्णकुटी में निवास करने लगे। यहाँ एक दिन पण्डित टीकाराम श्रीचरणों में उपस्थित हुआ। स्वामीजी ने पूछा—"कौन होते हो?"

"ब्राह्मण हूँ, भगवन्!"

"क्या सन्ध्या स्मरण है?"

"नहीं महाराज! परन्तु गायत्री कण्ठस्थ है।"

"अच्छा सुनाओ।"

"किसी के सम्मुख गायत्री का पाठ करना गुरुजी ने वर्जित किया है।"

"भद्र! संन्यासी ब्राह्मणों का भी गुरु होता है, अतः हमारे सामने सुनाने में संकोच न करो।"

महाराज के वचन सुनकर टीकाराम ने मन्त्र सुना दिया। उसके मुख से गायत्रीमन्त्र का शुद्ध उच्चारण सुनकर स्वामीजी अति मुदित हुए और उसे प्रोत्साहित करके सन्ध्या आदि कर्मों में उसकी रुचि उत्पन्न कर दी। सारी सन्ध्या भी अपने हाथों से उसे लिख दी।

स्वामीजी के सत्संग से टीकाराम के सभी सन्देह मिट गये। उनके उपदेशों से प्रभावित होकर उसने विष्णुसहस्रनाम, गङ्गालहरी आदि सभी स्तोत्र गङ्गा की भेंट चढ़ा दिये। अपने ठाकुरों को भी उसी नदी में समर्पित कर दिया। अन्य भी अनेक पण्डित और सैकड़ों लोग प्रतिदिन सायं चार बजे सत्संग करने आते थे। सभी उनके विद्याबल की प्रशंसा करते थे। गुसाईं शम्भुगिरि तो आते हुए तुलसीदल ले-आते और स्वामीजी को अर्पित करके कहते कि—"हमारे शालग्राम तो आप ही हैं।"

पं० टीकाराम तो स्वामीजी के उपदेशों से इतने प्रभावित हुए कि उन्हें अपने पौरोहित्य कर्म से विरक्ति हो गई। उन्होंने कर्णवास जाकर ठाकुर गोपालसिंह आदि यजमानों को एकत्र कर उनसे कहा—"रामघाट में एक स्वामी ठहरे हुए हैं। वे महाविद्वान् एवं महात्मा हैं। उनके सत्संग से मुझे विश्वास हो गया है कि कण्ठी, तिलक आदि चिह्न अवैदिक हैं। वेद में मूर्त्तिपूजा का विधान नहीं है। पुराण, तीर्थ, व्रत-माहात्म्य सब कल्पित हैं। तीनों वर्णों के लिए एक गायत्री ही उपास्य है। मेरा निश्चय परिवर्तित हो गया है, अतः अब मैं आपके मन्दिर की पूजा नहीं करूँगा। आप भी महाराज के दर्शनों और सत्संग से अपने सन्देहों की निवृत्ति करके यज्ञोपवीत धारण कर लें और मूर्त्तिपूजा आदि अवैदिक कर्मों का परित्याग करें।"

कर्णवास में

अपने पुरोहित की नूतन वार्त्ता सुनकर इधर ठाकुरों ने स्वामीजी को कर्णवास में लाने का प्रयत्न किया, उधर स्वामीजी भ्रमण करते हुए स्वयं वहाँ जा पहुँचे और नागा बाबा की मढ़ी के आगे एक वृक्ष के नीचे आसन लगाया। स्वामीजी के आगमन का समाचार पाकर ठाकुर धर्मसिंह आदि श्रीचरणों में उपस्थित हुए। उन्हें यज्ञोपवीत-

हीन देखक स्वामीजी ने सशोक कहा—''यहाँ के पण्डित-पुरोहितों का भ्रष्टाचार तो देखो, अपने यजमानों के दाढ़ी-मूँछ निकल आने पर भी ये उन्हें यज्ञोपवीत नहीं देते। इन्हीं अधर्माचरणों के कारण यह देश दिनों-दिन अधोगति को प्राप्त हो रहा है।''

अम्बादत्त से शास्त्रार्थ

स्वामीजी की भव्यमूर्त्ति का दर्शन और उनके दिव्योपदेशों का श्रवण कर क्षत्रियवर्ग और अन्य लोग परम तृप्त और सन्तुष्ट हुए। उपदेशों से उनकी कीर्तिचन्द्रिका आस-पास के ग्रामों में भी फैलने लगी। समीपवर्ती स्थानों से झुण्ड-के-झुण्ड महाराज के दर्शनों को आने लगे। महाराज की यह बढ़ती हुई लोकप्रियता पं० भगवान्दास आदि को असह्य हो गई। उन्होंने सोचा कि उनके मार्ग से दयानन्दरूपी कण्टक तभी दूर हो सकता है, जब उसे शास्त्रार्थ में परास्त किया जाए, अतः वह अनूपशहर-निवासी पण्डित अम्बादत्त को, जो संस्कृत में बहुत व्युत्पन्न समझे जाते थे, स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने के लिए बुला लाया। पं० अम्बादत्त से शास्त्रार्थ हुआ। परिणाम यह निकला कि पण्डितजी परास्त हुए और उन्होंने एक सत्यप्रिय व्यक्ति की भाँति भरी सभा में मुक्तकण्ठ से कहा कि जो कुछ स्वामीजी कहते हैं, वह सत्य है, मूर्त्तिपूजा अवैदिक और त्याज्य है।

पण्डित अम्बादत्त की पराजय से स्वामीजी की ख्याति को चार चाँद लग गये और शतशः लोग उनकी ओर आकृष्ट हो गये। अनेक लोगों ने अपने शालग्राम गङ्गा में प्रवाहित कर दिये और कण्ठियाँ तोड़ डालीं।

हमारा प्रारब्ध हमारे साथ है

कर्णवास से प्रस्थान कर स्वामीजी अनूपशहर में बाँसों की टाल के निकट एक कुटिया में सुशोभित हुए। उस समय स्वामीजी रुग्ण थे, परन्तु टाल के स्वामी गौरीशंकर के औषधोपचार से स्वस्थ हो गये। बूँदी के महाराज के गुरु रामदास वैरागी भी यहीं रहते थे। एक दिन जब स्वामीजी टाल से उठकर नगर के दूसरी ओर निवास करने के विचार से चलने लगे, तब रामदास ने कहा—''भगवन्! नगर में आजकल भागवत की कथा बड़ी धूमधाम से हो रही है और आप भागवत का तीव्र खण्डन करते हैं। कहीं ऐसा न हो कि नगर में मधूकड़ी भी न मिले।'' स्वामीजी ने मुस्कराकर उत्तर दिया—''इसकी कोई चिन्ता नहीं, हमारा प्रारब्ध हमारे साथ है।''

नवलजंग पहलवान भक्त बन गया

स्वामीजी वहाँ से नर्मदेश्वर के मन्दिर के समीप सती की मढ़ी में आ विराजे। मढ़ी से अनतिदूर नवलजंग पहलवान का अखाड़ा था। वह सदाचारी, सुशील और बलवान् था। उसकी एक ब्रह्मचारिणी बहिन भी थी। दोनों भाई-बहिन तैरने में ऐसे निपुण थे कि वर्षा-ऋतु की चढ़ी गङ्गा को तैरकर पार कर जाया करते थे। स्वामीजी के व्यक्तित्व और अगाध पाण्डित्य से प्रभावित होकर नवलजंग श्रीचरणों का भक्त बन गया। वह प्रतिदिन गङ्गारज लाकर और चन्दन की भाँति रगड़कर बड़े प्रेम से उनके शरीर पर लगाया करता था।

एक दिन कुछ वामी मदिरा के मद में मस्त ऊट-पटाँग बकते हुए स्वामीजी के आसन के पास आये और चिल्लाकर कहने लगे—"अरे दयानन्द! बाहर निकल, तुझे वारुणी पिलाकर शुद्ध करें।" जब स्वामीजी ने देखा कि ये लातों के भूत बातों से नहीं मानेंगे, तब उन्होंने पुकारकर कहा—"नवलजंग! ये मदिरा के मद में मतवाले कोलाहल कर रहे हैं, तनिक जाकर इनका मद उतारना।" स्वामीजी के आदेश पर नवलजंग उनकी ओर ऐसे झपटा जैसे मदोन्मत्त हाथियों पर सिंह झपटता है। नवलजंग को अपनी ओर आते देख उनका नशा हिरण हो गया।

मैं संसार को क़ैद कराने नहीं आया

यहाँ, एक दिन एक ब्राह्मण स्वामीजी के पास आया और विनयपूर्वक स्वामीजी की सेवा में पान प्रस्तुत किया। स्वामीजी ने सहज स्वभाव से पान मुख में रख लिया, परन्तु उसका रस लेते ही वे जान गये कि यह विषयुक्त है। उससे बिना कुछ कहे-सुने वे गङ्गा के पार चले गये और वस्ती तथा न्योलीकर्म द्वारा विष के कुप्रभाव को दूर कर अपने आसन पर आ विराजे। इस घटना का पता स्वामीजी के भक्त सैय्यद मुहम्मद तहसीलदार को भी लग गया। स्वामीजी के प्रति अगाध श्रद्धा होने के कारण उन्होंने उस दुष्ट ब्राह्मण को पकड़वाकर बन्दीगृह में डाल दिया। वह प्रसन्न होता हुआ स्वामीजी के पास पहुँचा, परन्तु जब स्वामीजी ने उसे देखकर मुँह फेर लिया और उससे बात तक न की, तब उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। अप्रसन्नता का कारण पूछने पर स्वामीजी ने कहा—"मैंने सुना है कि आज आपने मेरे लिए एक व्यक्ति को कारागार में डाल दिया है। मैं संसार को क़ैद कराने नहीं, अपितु क़ैद से छुड़ाने आया हूँ। यदि दुष्ट

अपनी दुष्टता नहीं छोड़ता तो हम अपनी श्रेष्ठता का परित्याग क्यों करें ?'' ये शब्द सुनकर तहसीलदार महोदय रोमाञ्चित हो गये। उन्होंने आज तक क्षमा का ऐसा अवतार नहीं देखा था। वह स्वामीजी को प्रणाम करके चला गया और जाते ही उस ब्राह्मण को स्वतन्त्र कर दिया।

अनूपशहर से स्वामीजी विभिन्न स्थानों पर भ्रमण करते हुए चासी आ विराजे। स्वामीजी जहाँ जाते थे, वहीं उनके साथ मेला-सा लग जाता था। वे सबको निर्भयतापूर्वक धर्मोपदेश देते और मूर्त्ति-पूजा, तीर्थ-स्नान आदि का खण्डन करते थे।

दयानन्द के बल की परीक्षा

जहाँगीराबाद-(जिला-बुलन्दशहर)-निवासी ओंकारदास जो एक व्यायामशील पहलवान था, स्वामीजी के उपदेश सुनकर उनका भक्त बन गया। एक दिन उसके मन में स्वामीजी के शारीरिक बल की परीक्षा करने की तरंग उठी और उसने स्वामीजी से चरण दबाने की आज्ञा माँगी। स्वामीजी ने कहा हमारे चरण तो दबे-दबाये हैं, परन्तु वह न माना। चरण दबाते हुए उसे प्रतीत हुआ कि उनके पैर लोहे की लाट हैं। पूरा बल लगाने पर भी उनमें अंगुलियाँ नहीं धँसीं, अन्त में वह पसीना-पसीना हो गया और थककर बैठ गया।

यज्ञोपवीत उतारा भी जाता है

पं० गङ्गाप्रसाद भी स्वामीजी का एक भक्त था। स्वामीजी के उपदेश से वह लोगों को यज्ञोपवीत धारण करने और गायत्री जपने की प्रेरणा करता था। एक दिन उसने स्वामीजी से कहा कि मैंने बहुत-से लोगों को यज्ञोपवीत धारण कराया है। स्वामीजी इसे सुनकर बहुत प्रसन्न हुए, परन्तु साथ ही उन्होंने पूछा कि यज्ञोपवीत देते ही जाते हो, किसी का उतारते भी हो ? पण्डितजी ने चकित होकर पूछा कि क्या यज्ञोपवीत उतारा भी जाता है ? स्वामीजी ने कहा कि यदि कोई अधर्म करे तो उसका यज्ञोपवीत उतार लेना चाहिए।

चपत द्वारा नवीनवेदन्त खण्डन

खन्दोई ग्राम का छतरसिंह जाट नवीनवेदान्ती था। एक दिन वह महाराज से नवीनवेदान्त पर वार्तालाप करने लगा। महाराज की अकाट्य युक्तियों से निरुत्तर होकर उसने कहा—''महाराज! आप चाहे जो कहें, परन्तु सत्य तो यही है कि जगत् मिथ्या है।'' महाराज ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया, परन्तु आगे बढ़कर उसके कपोल पर

एक चपत लगा दिया। इसपर वह क्रुद्ध होकर कहने लगा कि आप-जैसे ज्ञानी पुरुष को केवल मतभेद से चिढ़कर चपत नहीं लगाना चाहिए था। महाराज ने कहा—"चौधरीजी! जब जगत् मिथ्या है और ब्रह्म के अतिरिक्त कोई वस्तु है ही नहीं, तब वह कौन है जिसने आपको चपत लगाया?" छतरसिंह जो युक्ति से न माना था, चपत खाकर सीधा हो गया। उसके ज्ञान-चक्षु: खुल गये और उसने स्वामीजी के चरण पकड़कर कहा कि महाराज! आपने मेरी आँखें खोल दीं।

धुनिया को उपदेश

एक धुनिया भी श्रद्धा और प्रेम से स्वामीजी के उपदेश सुनने आया करता था। एक दिन अत्यन्त नम्रभाव से उसने निवेदन किया—"महाराज! कोई ऐसी विधि भी है, जिससे मुझ-जैसे अज्ञानी जीव का भी कल्याण हो जाए?" स्वामीजी ने परमदयालुता से उसे 'ओ३म्' का जप करने का आदेश दिया और कहा कि व्यवहार में सच्चे रहो, जितनी रुई कोई तुम्हें धुनने के लिए दे, उसे उतनी ही रुई धुनकर लौटा दो, इसी से तुम्हारा कल्याण हो जाएगा।

एक उमेदा नाई अनूपशहर में रहता था। उसके हृदय-मन्दिर में भी स्वामीजी का महत्त्व बस गया। एक दिन वह भक्ति-भावना से थाल में भोजन परसकर स्वामीजी की सेवा में लाया। स्वामीजी ने भक्त के भोजन को लेकर भोग लगाना आरम्भ कर दिया। उस समय वहाँ कोई बीस-पच्चीस ब्राह्मण विद्यमान थे। वे कह उठे—"छि: छि: छि:! स्वामीजी! क्या करते हो? यह रोटी तो नाई की है!" महाराज ने हँसते हुए कहा—"नहीं, यह रोटी तो गेहूँ की है, इसलिए मैं इसे अवश्य खाऊँगा।"

एक दिन एक व्यक्ति ने स्वामीजी को अपना हाथ दिखलाकर पूछा—"इसमें क्या है?" स्वामीजी ने उत्तर दिया—"इसमें हाड़ है, चर्म है, रक्त है और कुछ नहीं।" किसी ने जन्म-पत्र का प्रसंग उठाया तो स्वामीजी ने कहा—"**जन्मपत्रं किमर्थं कर्मपत्रं श्रेष्ठम्।**" यदि कर्म की विधि मिल जाए तो मानो, नहीं तो गप्पाष्टक जानो।

मार्गशीर्ष संवत् १९२४ में हम स्वामीजी को रामघाट में गङ्गा-तट पर पद्मासनस्थ पाते हैं। प्रात:काल १० बजे से लेकर सायंकाल तक एक ही आसन में बैठे हुए हैं। शरीर में कोई गति नहीं, किसी अंग में कोई स्पन्दन नहीं, किसी से बोलते भी नहीं। उनके ब्रह्मतेज से एक पुराने मूर्त्तिपूजक ब्रह्मचारी क्षेमकरण का ध्यान उनकी ओर

आकृष्ट होता है। यह साधारण मूर्त्तिपूजक नहीं है। इसकी पूज्य मूर्त्तियों का भार २० किलोग्राम से कम नहीं है। जहाँ भी जाता है उन्हें घोड़े पर लादकर साथ ले-जाता है। हाथों में और गले में रुद्राक्ष की मालाएँ हैं, मस्तक पर त्रिपुण्ड विराजमान है, अन्य अंग भी चन्दन से चर्चित हैं, जिह्वा पर इष्टदेव का नाम है। 'सम्भव है स्वामीजी प्रातःकाल से निराहार हों'—यह सोचकर उसने—**''ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनः''**—इस पद का गान किया। इसे सुन स्वामीजी ने मुस्कराकर 'हूँ' कहा। उसके अनुरोध पर स्वामीजी घाट से उठकर बनखण्डीश्वर महादेव में चले गये। वहाँ रामचन्द्रजी ने उनका आतिथ्य किया।

प्रातःकाल लोगों को ज्ञात हुआ कि वह संन्यासी कोई साधारण व्यक्ति नहीं है। वह दयानन्द है जो मूर्त्तिपूजा, अवतारवाद, तीर्थ आदि सब पौराणिक प्रपञ्चों का खण्डन करता है। पुराणों में परम प्रसिद्ध भागवत को भी नहीं मानता।

इन्हीं दिनों वहाँ कृष्णानन्द वाममार्गी संन्यासी भी ठहरा हुआ था। बहुत-से ब्राह्मण मिलकर उसके पास गये और उससे प्रार्थना की कि दयानन्द को शास्त्रार्थ में पराजित कर हिन्दू धर्म की लाज रक्खो। बड़ी आनाकानी के पश्चात् कृष्णानन्द शास्त्रार्थ के लिए आया। यह शास्त्रार्थ तीन दिन तक चला। एक दिन शास्त्रार्थ के समय किसी ने कृष्णानन्द से कहा—''महाराज! महादेव पर जल चढ़ा आऊँ।'' स्वामीजी ने बीच में ही कह दिया—''यह तो पत्थर है, महादेव नहीं।'' इससे चिढ़कर कृष्णानन्द ने साकारवाद का अवलम्बन लिया। स्वामीजी ने धाराप्रवाह संस्कृत बोलते हुए निराकार सिद्धान्त पर वेदों और उपनिषदों के प्रमाणों की झड़ी लगा दी। कृष्णानन्द कोई प्रमाण न दे सका। वह लोगों की ओर मुख करके **''यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत''**—गीता का यह श्लोक पढ़ने लगा। स्वामीजी ने गर्जकर कहा—''आप वाद मेरे साथ कर रहे हैं, इसलिए मुझे ही अभिमुख कीजिए'', परन्तु उसके तो विचार ही उखड़ गये थे। वह चौकड़ी भूल चुका था, मुँह में झाग आ गये। किसी प्रकार लाज रह जाए, अतः तर्कशास्त्र की शरण लेकर उसने स्वामीजी से कहा—''अच्छा! लक्षण का लक्षण बताइए।'' स्वामीजी ने उत्तर दिया, लक्ष्य का लक्षण होता है। जैसे कारण का कारण नहीं होता, वैसे लक्षण का लक्षण नहीं होता। पूज्य का पूज्य और आटे का

आटा नहीं हो सकता।

इसपर सब लोग हँस पड़े और कृष्णानन्द सभास्थल से उठ गया। इस शास्त्रार्थ का और स्वामीजी के उपदेश का क्षेमकरण पर ऐसा प्रभाव हुआ कि उसने अपनी सारी प्रतिमाएँ गङ्गा में विसर्जित कर दीं। उसका अनुकरण करते हुए पं० बालमुकन्द आदि ने भी बनावटी देवों का बोझ सिर से उतार फेंका और वे सब अपने हृदय-मन्दिर में विराजमान सर्वव्यापक प्रभु की उपासना करने लगे।

रामघाट के लोगों को कृतार्थ कर स्वामीजी ने बेलौन में आसन आ जमाया। यहाँ जो भी उनके पास आता, उन्हें सन्ध्या और गायत्री का उपदेश देते। पण्डित इन्द्रमणि ने गायत्री की बहुत-सी प्रतियाँ लिखकर उनके पास रख दी थीं। जब स्वामीजी किसी को कोई प्रति देते तो उसके नीचे १००० का अङ्क लिख देते थे कि इसका १००० बार जप करो! इस प्रकार उन्होंने लगभग ५० व्यक्तियों को गायत्री की प्रतियाँ बाँटीं।

एक दिन एक पण्डित ने उनसे पूछा कि श्रीराम और श्रीकृष्ण ईश्वर के अवतार थे या नहीं? स्वामीजी ने कहा—"वे अवतार नहीं थे। वे प्रतापी राजा थे। ईश्वर कभी अवतार धारण नहीं करता।"

एक दिन एक सज्जन ने स्वामीजी के पास आकर कहा—"स्वामीजी! दण्डवत्।" स्वामीजी ने हँसकर कहा—"दण्डवत् तुम्हीं होओ।"

हीरावल्लभ से शास्त्रार्थ

तीन-चार दिन यहाँ रहकर स्वामीजी पुनः कर्णवास आ विराजे। यहाँ अम्बादत्त पहले ही मुँह की खा चुका था। उस पराजय की कालिमा धोने के लिए अनूपशहर से पं० हीरावल्लभ को बुला लाये। अपने आराध्यदेवों की मूर्त्तियों को एक सुन्दर सिंहासन पर सजाकर वे बड़े ठाठ-बाट से आये। शास्त्रार्थ में प्रवृत्त होने से पूर्व उन्होंने प्रतिज्ञा की कि मैं इन देवमूर्त्तियों को दयानन्द के हाथ से भोग लगवाकर ही उठूँगा। छह दिन तक शास्त्रार्थ होता रहा। छठे दिन पण्डितजी ने हथियार डाल दिये, अपनी हार स्वीकार कर ली, वाणी से भी और कर्म से भी। सारी सभा के समक्ष उन्होंने कहा—"स्वामीजी जो कुछ कहते हैं, सब सत्य है, प्रामाणिक है। इनकी विद्या अगाध है और शास्त्रानुशीलन अपार।" उसने उसी समय मूर्त्तियों को उठाकर गङ्गा में फेंक दिया और उनके स्थान पर वेद स्थापित कर दिये। उस

समय सभा में कोई दो सहस्र व्यक्ति उपस्थित थे। स्वामीजी पण्डित हीरावल्लभ की न्याय-प्रियता देखकर गद्‌गद हो गये। उन्होंने मुक्तकण्ठ से पण्डितजी की प्रशंसा की। निष्पक्ष जनता ने भी उन्हें हृदय से साधुवाद कहा।

स्वामीजी की इस विजय से ठाकुरों के उत्साह चौगुने बढ़ गये और वे यज्ञोपवीत ग्रहण करने का दृढ़ संकल्प करके स्वामीजी से पूछने लगे कि यज्ञोपवीत ग्रहण करने के समय क्या-क्या कर्म कर्त्तव्य हैं ? महाराज ने उन्हें सम्पूर्ण विधि बता दी। उसके अनुसार बड़ी आयुवालों को प्रायश्चित्त कराना निश्चित हुआ। अनूपशहर, दानपुर, अहमदगढ़, रामघाट, जहाँगीराबाद और कर्णवास के पण्डित गायत्री-जाप के लिए निमन्त्रित होकर अनुष्ठान करने लगे। यह गायत्री-पुरश्चरण आधे शुक्ल-पक्ष में समाप्त हो गया, फिर स्वामीजी की कुटिया पर एक बृहद् हवन हुआ। उसमें होता, उद्गाता और ऋत्विज् कर्णवास के ही पण्डित थे। इसके अनन्तर स्वामीजी ने टीकाराम के छोटे भाई को और गोपालसिंह, भूमिसिंहजी आदि दस-बारह क्षत्रिय युवकों को यज्ञोपवीत देकर दीक्षित किया और गायत्री का उपदेश किया। यज्ञ की समाप्ति पर सब उपस्थित जनों में यज्ञशेष बाँटा गया, जप और यज्ञ के कर्त्ताओं को भी सामर्थ्यानुसार दक्षिणा द्वारा सन्तुष्ट किया गया। ठाकुरों के इस यज्ञ की चर्चा कर्णवास के आस-पास सर्वत्र फैल गई। इस शुभ कर्म का सभी यश गाते थे। उसका लोगों पर इतना प्रभाव पड़ा कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य टोलियाँ बनाकर जाह्नवी के तट पर स्वामीजी के पास जाते और उनके कर-कमलों से जनेऊ ग्रहण करते। ठाकुरों में यह कर्म नूतन था और कर्णवास के ठाकुरों की प्रतिष्ठा भी बहुत थी, इसलिए राजपूतों में इस प्रभाव से यज्ञोपवीत फैलता चला गया। कोई दो-दो सौ कोस के राजपूतों ने आकर स्वामीजी के हाथ से यज्ञोपवीत लिये। जो राजपूत गङ्गा-स्नान करने आते थे, वे साथ ही यह भी एक माहात्म्य समझते थे कि स्वामीजी से दीक्षा लेकर गायत्री का उपदेश ग्रहण किया जाए। चालीस-चालीस, पचास-पचास राजपूत पंक्ति बाँध गङ्गा के किनारे खड़े हो जाते और स्वामीजी उन्हें यज्ञोपवीत देकर गायत्री का उपदेश देते।

वहाँ एक ९० वर्ष की वृद्धा, बाल-विधवा हंसा ठकुरानी रहा करती थी। यह देवी ठाकुर गोपालसिंह की ताई थी। यद्यपि वह

पाँच-छह ग्रामों की स्वामिनी थी, परन्तु उसका भोजन था जौ की रोटी और मूँग की दाल और वह इसे बनाती भी अपने हाथ से ही थी। ठाकुरों के परिवारों में उसका बड़ा आदर था। छोटी-बड़ी सभी बहू-बेटियाँ उसको मानती थीं और माँ कहकर पुकारा करती थीं। जब सब ठाकुर एक-एक करके स्वामीजी के शिष्य हो गये तब उस देवी ने भी स्वामी-दर्शनों की लालसा प्रकट की। ठाकुर गोपालसिंह के पूछने पर स्वामीजी ने उसे आने की आज्ञा दे दी। वह वृद्धा स्वामीजी के समीप आई। उसने अतिशय श्रद्धा से भूमि के साथ सिर लगाकर स्वामीजी को प्रणाम किया। हाथ जोड़कर स्वकल्याण का पथ पूछा। महाराज ने उसे ठाकुर-पूजा छोड़ने को कहा और गायत्री मन्त्र का उपदेश दिया। साथ ही 'ओ३म्' का जप करने की दीक्षा दी। चिरकाल पश्चात् यह प्रथम समय था, जब दयालु दयानन्द द्वारा एक स्त्री को गायत्री-जप करने का अधिकार प्रप्त हुआ। हंसादेवी इस प्रकार के उपदेश से निहाल हो अपने घर लौट आई।

माघ बदी १५ संवत् १९२४ को सूर्यग्रहण था, अतः नर-नारी स्नानार्थ सहस्त्रों की संख्या में कर्णवास आ रहे थे। स्वामीजी समय को अनुकूल समझ भोले-भाले भाइयों को उपदेश करने लगे। उनकी कीर्त्ति-चन्द्रिका तो पहले ही दूर-दूर तक छिटक रही थी, अतः लोगों के झुण्ड-के-झुण्ड दर्शनों को आते, प्रश्न पूछते, संशय निवारण करते और उपदेश सुनकर 'धन्य-धन्य' कहने लगते थे। महाराज बसेन्दू के वृक्ष के नीचे बैठे हुए धर्म-कर्म तथा आचार-विचार का उपदेश करते थे। वे आठ गप्पों का खण्डन करते थे। सैकड़ों लोगों ने स्वामीजी से गायत्री का उपदेश लिया।

सूर्य-ग्रहण में भोजन

डिबाई-निवासी शिवदयालजी सूर्य-ग्रहण के अवसर पर वहाँ आये हुए थे। उन्होंने पूछा—"स्वामीजी! ग्रहण लगा हो तो भोजन किस समय करना चाहिए?" महाराज ने कहा कि जब भूख लगे, तब खा लेना चाहिए।

यज्ञोपवीत का महत्त्व

शिवदयाल ने यज्ञोपवीत के विषय में पूछा कि इसका किसे अधिकार है? इसके न धारण करने में क्या दोष हैं और धारण करने में क्या गुण हैं? स्वामीजी ने कहा कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के बालकों को जनेऊ लेने का अधिकार है। जिसने यज्ञोपवीत धारण

नहीं किया, वह वैदिक कर्म करने का अधिकारी नहीं हो सकता। यह सूत्र आर्यों का धार्मिक चिह्न है और कर्त्तव्य-चिह्न भी है।

बुलन्दशहर के कलेक्टर

कर्णवास में एक दिन बुलन्दशहर के कलेक्टर महाशय पधारे। स्वामीजी की कीर्ति उन्होंने पहले ही सुन रक्खी थी, परन्तु कर्णवास में आकर जब उन्होंने स्वामी-यश सुना और साथ ही उन्हें यह भी पता लगा कि वे परमहंस महात्मा यहीं टिके हुए हैं तब मिलापार्थ स्वामी-कुटी पर जा पहुँचे। उस समय महाराज कुटिया के भीतर ज्ञान-ध्यान में लगे थे। कुटी से दूर खड़े होकर कलेक्टर महाशय ने एक व्यक्ति को स्वामीजी की सेवा में भेजा और दर्शनों की इच्छा प्रकट की। स्वामीजी ने उत्तर में कहा कि मुझे इस समय अवकाश नहीं है। कलेक्टर ने फिर पुछवाया कि आपको अवकाश किस समय होगा? उत्तर में स्वामीजी ने पूछा कि कलेक्टर महाशय को किस समय अवकाश होगा? कलेक्टर महाशय ने उत्तर भिजवाया कि चार घण्टे पश्चात् मुझे अवकाश-ही-अवकाश है। यह सुनते ही स्वामीजी कुटी से बाहर निकल आये। शिष्टाचार के पश्चात् वेद-मन्त्रों और मनुस्मृति के श्लोकों से कलेक्टर महाशय को राज-धर्म का उपदेश देते हुए बोले—"जिसके सिर पर एक परिवार के भरण-पोषण का भार होता है उसे बड़ी दौड़-धूप करनी पड़ती है, रातों जागना पड़ता है और सिर खुजाने का भी अवकाश नहीं मिलता, परन्तु आपके कथन से बड़ा आश्चर्य हुआ कि सहस्रों लोगों का बोझ आपके कन्धों पर है, दीन-दुःखियों के संकट निवारण करना आपका कर्त्तव्य है और तिस पर भी आपको चार घण्टों के पश्चात् अवकाश-ही-अवकाश है।" स्वामीजी के स्पष्ट कथन को कलेक्टर महाशय ने स्वीकार किया और वे प्रसन्नतापूर्वक वहाँ से विदा होकर चले आये।

बिना शास्त्रार्थ पण्डितगण पराजित

एक दिन अहमदगढ़ के पण्डित कमलनयन और अलीगढ़ के पण्डित सुखदेव अपने पन्द्रह-बीस साथियों सहित कुछ अतिक्लिष्ट प्रश्न पूछने के लिए महाराज के पास आये। उस समय महाराज कहीं गये हुए थे। थोड़ी प्रतीक्षा के पश्चात् जब स्वामीजी वहाँ आये, तब इन सबने अभ्युत्थानपूर्वक अभिवादन किया। महाराज तृणासन पर बैठकर थोड़ी देर के लिए ध्यानावस्थित हो गये। फिर आँखें खोलकर

आगन्तुकों से कई बार कहा कि जो कुछ पूछना है, पूछ लो, परन्तु किसी के मुख से एक शब्द भी नहीं निकला। तब स्वामीजी ने उपदेश देना आरम्भ किया। वे लोग सुनते रहे और 'सत्य है, सत्य है' कहते रहे। वहाँ से लौटते हुए मार्ग में वे लोग कहने लगे कि पता नहीं दयानन्द में कौन-सी शक्ति है कि उसके समक्ष जाकर हम सबके मुँह पर ताले लग गये और हम एक भी प्रश्न न पूछ सके।

अस्तेयव्रती दयानन्द

एक दिन पं० नन्दकिशोर उपाध्याय स्वामीजी के दर्शनार्थ जा रहे थे। मार्ग में एक खेत में श्याम सेम की फलियाँ देखकर उन्होंने कुछ फलियाँ तोड़ लीं और स्वामीजी के समक्ष प्रस्तुत कर दीं। स्वामीजी ने कहा—"नन्दकिशोरजी! तुम ये फलियाँ चोरी करके लाये हो, अतः हम ग्रहण नहीं करेंगे।" ये शब्द सुनकर वे कुछ सटपटाये और बोले कि महाराज! मैंने किसकी चोरी की है? महाराज ने हँसकर कहा—"सच कहिए, क्या आप ये फलियाँ खेत के स्वामी की आज्ञा से तोड़कर लाये हैं?" इसपर पण्डितजी बड़े लज्जित हुए और अपने कर्म पर पश्चात्ताप किया।

द्वन्द्वातीत दयानन्द

स्वामीजी ने द्वन्द्वों को जीत लिया था। उन्हें न जाड़ा लगता था और न गर्मी। माघ मास के एक दिन प्रातःकाल अत्यन्त शीतल पछवा पवन बड़ी तीव्र गति से चल रहा था। कड़ाके की सर्दी थी। स्वामीजी सदा की भाँति पद्मासन लगाये उपदेश-कार्य में रत थे। न तो उनके स्वर या शरीर में कोई प्रकम्प था और न सर्दी का कोई प्रभाव। उधर श्रोता रुई और ऊन के वस्त्र पहने हुए, रजाई और कम्बल ओढ़े हुए भी ठिठुरे जाते थे। उनके तन काँपते थे, नाक और आँख से पानी बह रहा था। दाँत कटाकट बज रहे थे और हाथ-पाँव शून्य हुए जाते थे। उस समय ठाकुर गोपालसिंह ने पूछा—"भगवन्! घोर शीत के कारण हमारे शरीर काँप रहे हैं, परन्तु आपपर इस महाशीत का किञ्चित भी प्रभाव दिखाई नहीं देता, इसका क्या कारण है?" स्वामीजी ने मुस्कराकर उत्तर दिया—"ब्रह्मचर्य और योगाभ्यास ही इसका कारण है।" ठाकुर महाशय ने कहा—"हम कैसे जानें?" उस समय स्वामीजी ने अपने हाथों के अंगूठे घुटनों पर रखकर ऐसे बल से दबाये कि उनके सारे शरीर से पसीना चू निकला। लोग देकर चकित रह गये और उन्हें महाराज के योगबल

का पूर्ण विश्वास हो गया।

रात्रि में दो यूरोपियनों से साक्षात्कार

शुक्लपक्ष का चन्द्रमा विमल व्योम में अपनी चन्द्रिका छिटका रहा था। शीत अपना साम्राज्य जमाये हुए था। ऊपर से चन्द्रमा शीतलता की वृष्टि कर रहा था तो नीचे गङ्गा की रेती शीत उगल रही थी। ऐसी शीत-रात्रि में महर्षि दयानन्द कर्णवास में गङ्गा के दूसरे तट पर गङ्गा की सिकता पर आसन लगाये हुए समाधिस्थ थे। ऐसे समय में दो अंग्रेज़ आखेट के लिए उधर आ निकले। एक तो उनमें बदायूँ का कलेक्टर था और दूसरा उसका मित्र कोई पादरी था। वे दोनों उस संन्यासी को कौपीनमात्र धारण किये हुए गङ्गा की ठण्डी बालुका में बैठा देखकर आश्चर्य में निमग्न हो गये और बहुत देर तक टकटकी लगाये उनकी ओर देखते रहे। जब ऋषि ने आँखें खोलीं तब कलेक्टर महोदय कहने लगे—"हमें बड़ा आश्चर्य है कि आप गङ्गा के तट पर ठण्डी बालुका पर रात्रि के समय, केवल एक लंगोट लगाये हुए ऐसे शीतकाल में बैठे हैं। क्या आपको सर्दी नहीं लगती?" स्वामीजी उत्तर देने ही लगे थे कि उनका पादरी मित्र बोल उठा—"ये अण्डे और मांस आदि पौष्टिक पदार्थ खा-खाकर मुटा गये हैं, इन्हें जाड़ा कैसे लग सकता है?" स्वामीजी ने हँसकर कहा—"हम दाल-रोटी के खानेवाले क्या माल खा सकते हैं? बहुत जोर लगाया तो कुछ दूध पी लिया। माल तो आप खाते हैं, मांस और अण्डे उड़ाते हैं, मदिरा भी पी जाते हैं। यदि शीत का लगना, न लगना मांस-अण्डे खाने पर ही निर्भर है, तो आइए, वस्त्र उतारकर थोड़ी देर मेरे साथ बैठ जाइए।" महर्षि के ऐसा कहने पर वह लज्जित हो गया और विषय बदलकर कहने लगा—"अच्छा तो फिर आपको शीत न लगने का क्या कारण है?" स्वामीजी ने कहा—"इसका मुख्य कारण अभ्यास है। आपका मुँह सदा खुला रहता है, इसलिए उसे ढकने की इस समय भी आपको आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।" कलेक्टर ने अपने मित्र को आगे कुछ कहने से रोक दिया और वे दोनों नमस्कार करके चले गये।

भ्रमण करते हुए स्वामीजी गढ़िया-घाट में जा सुशोभित हुए। यह चैत्र संवत् १९२५ की बात है। सोरों में बलदेवगिरि गोसाईं प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखे जाते थे। स्वामीजी की ख्याति उनके कानों तक पहुँच चुकी थी और वे उनके दर्शनों के लिए उत्सुक थे।

स्वामीजी के आने का समाचार पा वह पं० नारायण चक्रांकित तथा अन्य पण्डितों को साथ लेकर अपने स्थान अम्बागढ़ से स्वामीजी के स्थान पर पहुँचा। वार्तालाप में चक्रांकित कुछ ही क्षणों में निरुत्तर हो गया। महाराज की विचारशैली, विद्या, तप और तेज से गोसाईं इतना प्रभावित हुआ कि प्रतिदिन सेवा में उपस्थित होने लगा और उसने एक मास तक स्वामीजी का भावपूर्ण आतिथ्य किया।

एक दिन कैलाशपर्वतजी गढ़ियाघाट पधारे। स्वामीजी उन्हें देखकर उनकी कुटिया में चले गये और बोले—"इतना बड़ा कैलाशपर्वत इस छोटी-सी कुटिया में कैसे आ गया?" कैलाशपर्वतजी ने स्वामीजी को अपने पास बैठा लिया और हरद्वार-त्याग के पश्चात् का वृत्तान्त पूछने लगे। वृत्तान्त बताते हुए स्वामीजी ने कहा—"कैलाशपर्वतजी! रामानुज, वल्लभ आदि साम्प्रदायिक मतों ने पुरातन धर्म-कर्म एवं रीति-नीति को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है। इनके खण्डन में आप मेरे सहायक बनें।" कैलाशपर्वतजी ने कहा—"आपका विचार उत्तम है। इन मतों का खण्डन आवश्यक है। मैं आपको प्रत्येक प्रकार की सहायता देने को उद्यत हूँ, परन्तु आपको मेरी दो बातें स्वीकार करनी होंगी। एक तो आप मूर्त्तिपूजा का खण्डन करना छोड़ दीजिए और दूसरे पुराणों की आलोचना मत कीजिए।"

स्वामीजी ने कहा—"महात्मन्! इन सम्प्रदायों का आधार यही मूर्त्तिपूजा और पुराण हैं। जब तक इनका खण्डन न होगा, तब तक आर्ष-ग्रन्थों का आदर न हो सकेगा। आप संन्यासी हैं, अतः निर्भय होकर लोगों में सत्य का प्रचार कीजिए।" कैलाशपर्वतजी भीरु बहुत थे और वराह के मन्दिर से उन्हें आय भी बहुत होती थी, अतः वे दयानन्दजी को सहयोग देने के लिए उद्यत नहीं हुए।

सोरों में

गुसाईं बलदेवगिरी के आग्रह पर स्वामीजी सोरों पधारे और उनके यहाँ अम्बागढ़ में ही ठहरे। महाराज के आगमन का समाचार पाकर झुण्ड-के-झुण्ड उनके दर्शनों को आने लगे। बहुत-से चक्रांकित वाद के लिए आये, परन्तु कोई आधी घड़ी भी उनके समक्ष नहीं ठहर सका। इसका प्रभाव यह हुआ कि पं० गोविन्दराम चक्रांकित ने अपने मत को तिलाञ्जलि देकर स्वामीजी की शिक्षा ग्रहण कर ली।

अङ्गदशास्त्री शिष्य बन गये

सोरों के पास एक ग्राम है बदरिया। वहाँ पण्डित अङ्गदराम

शास्त्री निवास करते थे। वे संस्कृत के धुरन्धर विद्वान् और व्याकरण के पण्डित थे। उनके साथ शास्त्रार्थ करने से अच्छे-अच्छे विद्वान् घबराते थे। वे शालग्राम की पूजा और भागवत की कथा कहा करते थे। वे भी स्वामीजी की प्रशंसा सुन और शास्त्रार्थेच्छु होकर स्वामीजी के पास आये। विचार आरम्भ हुआ। मूर्त्तिपूजा पर चर्चा चली। स्वामीजी ने युक्ति-प्रमाणों से ऐसा खण्डन किया कि अङ्गदशास्त्रीजी से कोई उत्तर न बन पड़ा। स्वामीजी ने भागवत की भी आलोचना की और उसकी अनेक अशुद्धियाँ दिखायीं। अङ्गदशास्त्री हठी न थे, उन्हें पराजय स्वीकार करने में लज्जा न थी। उन्होंने स्वामीजी का पक्ष स्वीकार कर अपनी मूर्त्तियों को गङ्गा में विसर्जित कर दिया और मन-ही-मन भागवत की कथा न करने की प्रतिज्ञा कर ली। उनका अनुकरण करते हुए बलदेवगिरि ने भी अपनी मूर्त्तियों को गङ्गा में फेंक दिया। सहस्त्रों अन्य लोगों ने भी अङ्गदशास्त्री का अनुकरण कर मूर्त्तिपूजा को तिलाञ्जलि दे दी और सन्ध्या करना आरम्भ कर दिया। वृन्दावन के रंगाचार्य प्रतिवर्ष सोरों में आकर लोगों को चक्रांकित किया करते थे, परन्तु स्वामीजी के आगमन के पश्चात् उनका सोरों आना-जाना बन्द हो गया।

दयानन्द के धोखे में एक साधु का गङ्गा में मज्जन

स्वामीजी की तीव्र आलोचना से मूर्त्तिपूजक-दल बहुत रुष्ट हो गया। यहाँ तक कि कुछ उपद्रवी लोगों ने तो उन्हें विष देकर अथवा जलमग्न कर देने का षड्यन्त्र रचा। एक रात ऐसे कुछ लोग एकत्र होकर आये कि दयानन्द को पकड़कर गङ्गा में डुबो दें। उस समय स्वामीजी के समीपवर्ती स्थान में एक और साधु सुख से सो रहा था। उन्होंने उसी को दयानन्द समझकर खटिया-सहित उठा लिया और ले-जाकर गंगा की धारा में फेंक दिया। जब वह चिल्लाया कि मुझे बचाओ, तब उन्हें पता चला कि उन्होंने दयानन्द के धोखे में अन्य साधु को गङ्गा में डाल दिया है और तब उस साधु को बाहर निकाला।

क्रोधी जाट भक्त बना

एक दिन स्वामीजी उपदेश कर रहे थे और बीसियों लोग दत्तचित्त होकर श्रवण कर रहे थे। उस समय वहाँ एक हट्टा-कट्टा पहलवान-सा जाट आ गया। एक मोटा सोटा कन्धे पर रक्खे सभा-सरोवर को चीरता-फाड़ता वह सीधा स्वामीजी की ओर बढ़ा।

उसका चेहरा मारे क्रोध के तमतमा रहा था। आँखें रक्तवर्ण थीं, भौंहें तन रही थीं और माथे पर त्योरी पड़ी हुई थी। होठों को चबाता और दाँतों को पीसता हुआ वह बोला—"अरे साधु! तू ठाकुर-पूजा का खण्डन करता है, श्री गंगामैया की निन्दा करता और देवता के विरुद्ध बोलता है। झटपट बता, तेरे किस अंग पर सोटा मारकर तेरी समाप्ति कर दूँ?" ये वचन सुनकर, एक बार तो सारी सभा विचलित हो गई, परन्तु स्वामीजी की गम्भीरता में रत्ती-भर भी न्यूनता न आई। उन्होंने शान्तभाव से मुस्कराते हुए कहा कि "भद्र! यदि तेरे विचार में मेरा धर्म-प्रचार करना कोई अपराध है तो इस अपराध का प्रेरक मेरा मस्तिष्क ही है। यही मुझे खण्डन की बातें सुझाता है, अत: यदि तू अपराधी को दण्ड देना चाहता है तो मेरे सिर पर सोटा मार, इसी को दण्डित कर।" इन वाक्यों के साथ ही स्वामीजी ने अपने नेत्रों की ज्योति उसकी आँखों में डालकर उसे देखा। जैसे बिजली कौंधकर रह जाती है, धधकता हुआ अंगारा जलधार-पात से शान्त हो जाता है, वैसे ही तत्काल वह बलिष्ठ व्यक्ति ठण्डा हो गया। वह श्रीचरणों में गिर पड़ा और अविरल अश्रुमोचन करता हुआ अपराध क्षमा कराने की याचना करने लगा। स्वामीजी ने उसे आश्वासन दिया और कहा—"तुमने कोई अपराध नहीं किया। मुझे मारते तो भी कोई बात न थी, अब यों ही क्यों रो रहे हो? जाओ, ईश्वर तुम्हें सन्मार्ग प्रदर्शित करें।"

इस दृश्य को देख लोग स्वामीजी की सहनशीलता की अत्यन्त प्रशंसा करते हुए आपस में कहते थे कि सोरों में बहुतेरे साधु-सन्त आये, परन्तु ऐसा ज्ञानी, ऐसा निर्भय और ऐसा क्षमावान् कभी भी कोई न आया होगा।

वेद-प्रचार में तुलनातीत आनन्द

एक दिन साधु मायाराम ने कहा—"दयानन्दजी! आप इस खण्डन-मण्डन के झमेले में क्यों पड़ गये? हमारी तरह आनन्द से खा-पीकर सुख में रहा करो। क्यों वैर बढ़ाते हो?" स्वामीजी ने उत्तर दिया कि—"हम तो ब्रह्मानन्द में रहते हैं और जो आनन्द वेद-प्रचार में आता है, वह तो तुलनातीत है।"

राव कर्णसिंह की तलवार

ज्येष्ठ संवत् १९२५ में स्वामीजी पुन: कर्णवास में अपनी पुरातन कुटिया में आ विराजे। उसी समय गङ्गा-स्नान का मेला था। सहस्रों

नर-नारी एकत्र हुए। उस समय राव कर्णसिंह भी स्नानार्थ आये। वे स्वामीजी की कुटिया से थोड़े ही अन्तर पर ठहरे थे। रात्रि में उनके स्थान पर रास होने लगा। कुछ पण्डित लोग स्वामीजी को बुलाने आये। स्वामीजी ने कहा—"हम ऐसे निन्दनीय कार्य में कदापि सम्मिलित नहीं हो सकते। तुम लोग अपने महापुरुषों का स्वांग बनाते हो, यह लज्जा और शोक की बात है।"

अगले दिन पण्डित लोगों ने स्वामीजी के कथन में नमक-मिर्च लगाकर राव महाशय को बहुत भड़काया। वह भी उत्तेजित होकर पण्डितों और नौकरों को साथ ले स्वामीजी की कुटिया पर चढ़ आया। सायं का समय था, महाराज उपदेश कर रहे थे। श्रोतागण मुग्ध होकर उपदेशामृत-पान करने में मग्न थे। ऐसे समय में खट-खट करती हुई राव महाशय की सेना वहाँ आ पहुँची। स्वामीजी ने "आइए, बैठिए" इत्यादि शब्दों से उनका सत्कार किया। राव महाशय बोले—"कहाँ बैठें ?"

"जहाँ आपकी इच्छा"—उसके अहंकार को देख स्वामीजी ने उत्तर दिया।

"हम तो जहाँ तुम बैठे हो, वहीं बैठेंगे"—राव महाशय बोले।

"आइए, यहीं बैठिए।" स्वामीजी ने अपनी शीतलपट्टी हटाते हुए कहा।

"आप हमारे यहाँ रास में क्यों नहीं आये ?"

"आपके सम्मुख मलिन पुरुष आपके पूज्य पुरुषों का स्वांग भरकर आते हैं, और आप लोग बैठे-बैठे देखा करते हैं। आपको लज्जा नहीं आती ? आप कैसे क्षत्रिय हैं ? किसी साधारण पुरुष के माता-पिता का स्वरूप भरकर कोई नचावे तो उसे कितना बुरा लगता है ? यदि कोई आपका स्वांग भरकर नाचे तो क्या आप सहन करेंगे ?"

"हमने सुना है कि तुम अवतारों और गङ्गा की निन्दा करते हो। यदि मेरे सामने निन्दा की तो बुरा बर्ताव करूँगा।"

"मैं निन्दा नहीं करता। जो वस्तु जैसी है उसे वैसी ही कहता हूँ। गङ्गा भी जैसी और जितनी है उसे वैसी और उतनी ही वर्णन करता हूँ। सत्य के कहने में मैं सर्वथा निर्भय हूँ।"

"तो फिर गङ्गा कितनी है ?"

स्वामीजी अपना कमण्डलु उठाकर बोले—"मेरे लिए तो इतना

जल उपयुक्त है, अतः यह इतनी ही है।''

''**गङ्गा गङ्गेति**'' इत्यादि श्लोकों में नाम, कीर्तन, दर्शन और स्पर्श से पाप-नाश कहा गया है, क्या यह झूठा है?'' कर्णसिंह ने पूछा।

''ये श्लोक साधारण लोगों के कपोलकल्पित हैं। माहात्म्य सब गप्प हैं। पाप-नाश और मोक्ष-प्राप्ति वेदानुकूल आचरण से ही होगी, अन्यथा नहीं।''

इतना सुनकर राव आगबबूला हो गया।

स्वामीजी ने पूछा—''राव महाशय! आपके भाल पर यह रेखा-सी क्या है?''

''यह श्री है। जो इसे धारण नहीं करता, वह चाण्डाल है।'' राव ने उत्तर दिया।

''आप वैष्णव कब से हुए हैं?''

''कुछ वर्षों से।''

''क्या आपके पिता भी वैष्णव सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे?''

''नहीं।'' कर्णसिंह ने घूरकर कहा।

''तब तो आपके कथनानुसार आपके पिता और कुछ वर्ष पूर्व आप भी चाण्डाल सिद्ध हो गये।''

इस बात पर राव को क्रोध आ गया और वह तलवार पर हाथ रखकर बोला—''मुँह सँभालकर बोलो!'' इसपर स्वामीजी ने कहा—''राव महाशय! खड्ग को बार-बार क्यों सञ्चालित करते हो? शास्त्रार्थ करना हो तो अपने गुरु रंगाचार्य को बुलवा लो, हम कटिबद्ध हैं, लेकिन यदि आपको शस्त्रार्थ करने का चाव है तो संन्यासी से क्यों करते हो? जयपुर, जोधपुर से जा भिड़ो।''

फिर क्या था, राव आपे से बाहर हो गये। उनकी आँखों से चिनगारियाँ छूटने लगीं। हाथों की मुट्ठियाँ ऐंठ गई। होंठ फड़क उठे। भीषण रूप धारण करके, वे उचितानुचित का कोई विचार किये बिना खरी-खोटी बातें सुनाते खड्गहस्त स्वामीजी की ओर लपके। स्वामीजी ने ''अरे धूर्त्त'' कहते हुए उन्हें हाथ से धकेल दिया। इससे राव एक बार तो लुढ़क गये, परन्तु फिर सँभलकर चौगुने कोपावेश में महाराज पर तलवार का वार करने के लिए आगे बढ़े। वे तलवार चलाना ही चाहते थे कि महाराज ने झपटकर उसे उनके हाथ से छीन लिया और भूमि के साथ टेक देकर दबाव से

उसके दो टुकड़े कर डाले। स्वामीजी ने राव महाशय का हाथ पकड़कर कहा—"क्या तुम यह चाहते हो कि मैं भी आततायी पर प्रहार कर बदला लूँ?" राव महाशय का मुँह पीला पड़ गया, तन पर मूर्च्छा-सी छा गई। उस समय स्वामीजी ने कहा—"मैं संन्यासी हूँ, तुम्हारे किसी भी अत्याचार से चिढ़कर तुम्हारा अनिष्ट-चिन्तन नहीं करूँगा। जाओ, ईश्वर तुम्हें सुमति प्रदान करे!" महाराज ने तलवार के दोनों खण्ड दूर फेंककर राव को विदा कर दिया।

कर्णसिंह के चले जाने पर महाराज पूर्ववत् शान्ति और सुमनस्कता के साथ उपदेश करने लगे, मानो कोई घटना घटी ही नहीं।

शरत् पूर्णिमा पर राव कर्णसिंह पुनः गङ्गा-स्नान को आया। स्वामीजी वहीं विराजमान थे। उन्हें उसी प्रकार खण्डन-मण्डन में प्रवृत्त देखकर उसके दुष्टभाव पुनः जाग्रत् हुए। एक दिन उसने अपने तीन सेवकों को स्वामीजी का सिर काट लाने के लिए भेजा। खटका पाकर स्वामीजी जाग गये और उन्होंने इतने जोर से हुंकार किया कि हत्या के लिए आये लोग भयभीत होकर गिर पड़े। फिर वे ज्यों-त्यों सँभले और भाग गये।

इस सब लीला के पश्चात् स्वामीजी अम्बागढ़ चले गये।

एक दिन, गङ्गा-तीर पर एक साधु कमण्डलु आदि प्रक्षालन करके वस्त्र धोने में प्रवृत्त था। वह था एक घुटा हुआ मायावादी। दैवयोग से भ्रमण करते हुए स्वामीजी वहीं जा पहुँचे। उसने स्वामीजी को सम्बोधन करके कहा—"इतने त्यागी, परमहंस होकर आप खण्डन-मण्डनरूप प्रवृत्ति के जटिल जाल में क्यों उलझ रहे हो? निर्लेप होकर क्यों नहीं विचरते?" महाराज मुस्कराकर बोले, "हम तो यह सब-कुछ करते हुए भी निर्लेप हैं। अब रही प्रवृत्ति की बात, सो शास्त्रीय प्रवृत्ति प्रजा-प्रेम से प्रेरित होकर सभी को करनी उचित है।"

साधुजी ने कहा, "प्रजा-प्रेम का नया बखेड़ा क्यों डालते हो? आत्मा से प्रेम करो, जिसके लिए कि श्रुति पुकार रही है।" उस समय उसने मैत्रेयी और याज्ञवल्क्य के संवाद के वाक्य भी बोले। तब स्वामीजी ने पूछा, "महात्मन्! आप किससे प्रेम करते हैं?" साधु बोला, "आत्मा से।" स्वामीजी ने पूछा, "वह प्रेममय आत्मा कहाँ है?" साधु ने कहा, "वह राजा-रंकपर्यन्त, हस्ती से लेकर कीट तक सर्वत्र ऊँच-नीच में परिपूर्ण है।" स्वामीजी बोले, "जो

आत्मा सबमें रमा हुआ है, क्या आप सचमुच उससे प्रेम करते हैं ?'' साधु ने उत्तर दिया, ''तो क्या हमने मिथ्या वचन बोला है ?''

तत्पश्चात् स्वामीजी ने गम्भीरतापूर्वक कहा—''नहीं, आप उस महान् आत्मा से प्रेम नहीं करते। आपको अपनी भिक्षा की चिन्ता है, अपने वस्त्र उज्ज्वल बनाने का ध्यान है, अपने भरण-पोषण का विचार है। क्या आपने कभी उन बन्धुओं का भी चिन्तन किया है, जो आपके देश में, लाखों की संख्या में भूख की चिता पर पड़े हुए रात-दिन, बारहों महीने, भीतर-ही-भीतर जलकर राख हो रहे हैं ? सहस्त्रों मनुष्य आपके देश में ऐसे हैं, जिन्हें आजीवन उदर भरकर खाने को अन्न नहीं जुड़ता। उनके तन पर सड़े-गले मैले-कुचैले चिथड़े लिपट रहे हैं। लाखों निर्धन, दीन-ग्रामीण भेड़ों और बकरियों की भाँति, गन्दे कीचड़ और कूड़े के ढेरों से घिरे हुए, सड़े-गले झोंपड़ों में लोटते हुए जीवन के दिन काट रहे हैं। ऐसे कितने ही दीन-दुःखिया भारतवासी हैं, जिनकी सार-सँभाल कोई भूले-भटके भी नहीं लेता। बहुतेरे कु-समय में राज-मार्गों में पड़े-पड़े पाँव पीट-पीटकर मर जाते हैं, परन्तु उनकी बात तक पूछनेवाला कोई नहीं मिलता। महात्मन्! यदि आत्मा से और विराट् आत्मा से प्रेम करना है तो अपने अंगों की भाँति सबको अपनाना होगा। अपनी क्षुधा-निवृत्ति की भाँति उनकी भी चिन्ता करनी पड़ेगी। सच्चा परमात्मा-प्रेमी किसी से घृणा नहीं करता। वह ऊँच-नीच की भेदभावना को त्याग देता है। उतने ही पुरुषार्थ से दूसरों के दुःख निवारण करता है, कष्ट-क्लेश काटता है, जितने से वह अपने करता है। ऐसे ज्ञानीजन ही वास्तव में आत्मा-प्रेमी कहलाने के अधिकारी हैं।'' वह साधु यह सुनकर स्वामीजी के चरणों में गिर पड़ा और अपने अपराध की क्षमा माँगने लगा।

व्याकरण का सूर्य अस्त हो गया

अम्बागढ़ और सरदोल के नागरिकों को अपने उपदेशों से उपकृत करते हुए स्वामीजी शाहबाजपुर में आकर आसीन हुए। संवत् १९२५ आश्विन कृष्णा १३ को गुरु विरजानन्दजी दण्डी का देहावसान हो गया। यह हृदय-द्रावक समाचार सुनकर स्वामीजी का मुखकमल म्लान हो गया। कुछ देर सन्न रहकर वे बोले—''आज व्याकरण का सूर्य अस्त हो गया!'' गुरु-वियोग में उस दिन उन्होंने जल तक ग्रहण न किया।

दयानन्द के शिर-छेद का यत्न

यहाँ भी स्वामीजी को समाप्त करने का षड्यन्त्र किया गया। दो वैरागी गङ्गा-पार से ठाकुर गङ्गासिंह के पास आये और कहने लगे—"हम इस गप्पाष्टक दयानन्द का सिर काटना चाहते हैं, अतः आप हमें अपना खड्ग दे दीजिए।" ठाकुर, महाराज का उपदेश सुन चुका था और उनका श्रद्धालु बन गया था। उसने उन वैरागियों को दुत्कारा और कहा—"वे तो बड़े महात्मा हैं। दुष्टो! यदि तुमने फिर यह बात मुँह से निकाली तो मैं तुम्हारा ही सिर काट लूँगा।" उन्हें धिक्कार और फटकारकर वह ठाकुर दो-चार साथियों को साथ ले और शस्त्रों से सुसज्जित हो स्वामीजी के पास पहुँचा और उन्हें वैरागियों की दुष्ट लीला कह सुनाई। स्वामीजी ने उदासीनभाव से कहा—"उनकी क्या सामर्थ्य है जो मेरी हत्या कर सकें!" परन्तु ठाकुर महाशय के चित्त में चिन्ता वैसी ही बनी रही, अतः वह स्वामीजी के निषेध करने पर भी रात-भर पहरा देता रहा।

ककोड़ा में

शाहबाजपुर से स्वामीजी कादिरगंज और नरदौली में प्रचार करते हुए कार्तिक शुक्ला १३ संवत् १९२५ में ककोड़े के मेले में प्रचारार्थ जा पहुँचे। अगले दिन बलदेवगिरि भी आ पहुँचे। उन्होंने महाराज के स्थल पर कनात लगवा दी। उनके बैठने के लिए एक ऊँचा स्थान बनाकर उसपर गद्दे डलवा दिये और उसपर महाराज को बिठाया। सारे मेले में महाराज के प्रचार की धूम थी। सैकड़ों वैष्णव आये, परन्तु शान्त और मौन होकर लौट गये। पादरियों और मौलवियों ने भी प्रश्न किये, परन्तु स्वामीजी के प्रखर प्रहारों को वे अधिक सहन न कर सके।

एक अंग्रेज पादरी के साथ धर्मविषयक प्रश्नोत्तरों के अतिरिक्त निम्न प्रश्नोत्तर भी हुए—

पादरी—"आप नंगे क्यों रहते हैं?"

स्वामीजी—"इससे मुझे सुख मिलता है। आपके वस्त्रों पर धूलि गिर जाए तो वे मैले हो जाएँगे। मेरे शरीर पर यदि मिट्टी गिर भी जाए तो कोई हानि नहीं, क्योंकि इसपर तो पहले से ही मिट्टी मली हुई है।"

पादरी—"आप इतने हृष्ट-पुष्ट, मोटे एवं स्वस्थ कैसे हैं?"

स्वामीजी—"इसका कारण सन्तोष है।"

"आप खूब माल खाते होंगे।" पादरी ने व्यंग्य से कहा।

स्वामीजी—"मेरे साथ जंगल में रहकर देख लो कि मैं क्या माल खाता हूँ।"

पण्डित उमादत्त ने कई पण्डितों-सहित आकर मूर्त्तिपूजा पर वाद चलाया, परन्तु थोड़ी ही देर में वह लड़खड़ा गया। जब कहीं पाँव न टिका तो कहने लगे—"देखो! एकलव्य ने द्रोणाचार्य की मूर्त्ति बनाकर पूजा की थी।" स्वामीजी ने कहा—"एक अज्ञानी भील का कर्म प्रमाण नहीं हो सकता। किसी सभ्य मनुष्य का प्रमाण दो।"

कायमगंज के पण्डित श्यामलाल भी स्वामीजी से मिलने गये थे। स्वामीजी ने पण्डित श्यामलाल से पूछा—"कहाँ रहते हो और क्या करते हो?" उसने कहा, "मैं कायमगंज में रहता हूँ और पुराणों की कथा करता हूँ। आजकल ब्रह्मवैवर्त का श्रीकृष्ण-खण्ड सुना रहा हूँ।" स्वामीजी ने मुस्कराकर कहा—"शीघ्र समाप्त कर लो, अन्यथा तुम्हारी हानि होगी, क्योंकि यह शरीर बीस दिन तक वहाँ पहुँच जाएगा।"

कायमगंज में

मेले की समाप्ति पर बलदेवगिरि आदि को विदा कर स्वामीजी परिव्रजन करते हुए मार्गशीर्ष संवत् १९२५ में कायमगंज में हरिशंकर पाण्डेय के शिवालय में उतरे। यहाँ कोई विशेष शास्त्रार्थ नहीं हुआ। पौराणिक लोग आकर अपनी शंका-निवारण करते रहे।

ऊँचा बैठने से कोई बड़ा नहीं होता

एक दिन कई ईसाई सज्जन स्वामीजी के डेरे पर आये और इधर-उधर ऊँचे स्थानों पर बैठ गये। स्वामीजी के भक्तों ने इससे बुरा मनाया, परन्तु महाराज ने कहा कि किसी के ऊँचे स्थान पर बैठ जाने से दूसरा नीचा नहीं हो जाता। यदि इसी में बड़प्पन हो तो पक्षी सबसे ऊँचे स्थान पर बैठते हैं। पादरियों के पूछने पर स्वामीजी ने कहा कि पाप क्षमा नहीं होते।

भागवत, शिवालय और शिव-पूजन का भी स्वामीजी ने खण्डन किया। एक ने कहा कि सत्यनारायण की कथा के लिए हम लोग एक रुपये की मनौती मानते हैं तो कार्य सिद्ध हो जाता है। इसे आप कैसे मिथ्या कहेंगे? महाराज ने कहा कि हम पाँच रुपये मनौती में दिखाते हैं कि लखपति हो जाएँ, तो क्या हो जाएँगे?

फर्रुखाबाद में

कायमगंज से प्रस्थान कर स्वामीजी शम्साबाद होते हुए पौष संवत् १९२५ में फर्रुखाबाद पधारे और ला० जगन्नाथ के विश्रान्तघाट पर ठहरे। महाराज के वहाँ पहुँचते ही उनकी कीर्ति सारे नगर में फैल गई। प्रतिदिन सहस्रों की संख्या में लोग आते, प्रश्न पूछते, भ्रम मिटाते और सन्ध्या-गायत्री सीखते थे। दार्शनिक विद्वान् पं० विश्वम्भरदासजी स्वामीजी के उपदेशों से मोहित होकर उनके अनुयायी बन गये।

स्वामीजी के तीव्र खण्डन से प्रभावित होकर अनेक लोगों ने मूर्त्तिपूजा छोड़ दी। अनेक पण्डितों और वैश्यों ने महाराज के कर-कमलों से विधिपूर्वक यज्ञोपवीत लिया। कुछ पौराणिक पण्डितों ने कहा—"यह कर्म अत्यन्त अनिष्टकारी होगा, क्योंकि एक तो गणेश-पूजन नहीं हुआ, दूसरे इस समय शुक्र अस्त हो रहा है।" स्वामीजी ने उत्तर दिया—"गणेश-पूजन तो वेद-विरुद्ध है। उसका न होना कभी भी अनिष्टकारी नहीं हो सकता और हमारा शुक्र तो ब्रह्म है (**तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म**—यजुः० ३२।१) वह कभी अस्त नहीं होता।"

एक दिन कायमगंज-निवासी पं० बलदेवप्रसाद ने पूछा—"यदि राजादि क्षत्रिय लोग हिंस्र जीवों का वध कर दें तो इस कर्म में पाप क्यों नहीं माना जाता?"

स्वामीजी ने उत्तर दिया, "हिंस्र जीवों के मारने में पाप इसलिए नहीं है कि उनके वध से किसी को कोई हानि नहीं होती।"

"आपके विचार में पाप क्या है?" बलदेव ने पुनः प्रश्न किया।

"इस विषय में मैं पाप हानि को मानता हूँ।" स्वामीजी का उत्तर था।

"तब निकम्मे पशु और वृद्ध मनुष्य के मारने में पाप न होना चाहिए।"

"यहाँ कृतघ्नतारूपी पाप है।" स्वामीजी ने कहा।

फर्रुखाबाद में कुछ लोग ऐसे हैं, जिन्हें वहाँ के रहनेवाले 'साध' कहते हैं। वे सभी काम-धन्धा करके निर्वाह करते हैं और घर-बारी होते हैं। उनके हाथ का बना हुआ भोजन ब्राह्मण, वैश्यादि नहीं खाते। एक दिन ऐसा हुआ कि एक साध कढ़ी और भात थाल में परसकर बड़ी प्रीति से स्वामीजी के लिए लाया। महाराज ने उस अन्न को प्रसन्नता से ग्रहण कर लिया। इसपर ब्राह्मण लोग असन्तोष प्रकट

करते हुए कहने लगे—"स्वामीजी! आप तो साध का भोजन खाकर भ्रष्ट हो गये। आपका ऐसा करना कदापि उचित न था।"

स्वामीजी ने हँसते हुए कहा, "अन्न दो प्रकार से दूषित होता है, एक तो तब जब दूसरे को दुःख देकर प्राप्त किया जाए और दूसरे जब कोई मलिन वस्तु उसपर अथवा उसमें पड़ जाए। इन लोगों का अन्न परिश्रम के पैसे का है और पवित्र है। इसलिए इसके ग्रहण करने में लेशमात्र भी दोष नहीं है।"

एक साध ने स्वामीजी से पूछा—"मनुष्य को क्या करना चाहिए?" स्वामीजी ने उत्तर दिया—"जैसे ईश्वर दयालु है, मनुष्य को भी सबपर दया करनी चाहिए। जैसे ईश्वर सत्यस्वरूप है, मनुष्य को भी सत्य मानना, बोलना और करना चाहिए।"

मुसलमानों से वार्तालाप

एक दिन तीसरे प्रहर चार-पाँच मुसलमान स्वामीजी के पास आकर पूछने लगे—"आपके विचार में परमेश्वर ने श्री मुहम्मद को हमारे लिए भेजा है कि नहीं?" स्वामीजी ने उत्तर देने से पूर्व तीन बार कहा—"हमारे उत्तर से अप्रसन्न मत होना, हम तो मुहम्मदजी को अच्छा नहीं समझते। आप लोगों ने उनका अनुकरण करके अच्छा नहीं किया। जब चोटी के बाल कटवा डाले, तब इतनी लम्बी दाढ़ी रखने से क्या लाभ?"

यहाँ ब्राह्मणों ने महाराज से शास्त्रार्थ करने के लिए मेरठ से हरिगोपाल शास्त्री को आमन्त्रित किया। पण्डित पीतम्बरदासजी मध्यस्थ नियुक्त हुए। शास्त्रीजी ने मनु का '**देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च।**' यह श्लोक बोला और इसका अर्थ करते हुए देवता शब्द का अर्थ प्रतिमा बताया। स्वामीजी ने युक्ति और प्रकरण-क्रम से यह सिद्ध कर दिया कि यहाँ देवार्चन से तात्पर्य अग्निहोत्र और अतिथि-सत्कार है। इसके पश्चात् शास्त्रीजी थोड़ी देर तक तो इधर-उधर की बातें बनाकर संकट टालते रहे, परन्तु अन्ततः उन्हें पलायन करने में ही परित्राण दिखाई दिया।

इस पराजय से अपनी नाक कटती देख हरिगोपाल कुछ ब्राह्मणों को लेकर काशी पहुँचे और मूर्त्तिपूजा की पुष्टि में काशी के पण्डितों के हस्ताक्षरों से युक्त एक व्यवस्था प्राप्त की। वहाँ से फर्रुखाबाद आकर उसने स्वामीजी के डेरे के निकट एक विस्तृत खुले मैदान में झण्डा गाड़ दिया और लोगों को वह व्यवस्था-पत्र सुनाने लगे। वहाँ

सहस्त्रों लोग एकत्र हो गये और कोलाहल होने लगा। स्वामीजी के पास भी वे बार-बार सन्देश-पर-सन्देश भेजते थे कि खुले स्थान में आओ और शास्त्रार्थ करो। स्वामीजी उनके छल-कपट से परिचित थे, अतः उन्होंने कहला भेजा की शास्त्रार्थ करना चाहते हो तो नीचे खड़े क्यों बड़बड़ कर रहे हो, हमारे यहाँ ऊपर क्यों नहीं चले आते? इसके उत्तर में हरिगोपाल कहते थे—"मैं स्वामी दयानन्द के निवास पर नहीं जाऊँगा। उसने विश्रान्त को कील रखा है, अतः वहाँ जाने से हार हो जाएगी।"

इस हल्ले-गुल्ले का समाचार कलेक्टर महाशय को भी मिल गया। उन्होंने कोतवाल को तुरन्त वहाँ पहुँचने की आज्ञा दी। कोतवाल ने स्वामीजी के पास जाकर पूछा—"बाबाजी! यह क्या बखेड़ा हो रहा है?" स्वामीजी ने कहा—"हम तो अपने स्थान पर बैठे हुए हैं, न किसी को कटुवचन कहते हैं, न किसी से झगड़ते हैं। आप राजकर्मचारी हैं। आपका कर्त्तव्य है कि उनसे जाकर पूछें, जो सचमुच झगड़ा कर रहे हैं।" कोतवाल ने वास्तविकता को समझकर स्वामीजी के स्थान पर दो सिपाहियों को नियुक्त कर दिया।

तदुपरान्त कोतवाल ने हरिगोपाल को बुलाकर ऐसा डाँटा कि वह डरके मारे नगर छोड़कर भाग गया।

हम सत्य कहेंगे

हरिगोपाल के किये हुए गोल-माल के दो-तीन दिन पश्चात् उसका साथी ज्वालाप्रसाद मदिरा में चूर, एक कुर्सी लिये स्वामीजी के स्थान पर आया; वहाँ कुर्सी रखकर उसपर बैठ गया और लगा अनापशनाप बकने! उपस्थित जनों ने उसे ऐसा करने से बहुतेरा रोका, परन्तु वह गालियाँ देने से न रुका। मणिलाल आदि स्वामीजी के सेवक आवेश को न थाम सके। स्वामीजी यह कहते ही रहे कि 'यह उन्मत्त है, इसे कुछ न कहो', परन्तु उन्होंने उस उद्दण्ड मनुष्य को पकड़कर बहुत पीटा और उसकी कुर्सी वहीं जला दी।

अगले दिन लाला जगन्नाथ स्वामीजी के पास आये। वृत्तान्त ज्ञात होने पर कहने लगे—"स्वामीजी! यदि वह दुष्ट राजद्वार में जाकर आपके सेवकों पर मारपीट का अभियोग चलाये और वहाँ साक्षी देने के लिए आप बुलाये जाएँ तो आप क्या कहेंगे?" स्वामीजी ने कहा—"कोई मिथ्या कथन थोड़े ही कहेंगे! जो कुछ हुआ है वह सब सच कह देंगे।"

मेरी रक्षा भगवान् कहते हैं

उसी ज्वालाप्रसाद का सम्बन्धी ठाकुरदास भी बीस-पच्चीस व्यक्ति लेकर स्वामीजी को मारने आया; परन्तु महाराज के सामर्थ्य से और पकड़े जाने के भय से पीछे भाग गया। दुष्टजनों के आक्रमण का वृत्तान्त सुनकर लाला जगन्नाथजी कुछ लोगों-सहित तुरन्त विश्रान्तघाट पर पहुँच गये, परन्तु उनके आने से पूर्व ही उपद्रवी लोग वहाँ से चले गये थे।

उस समय लाला जगन्नाथ ने श्री-चरणों में विनती की—"क्षुद्र लोग आपके अमूल्य जीवन को लेने के लिए बार-बार आक्रमण करने लगे हैं, इसलिए आप हमारे भीतर के स्थान में चलकर रहना स्वीकार कीजिए।" स्वामीजी ने कहा, "महाशयजी! यहाँ तो इस प्रकार आप मेरी रक्षा कर लेंगे, परन्तु अन्यत्र कौन करेगा? मेरी रक्षा तो सर्वत्र परमात्मदेव ही करते हैं, इसीलिए मैं सर्वथा निर्भय हूँ।"

विश्रान्तघाट पर एक दिन सहस्त्रों मनुष्य महाराज का उपदेश सुनने के लिए एकत्र हो रहे थे। उस समय एक पण्डित ने खड़े होकर मूर्त्तिपूजन पर प्रश्न करना आरम्भ कर दिया। महाराज भी उसे सन्तोषजनक उत्तर देने लगे। बीच में काली के उपासक, मद्य में मत्त, एक ब्राह्मण ने उठकर कुवचन बोलते हुए महाराज पर जूता फेंका। जूता स्वामीजी तक न पहुँचकर बीच में गिर पड़ा, परन्तु इससे सत्संग में बैठे हुए सत्यनामी साधुओं की आँखों में लहू उतर आया। उन्होंने तुरन्त ही उस नराधम को पकड़ लिया और लगे पीटने। उसको पिटते देख स्वामीजी को दया आ गई। महाराज ने साधुओं को समझाया—"इसकी चेष्टा से हमें कोई दुःख नहीं हुआ; और यदि जूता लग भी जाता तो भी कौन-सा राम-बाण था? इसने जो कुछ किया है, अज्ञान और सुरा के वशीभूत होकर किया है, इसलिए इसपर दया करो, इसे छोड़ दो।" तब साधुओं ने उसे छोड़ दिया।

एक दिन वह उद्दण्ड व्यक्ति समय ताककर स्वामी-स्थान में प्रविष्ट हुआ। स्वामीजी ने भी देखा कि सामने से एक हट्टा-कट्टा बलवान्, एक मोटा लट्ठ उठाये झूमता हुआ सीधा चला आता है। समीप आकर उस उद्दण्ड मनुष्य ने कहा कि बाबा! क्या तुम मूर्त्ति को ईश्वर नहीं मानते हो? स्वामीजी ने गम्भीरता से उत्तर दिया कि भद्र! तुम जानते हो ईश्वर का स्वरूप क्या है? वह बोला कि "हाँ, मैं जानता हूँ।" स्वामीजी ने कहा तो फिर बताइए। तब वह बोला

कि ईश्वर सच्चिदानन्द, सर्वशक्तिमान् है, भक्त-वत्सल, दयालु देव है और सर्वत्र परिपूर्ण है। तब स्वामीजी ने किंचित् हँसकर कहा कि ईश्वर के जो गुण तुमने कथन किये हैं, वे सब सत्य हैं। तुम्हारी इस समझ की मैं प्रशंसा करता हूँ, परन्तु अब तुम ही इन वर्णित ईश्वरीय गुणों को मन्दिर की मूर्त्तियों के गुणों के साथ मिलाओ। यदि वे मिल गये तो मैं तुम्हारा साथी बन जाऊँगा और यदि न मिले तो तुम्हें भी वही मानना चाहिए, जिसका साक्षी तुम्हारा आत्मा देता है।

समझाने के इस ढंग से उसका चित्त पिघल गया और वह लट्ठ को फेंक कर श्रीचरण-शरण में गिर पड़ा। उस दिन से उसकी काया पलट गई। वह सारे बुरे कर्मों को त्याग धीरे-धीरे साधु-स्वभाव और सदाचारी बन गया।

हलधर की हार

पण्डित हरिगोपाल के परास्त हो जाने से कुछ पौराणिक भक्त लज्जित-से थे, इसलिए लाला प्रेमदास आदि ने हलधर ओझा को कानपुर से बुलवाया।

हलधर ओझा तान्त्रिक पण्डित था। उसने "**सौत्रामण्यां सुरां पिबेत्**" यह वेद-मन्त्र बोलकर यज्ञ में मदिरा पान करने का प्रमाण उपस्थित किया। स्वामीजी ने उसके पक्ष में दोष प्रदर्शित करते हुए कहा—"यहाँ सुरा का अर्थ सोमरस है।"

अब हलधर ने स्वामीजी से संन्यासी के लक्षण पूछे। उन्होंने संन्यासी के लक्षण बताते हुए हलधर से ब्राह्मण के लक्षण पूछे। वह ब्राह्मण के लक्षण तो न बता सका, परन्तु गड़बड़ करने लगा। महाराज ने कहा—"प्रकरण से बाहर न जाइए, विषय पर ही बोलिए।"

हलधर तो किसी प्रकार बचना चाहता था, बोला—"आप बार-बार प्रकरण शब्द का उच्चारण करते हैं, यह तो कहो यह शब्द बनता कैसे है?" महाराज ने कहा—"'प्र' पूर्वक 'कृ' धातु से 'ल्युट्' प्रत्यय करने पर प्रकरण शब्द सिद्ध होता है।" तब हलधर बोला—"कृ धातु समर्थ है वा असमर्थ?" स्वामीजी ने कहा—"वह समर्थ है।" फिर उसने पूछा—"अच्छा तो यह बताइए—'असमर्थ' किसे कहते हैं?" इसपर स्वामीजी ने महाभाष्य का एक वाक्य बोलकर कहा—"अपेक्षा करनेवाले को असमर्थ कहते हैं।" उसने कहा कि यह वाक्य आपकी संस्कृत है, महाभाष्य का नहीं। स्वामीजी की आज्ञा से पण्डित ब्रजकिशोरजी ने महाभाष्य निकालकर

दूसरे अध्याय के प्रथमाह्निक में वह वाक्य दिखा दिया।

इस प्रकार रात के दस बजे तक वाद होता रहा। अन्त में उठते समय यह निश्चित हुआ कि "समर्थः पदविधिः" सूत्र यदि सर्वत्र लगे तो स्वामीजी की जय समझी जाए और यदि यह सूत्र एक स्थान पर लगे तो हलधर की।

दूसरे दिन के शास्त्रार्थ में स्वामीजी ने उस सूत्र को सर्वत्र लगाकर दिखाया। तब पण्डित-समुदाय ने हलधर की पराजय घोषित कर दी।

पण्डितों के व्यवस्थावचन हलधर के कानों पर वज्र के समान गिरे। उसका हृदय चूर-चूर हो गया। उसका मान मर्दित और घमण्ड खण्डित हो गया। वह मूर्च्छा खाकर गिरने लगा, परन्तु लोगों ने उसे थाम लिया और वहाँ से उठाकर अन्यत्र ले गये।

वेश्यागामी युवक को उपदेश

उन दिनों धनी-मानी, कुलीन लोग खुलेआम वेश्याएँ रखते थे। महाराज ने इस कुव्यसन का घोर खण्डन आरम्भ कर दिया। महाराज के उपदेशों से प्रभावित होकर अनेक युवक और परिपक्व वयस् लोग इस कीचड़ से निकल वैदिक पथ पर आरूढ़ हो गये।

सेठ पन्नालालजी स्वामीजी के एक श्रद्धालु भक्त थे। एक प्रतिष्ठित व्यक्ति ने उनसे कहा कि—"यदि आप मेरे लड़के को स्वामीजी से सुधरवा दें तो मैं आपका बड़ा उपकार मानूँगा।"

वह युवक बहुत बिगड़ा हुआ था। अपने घर की खेती-बाड़ी की कुछ भी देख-भाल नहीं करता था। बस, प्रतिदिन वेश्याओं के साथ सैर-सपाटे करता और रात-दिन उन्हीं के यहाँ पड़ा रहता था।

पन्नालालजी ने स्वामीजी के समक्ष उस युवक की दशा का वर्णन कर उसे सुधारने की प्रार्थना की। महाराज ने कहा कि यदि आप उसे एक बार मेरे पास ले-आएँ तो मैं उसका पापकर्म छुड़ा दूँगा। पन्नालालजी ने दो सुशील युवकों को बुलाकर कहा कि किसी प्रकार समझा-बुझाकर उस कुव्यसनी युवक को स्वामीजी के पास ले-जाओ। ये दोनों युवक तीन दिन तक बार-बार स्वामीजी के दर्शन करने की प्रेरणा कर उसे स्वामीजी की सेवा में ले-आये और विनम्रतापूर्वक नमस्कार करके बैठ गये।

महाराज अपने प्रेम-भरे नेत्रों की पवित्र ज्योति से युवकों के मुख-मण्डलों को उज्ज्वल करते हुए उपदेश देने लगे—"सौम्य

युवको! वैसे तो व्यसन सभी बुरे हैं, परन्तु वेश्या सबसे अधिक नाशकारिणी है। इस व्यसन से सुरापान की बान सहज में पड़ जाती है। सभ्य वेष, सभ्य भाषा, सभ्य आचार आदि सभी गुण नष्ट हो जाते हैं। कुलाचार पर कठोर कुठाराघात हो जाता है। रात-दिन रागरंग में मग्न रहने से व्यवहार-बुद्धि का अभाव होने लगता है। ऐसा व्यसनी धर्म से सदा दूर भागता है। वारांगना अपने वशीभूत जन के मन को कृत्रिम प्रेम, बनावटी बातों और हाव-भाव से सदा उत्तेजित रखती है, जिससे व्यसनी लोग अल्पकाल ही में निस्तेज और जीर्ण-शीर्ण हो जाते हैं। वेश्या का प्रेम स्वार्थपूर्ण होता है। जब स्वार्थ-सिद्धि नहीं होती तब वह बात तक नहीं पूछती।''

''वेश्यासक्त के परिवार में आचार की शुद्धि नहीं रहती। उसका वंश नष्ट हो जाता है। यदि वंश नष्ट न भी हो, तो भी उसकी सन्तान का सदाचारी होना महाकठिन है।''

महाराज ने फिर कहा—''युवको! भला यह तो बताओ कि वेश्यासक्ति से यदि लड़की उत्पन्न हो तो वह लड़की किसकी हुई?'' युवकों ने कहा—''उस वेश्यासक्त पुरुष की।'' तब स्वामीजी ने पूछा कि—''वह युवती होकर क्या काम करेगी?'' युवक बोला—''और क्या करेगी? वेश्या बनकर बाजार में बैठेगी।'' तब स्वामीजी ने मर्मस्पर्शी शब्दों में कहा कि—''देखिए, संसार में कोई भी भला मनुष्य नहीं चाहता कि उसकी पुत्री वेश्या बनकर बाजार में बैठे, परन्तु वेश्या के अनुरक्त जन ही ऐसे हैं जो अपनी बेटियों को वेश्या बनाते हैं, चकले में बैठाते हैं और द्वार-द्वार पर नचाते हैं। तुम्हीं सोचो कि क्या वह बहुत बुरी बात नहीं है?''

यह उपदेश सुनकर कु-व्यसनी युवक के रोंगटे खड़े हो गये। उसका अन्तःकरण पाप-कर्म से काँप उठा। उसके सारे शरीर में सनसनी छा गई और उसने अपने साथियों-सहित यह कहा कि स्वामीजी! आपका कथन सत्य है। वास्तव में वेश्या-प्रेम एक नीच कर्म है। उस व्यसनी युवक ने स्वामीजी के चरण छूकर वहीं प्रण किया कि आज से मैं वेश्याओं के समीप नहीं जाऊँगा और जो रक्खी हुई हैं, उनका अब परित्याग करता हूँ।

भगवान् दयानन्द ने उसे साधुवाद-सहित आशीर्वाद दिया और कहा कि सौम्य! ईश्वर-कृपा से तेरा जीवन पवित्र हो, तेरी इस समय की बुद्धि सदा बनी रहे।

उस युवक ने फिर अपने नये जीवनदाता को नमस्कार किया और वह साथियों-सहित अपने घर को चला गया। पीछे से वह युवक स्वामीजी का एक भावनावान् शिष्य बन गया और उनके स्थानीय तथा प्रान्तीय कार्यों में बड़ी सहायता देता रहा।

पाठशाला की स्थापना

फर्रुखाबाद में ला० वंशीलालजी एक प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। उन्होंने एक शिवालय बनवाया था और उसमें शिव-प्रतिमा स्थापित करने-वाले ही थे कि स्वामीजी के उपदेश सुनकर उनका निश्चय बदल गया। उन दिनों स्वामीजी महाराज पाठशाला स्थापित करने का प्रयत्न कर रहे थे। वंशीलालजी ने प्रार्थना करके वहीं शिवालय के स्थान पर पाठशाला स्थापित कर दी। उस पाठशाला में लगभग पचास विद्यार्थी प्रविष्ट हुए। सभी अष्टाध्यायी पढ़ने लगे। विद्यार्थियों के भोजन और वस्त्र की व्यवस्था महाशय दुर्गाप्रसाद ने की। पं० ब्रजकिशोर अध्यापक नियत किये गये। उनके तीस रुपया मासिक वेतन का भार पन्नालालजी ने अपने ऊपर ले-लिया।

स्वामीजी ने यहीं जर्मनी से वेद मँगवाये थे।

बालकों के ढेले खाये

एक दिन स्वामीजी गङ्गा में पाँव फैलाये लेटे हुए थे। कुछ लड़कों ने उन्हें देखकर कहा—देखो कितना मोटा आदमी है! फिर वे गीली रेत के गोले बनाकर स्वामीजी पर मारने लगे। महाराज बहुत देर तक तो उन अबोध बालकों के क्रीड़ा-केन्द्र बने रहे, परन्तु जब बालु के कण आँखों में पड़ने लगे तब उस स्थान से उठकर चले गये।

पहलवानों का बल-परीक्षण

एक दिन कुछ पहलवान स्वामीजी के बल की चर्चा सुनकर उन्हें देखने आये। उस समय स्वामीजी गङ्गा-स्नान करने गये थे। जब वे स्नान करके लौटे तब एक पहलवान ने हँसते हुए कहा—"यदि स्वामीजी व्यायाम करें तो बल में भी किसी के हिलाये न हिलें।" यह सुनकर स्वामीजी ने अपना कौपीन निचोड़ा और मल्लों से कहा—यदि आपमें किसी को अपने बल का अभिमान हो तो इस कौपीन में से पानी की एक बूँद निकालकर दिखाये। उन सबने बारी-बारी बल लगाया, परन्तु वे उस कौपीन में से पानी की एक बूँद नहीं निकाल सके। स्वामीजी ने उसी कौपीन को निचोड़कर जल की बूँदें निकालकर दिखायीं। सब पहलवान स्वामीजी का बल

देखकर दंग रह गये।

युवक ईसाई होने से बचे

स्वामीजी के आगमन से पूर्व वहाँ के युवक बड़ी संख्या में ईसाई बनने लगे थे, परन्तु जब स्वामीजी ने ईसाई-मत के दोष प्रदर्शित किये, तब उन युवकों ने पादरियों को स्पष्ट कह दिया कि अब हमें आपके मत में ऐसी कोई विशेषता दिखाई नहीं देती जिसके लिए हम अपने पुरातन धर्म का परित्याग करें।

जलालाबाद में

फर्रुखाबाद से प्रस्थान कर स्वामीजी जलालाबाद पधारे। वहाँ गयाप्रसाद शुक्ल उन्हें सरनदास उदासी की कुटिया में ले-गये। बिछौने के लिए बहुत कहा गया, परन्तु महाराज ने स्वीकार नहीं किया। सोते समय ईंटों का सिरहाना बनाकर सो गये।

कन्नौज में

जलालाबाद में एक दिन-रात रहकर स्वामीजी कन्नौज पहुँचे। यह संवत् १९२६ अषाढ़ के अन्त की बात है। यहाँ महाराज कालिन्दी नदी के तट पर गौरीशंकर महादेव के चबूतरे पर विराजमान हुए। पण्डित हरिशंकर शास्त्री के साथ बड़ा मनोरंजक शास्त्रार्थ हुआ। जब पण्डितजी स्वामीजी के पास पहुँचे तब उन्होंने पण्डितजी का नाम पूछा। पण्डितजी ने—"**आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च। श्रेयस्कामो न गृह्णीयात् तथा पुत्रकलत्रयोः।**" यह श्लोक पढ़कर कहा कि अपना और गुरु का नाम लेना वर्जित है। स्वामीजी ने कहा—"जब आप संकल्प पढ़ते हैं, तब अपना नाम लेते हैं या नहीं?" इसपर निरुत्तर होकर उसने अपना नाम बतला दिया।

हरिशंकरजी बड़े अच्छे वैयाकरण और कन्नौज के विद्वानों में अग्रगण्य थे। स्वामीजी ने उनके समक्ष मूर्त्तिपूजा के खण्डन और पञ्चमहायज्ञादि के मण्डन पर वक्तृता दी। इसी पर पण्डितजी से वार्तालाप छिड़ गया। पण्डितजी ने कहा कि मूर्त्तिपूजा के विषय में कोई शास्त्रीय वचन पढ़ो। स्वामीजी ने कहा—तुम्हीं कोई विधि-वाक्य पढ़ो। पण्डितजी ने "**वेदः स्मृतिः सदाचार....**" इत्यादि मनु का श्लोक पढ़कर कहा कि मूर्त्तिपूजा सदाचार है। स्वामीजी ने कहा—सदाचार पञ्चमहायज्ञ आदि हैं। मनु के इस वाक्य पर कि राजा प्रतिमाओं की रक्षा करे, स्वामीजी ने कहा कि यहाँ प्रतिमा का अर्थ बाट-तौल के हैं। पण्डितजी ने अपने पक्ष के समर्थन में कहा

कि पूर्वमीमांसा में भी ऐसा ही लिखा है। स्वामीजी ने इसका प्रतिवाद किया तो पण्डितजी ने कहा कि यदि पूर्वमीमांसा में ऐसा लेख न हो तो मैं शिखा-सूत्र त्यागकर संन्यासी हो जाऊँगा। उस समय बात यहीं समाप्त हो गई। घर आकर पण्डितजी ने मीमांसाशास्त्र देखा तो उसमें वैसा ही लेख पाया, जैसा स्वामीजी कहते थे। दूसरे दिन उन्होंने स्वामीजी के पास आकर, स्पष्ट कह दिया—मैं हार गया, मुझे संन्यास दे दीजिए। स्वामीजी ने कहा—संन्यास ज्ञान से होता है, हार-जीत की प्रतिज्ञा पर लेना ठीक नहीं। स्वामीजी ने सबके सामने पण्डितजी की बहुत प्रशंसा की और कहा कि हमने ऐसा सत्यवादी और धार्मिक पण्डित नहीं देखा। यह प्राचीनकाल के पण्डितों का आदर्श है। पण्डित हरिशंकर स्वामीजी के अनुयायी बन गये।

हम अकेले ही पर्याप्त हैं

एक दिन गार्गीदीन मिश्र ने पं० हरिशंकर से कहा—"दयानन्द से कह दो कि मूर्त्तिपूजा का खण्डन न करे, नहीं तो हम उसे पीटेंगे।" हरिशंकर ने यह बात महाराज से कह दी। उन्होंने उत्तर दिया—"तुम हमारे पिटने से मत डरो, दो आदमियों का सिर फोड़ने के लिए हम अकेले ही पर्याप्त हैं। यदि अधिक लोग आक्रमण करेंगे तो हम सरकार में रिपोर्ट कर देंगे।"

एक दिन जब एक पण्डित गयादीन स्वामीजी से मिले और अपना नाम बताया, तब महाराज ने कहा कि जब दीन (धर्म) ही गया, तब आपके पास बचा ही क्या? शोक है कि लोगों को ठीक नाम भी रखने नहीं आते!

रामप्रसाद ने कायस्थों के विषय में प्रश्न किया तो स्वामीजी ने कहा कि ये लोग शूद्र नहीं हैं। ये अपने को चित्रगुप्त वंशीय बतलाते हैं और गुप्त शब्द वैश्य लोगों के लिए प्रयुक्त होता है, अतः ये वैश्य हो सकते हैं। ये लोग अपने स्वरूप को भूलकर मद्य-मांस का सेवन करने लगे हैं। इस अशास्त्रीय व्यवहार को त्यागकर पुनः उन्नत हो सकते हैं।

सात-आठ दिन कन्नौज में रहकर स्वामीजी मदारपुर होते हुए कानपुर जा सुशोभित हुए।

कानपुर में

जब महाराज ने कानपुर में पदार्पण किया, तब वर्षा-ऋतु आरम्भ हो गई थी। स्वामीजी भैरों के मन्दिर के पास ला० दरगाहीलाल वकील के घाट पर ठहरे। उनका आतिथ्य प्रायः पण्डित हृदयनारायणजी

करते थे।

स्वामीजी के पधारते ही नगर में हल्ला मच गया और सैकड़ों लोग उनके दर्शनों को आने लगे। महाराज ने भी संस्कृत में एक विज्ञापन छपवाकर स्थान-स्थान पर लगवाया और बँटवाया। इस विज्ञापन में आठ गप्पों को त्याज्य और आठ सत्य ग्राह्य बतलाये थे। वे गप्पें और सत्य निम्न थे—

आठ गप्पें

१. मनुष्यकृत सब ग्रन्थ और ब्रह्मवैवर्त आदि पुराण।

२. देवता-बुद्धि से पाषाण आदि की पूजा।

३. शैव, शाक्त और रामानुजादि वैष्णव सम्प्रदाय।

४. तन्त्रग्रन्थ, वाममार्ग आदि।

५. मदिरा, भाँग इत्यादि मादक वस्तुओं का सेवन।

६. व्यभिचार करना।

७. चोरी करना।

८. छल, कपट, अभिमान, झूठ इत्यादि।

आठ सत्य

१. ऋग्वेदादि ईश्वरकृत चार वेद और ऋषिकृत अन्य २१ ग्रन्थ।

२. ब्रह्मचर्याश्रम में रहकर गुरु की सेवा और स्वधर्मानुष्ठानपूर्वक वेदों का अध्ययन।

३. वेदोक्त वर्णाश्रमधर्म और सन्ध्यावन्दन, अग्निहोत्र आदि कर्म करना।

४. जैसा धर्मशास्त्र में ऋतुकाल आदि के नियमों से गृहस्थ-धर्म लिखा है, उसके अनुसार चलना। पञ्चमहायज्ञों और श्रौत-स्मार्त कर्मों का करना।

५. शम, दम, तपश्चरण का धारण, यम आदि से समाधि-पर्यन्त उपासना का करना और सत्संगपूर्वक वानप्रस्थाश्रम-अनुष्ठान।

६. विचार, विवेक, वैराग्य, परा-विद्या का अभ्यास करना और संन्यास ग्रहण कर सकल कर्मों की फलेच्छा का त्याग।

७. जन्म-मरण, हर्ष-शोक, काम-क्रोध, लोभ-मोह और संग-दोष के त्यागने का अनुष्ठान।

८. अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेशरूप क्लेशों से और तमस्-रजस्-सत्त्व गुणों से निवृत्ति पाकर पञ्चमहाभूतों से अतीत

होकर मोक्षरूप स्वराज्य की प्राप्ति।

स्वामीजी के उपदेशों से, उनके विज्ञापन में लिखी आठ गप्पों के खण्डन से नया-पुराना सारा कानपुर एक प्रकार से चलायमान हो गया। श्रद्धालु लोगों में उत्साह से, नये सुधार से आवेश था और विरोधीजन ईर्ष्या-द्वेष के आवेश में आपे से बाहर हो रहे थे। उस समय विरोधियों के शिरोमणि ब्रह्मानन्द सरस्वती बने हुए थे। वह स्थान-स्थान पर इस बात का प्रचार करते फिरते थे कि दयानन्द के पास नहीं जाना चाहिए। उसका तो मुख देखना भी पातक है। वह नास्तिक है, देव-निन्दक है, ईसाई है और धर्म-भ्रष्ट करने आया है। उसे भैरवघाट से निकाल देना चाहिए। ब्रह्मानन्द कुछ पण्डितों को साथ लेकर एक दिन स्वामीजी के पास गया भी, परन्तु गालियाँ निकालकर चला आया।

ब्रह्मानन्द तो अपनी प्रकृति के कारण ही स्वामीजी के विरुद्ध उधार खाये बैठा था। दो प्रतिष्ठित व्यक्ति प्रयागनारायण और गुरुप्रसाद भी स्वामीजी के विपक्ष में खड़े हो गये। इसका कारण यह था कि इन दोनों ने 'कैलास' और 'वैकुण्ठ' नाम के दो मन्दिर बनवाये थे। जब वे दोनों स्वामीजी से मिले तो स्वामीजी ने कहा—"आप लोगों ने अनधिकारियों को खिला-पिलाकर और ईंट-पत्थरों में व्यय करके लाखों रुपया यों ही खो दिया। इससे तो यह अच्छा होता कि आप कान्यकुब्ज कन्याओं का जो ३०-३० वर्ष की कुमारी बैठी हैं, विवाह करा देते अथवा कोई कला-कौशल का कारखाना खोलते, जिससे देश और जाति का भला होता।" ये दोनों वहाँ से रुष्ट होकर चले आये।

ब्रह्मानन्द ने इन दोनों को उत्तेजित करके हलधर ओझा और लक्ष्मणशास्त्री को स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने के लिए समुद्यत किया। ३१ जुलाई सन् १८६९ का दिन शास्त्रार्थ के लिए निश्चित हुआ। सहायक कलेक्टर थेअर्स को सर्वसम्मति से मध्यस्थ नियुक्त किया गया।

भैरोंघाट पर दरियाँ बिछायी गईं। नगर के सेठ और साहूकार एकत्र होने लगे। शास्त्रार्थ के समय वहाँ बीस-पच्चीस सहस्र मनुष्यों की भीड़ एकत्र हो गई। ठीक साढ़े चार बजे शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ। प्रारम्भ करते समय हलधर ने कहा—"स्वामीजी! आपने विज्ञापन में जो 'गप्पम्' लिखा है, वह व्याकरण की रीति से अशुद्ध है।" इसपर स्वामीजी ने कहा—"आप इस समय मूर्त्तिपूजन आदि में से किसी विषय पर वाद चलाएँ। शुद्धाशुद्ध पर वाद करते रहना विद्यार्थियों

का काम है। इन सहस्त्रों मनुष्यों का समय इस शुष्कवाद में क्यों गँवाना चाहते हो ? इस बात को पूछना ही हो तो कल मेरे पास आ जाइएगा। प्रमाण-सहित उत्तर दे दूँगा।''

फिर हलधर ने पूछा—''आप महाभारत को मानते हैं या नहीं ?'' स्वामीजी ने उत्तर दिया—''हाँ, मानता हूँ।'' ओझा ने एक श्लोक पढ़कर कहा—''इसका यह अर्थ है कि एकलव्य भील ने द्रोणाचार्य की मूर्त्ति सामने रखकर धनुर्विद्या सीखी थी।'' इसपर स्वामीजी ने कहा—''मैं यह कह रहा हूँ कि वेद-शास्त्र में कहीं प्रतिमा-पूजन की आज्ञा दिखाओ। आपने जो प्रमाण दिया है उसमें प्रतिमा-पूजन की आज्ञा नहीं है। केवल यही लिखा है कि एक भील ने ऐसा किया था। उसको ऐसा करने की किसी ने शिक्षा नहीं दी थी और न वह आप भी कोई ऋषि-मुनि था, जिससे उसका कर्म प्रमाण माना जाए। जैसे अंग्रेज़ लोग चाँदमारी करते हैं, वैसे ही वह भी लक्ष्यवेध का अभ्यास करता था। पूजन करने के लिए द्रोण की प्रतिमा उसने भी नहीं रखी थी। यदि कहो कि द्रोण की प्रतिमा पास रखने से वह धनुर्विद्या में निपुण हो गया था तो यह भी मिथ्या है। धनुर्विद्या में प्रवीण होने का कारण मूर्त्तिपूजा नहीं थी, किन्तु उसका निरन्तर अभ्यास था।''

यह उत्तर सुनकर ओझा थोड़ी देर तो चुप रहा, परन्तु फिर उसने दूसरे ढंग से पूछा कि यदि वेद में मूर्त्तिपूजा का विधान नहीं है तो निषेध कहाँ है ? इसपर महाराज बोले—''जब कोई स्वामी अपने सेवक को कहता है कि तुम पश्चिम को जाओ, तो अन्य तीन दिशाओं का निषेध अपने-आप समझ लिया जाता है।''

उस समय महाराज ने शास्त्रों के प्रमाणों से यह सिद्ध कर दिया कि वेद आदि ईश्वर के स्वरूप को निराकार, सर्वत्र परिपूर्ण और अमूर्त्त मानने की आज्ञा देते हैं। स्वामीजी ने ओझा को बलपूर्वक कहा कि आप अपने पक्ष में वेद का एक तो प्रमाण दीजिए, परन्तु वह न दे सका।

लक्ष्मणशास्त्री ने कहा कि ईश्वर सर्वव्यापक होने से मूर्त्ति में भी विद्यमान है, तो फिर मूर्त्तिपूजन में आप क्यों दोष मानते हैं ? उत्तर में स्वामीजी ने कहा—''जब ईश्वर सर्वव्यापक है तब मूर्त्ति में क्या विशेषता है जो उसकी पूजा की जाए ? फिर चेतन को छोड़कर जड़-पूजन में कोई महत्त्व भी नहीं है।'' यह उत्तर सुनकर स्वामीजी

के सारे प्रतिपक्षी अवाक् हो गये। किसी को आगे कुछ न सूझा। उस समय थेअर्स महाशय ने हलधर से कुछ प्रश्न किये। फिर थोड़ी देर स्वामीजी से वार्तालाप करके उन्हें नमस्कार किया और फिर वे उठकर चले गये।

मध्यस्थ के उठने पर सारी सभा में भूकम्प-सा आ गया, कोलाहल मच गया और उस गड़बड़ में विरोधियों ने महाराज पर ईंटें भी बरसायीं। उसी समय प्रयागनारायण तिवारी ने एक रुपये के पैसे हलधर के सिर पर से न्योछावर कर लुटा दिये और कहा कि उन्हीं की विजय हुई है। फिर क्या था? 'गङ्गा की जय' और 'हलधर की जय' के नाद गूँजने लगे। पौराणिक लोग विजय मनाते बड़े समारोह से नगर में आये और उन्होंने 'शोलातूर' समाचारपत्र में भी अपनी जयघोषणा कर दी। कुछ आर्य-पुरुष 'शोलतूर' समाचारपत्र लेकर श्री स्वामीजी के समीप गये और उन्होंने पौराणिकों की मिथ्या जय-घोषणा का लेख पढ़कर सुनाया। स्वामीजी ने कहा—"शास्त्रार्थ तो सत्यासत्य के निर्णय के लिए किया जाता है। उसमें यदि वे लोग अपनी जीत समझते हैं तो उन्हें प्रसन्न हो लेने दो। मुझे इसका कुछ भी हर्ष-शोक नहीं है।"

परन्तु स्वामीजी के भक्तों का मन कब मानता था कि यों ही मिथ्या समाचार फैल जाए और वे मौन बैठे रहे! वे सहायक कलेक्टर थेअर्स के पास गये और उन्हें सारा वृत्तान्त आद्योपान्त सुना दिया। उन्होंने उसी समय निम्नलिखित व्यवस्था लिखकर उन्हें दे दी—

महाशयो! मेरी सम्मति में शास्त्रार्थ के समय स्वामी दयानन्द सरस्वती संन्यासी की विजय हुई। उनकी युक्तियाँ वेदानुकूल थीं। यदि आप चाहेंगे तो मैं अपनी व्यवस्था की पुष्टि में कुछ दिनों में प्रमाण भी दे दूँगा।*

कानपुर — आपका
थेअर्स

---

* Gentlemen,—At the time in question I decided in favour of Dayananda Saraswati Fakir and I believe his arguements are in accordance with the Vedās. I think he won the day. If you wish it I will give you my reasons for my decision in a few days. Yours obediently
Cawnpore. Sd/-W. Thairse

स्वामीजी के प्रेमियों ने थेअर्स महाशय की व्यवस्था सहित-शास्त्रार्थ का सम्पूर्ण वृत्तान्त विज्ञापनों द्वारा नगर-निवासियों को विदित करा दिया और समाचार-पत्रों में भी छपवा दिया। सर्वसाधारण स्वामीजी की सचाई से ऐसे प्रभावित हुए कि अपनी प्रतिमाओं को गङ्गा में फेंकने लगे। जब ओझा ने मूर्त्तियों की यह दुर्दशा देखी, तब निम्न आशय का विज्ञापन प्रसारित किया—

मूर्त्तियों को जल में प्रवाहित करना अनुचित है। जो लोग स्वामीजी के मत को ग्रहण करें वे कृपया मूर्त्तियाँ 'कैलास' या 'वैकुण्ठ' मन्दिर में पहुँचा दें। यदि उन्हें अवकाश न हो तो हमें सूचित करें, हम उठा लेंगे। —(हस्ताक्षर) ओझा हलधर

स्वामीजी की विजय का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है ?

अहिंसा-सिद्धि

एक दिन स्वामीजी गङ्गा में लेटे हुए थे। एक बड़ा भारी मगर उनके अति निकट आ निकला। भक्त प्यारेलालजी स्वामीजी को संकट के समीप देख भागते हुए आये और पुकारने लगे—"स्वामीजी! झटपट पानी से बाहर निकल आइए। एक बड़ा भारी मगर निकल आया है।" महाराज यह सुनकर भी गम्भीरता से ज्यों-के-त्यों लेटे रहे और बोले—"जब हम इसे कुछ नहीं कहते तो यह भी हमें कुछ न कहेगा।"

गङ्गापुत्र भक्त बन गया

एक गङ्गापुत्र महाराज के स्थान से थोड़ा दूर खड़ा रहकर उन्हें प्रतिदिन गालियाँ दिया करता था। यह क्रम लगभग बीस दिन तक चलता रहा। महाराज ऐसे शान्त थे कि उन्होंने उसे कभी कुछ नहीं कहा। स्वामीजी के भक्तगण उन्हें नाना प्रकार के भोज्य-पदार्थ अर्पण कर जाया करते थे। एक दिन स्वामीजी के पास पर्याप्त मिष्ठान्न बच गया। वे सोच ही रहे थे कि भोज्य-पदार्थ किसे दें कि गाली-प्रदाता गङ्गापुत्र सम्मुख आ निकला। महाराज ने उसे प्रेमपूर्वक बुलाकर वह खाद्य सामग्री उसे दे दी और कहा—"प्रतिदिन सायं हमारे पास आया करो। हम तुम्हें पुष्कल खाद्य सामग्री दिया करेंगे।" छह-सात दिन वह मिष्ठान्न पाता रहा और महाराज ने उसकी गन्दी गालियों की एक बार भी चर्चा नहीं की तो पश्चात्ताप के कारण उसका चित्त उसे कचोटने लगा। एक दिन वह महाराज के चरणों में आकर गिर

पड़ा और रोते हुए बोला—"भगवन्! आपने अपनी सज्जनता से मेरी दुर्जनता को जीत लिया है। मैं बहुत अपराधी हूँ। कृपया मेरे अपराधों को क्षमा करें।" महाराज ने आशीर्वाद देकर कहा—"हमने आपके वचनों को अपनी स्मृति में स्थान नहीं दिया है। आप भी अब उन बातों को स्मरण न कीजिए।"

महाराज एक आदर्श संन्यासी थे। कानपुर में उनके प्रेमियों की पंक्ति में धनी लोग भी सम्मिलित हो गये थे। उनके भक्त उनके लिए सुख की यथेष्ठ सामग्री उपस्थित करने को समुद्यत थे, परन्तु द्वन्द्वातीत दयानन्द वहीं भैरवघाट के ऊँचे-नीचे भूतल पर मोटी-मोटी ईंटों को सिरहाने रखके सुख से सो जाते थे।

लगभग तीन मास तक कानपुर में रहने के पश्चात् एक दिन प्रातःकाल किसी को सूचना दिये बिना लोटा और लंगोट वहीं छोड़ किसी अनिर्दिष्ट स्थान की ओर चले गये। स्वामीजी एक ही लंगोट रखते थे। कानपुर में दूसरा लंगोट एक भक्त ने दे दिया था, परन्तु यात्रा में उन्हें दूसरा लंगोट रखना भी भार प्रतीत हुआ, अतः जाते समय उसे कानपुर में ही छोड़ गये।

७

पौराणिक महादुर्ग में भीषण सिंहनाद

काशी-शास्त्रार्थ

बनारस में राजा माधोसिंह का आनन्दबाग प्रसिद्ध है। उस बाग में कार्तिक सुदी द्वादशी संवत् १९२६ के दिन बड़ी धूम-धाम थी। कुछ दिन हुए, एक लंगोटबन्द संन्यासी इस बाग में आकर ठहरा था। विद्या की पुरी काशी के सभी प्रसिद्ध-प्रसिद्ध पण्डित-मल्ल उस लंगोटबन्द के साथ अपनी बल-परीक्षा करने के लिए आने लगे हैं। २२ अक्टूबर १८६९ ई० के दिन राजपुर से स्वामी दयानन्द बनारस में आकर उस उद्यान में ठहरे हैं। उनके आते ही सारे नगर में हलचल मच गई है। बुद्धि और धर्म में पूर्ण स्वतन्त्रता का माननेवाला सुधारक दयानन्द, अन्धविश्वास और रूढ़ि के गढ़ बनारस की दीवारों को सत्य की टक्कर से गिराकर चकनाचूर करने के लिए केवल एक परमात्मा को सहायक मानकर, युद्ध-भूमि में उतर आया है। काशीपुरी बहुत प्राचीनकाल से विद्या की खान समझी जाती है। उसके कोने-कोने में विद्यावारिधि और गली-गली में महामहोपाध्याय रहते हैं। स्वामी दयानन्द हिन्दूधर्म की कुरीतियों का संहार करना चाहते थे। जब तक काशी अपराजिता थी, तब तक पौराणिक धर्म को भी हारा हुआ नहीं मान सकते थे। जो पौराणिक पण्डित निरुत्तर होता था, वह काशी की ओर भागता था। कोई टकासेर व्यवस्था ले-आता था, कोई स्वामी विशुद्धानन्द के नाम की दुहाई देता था और कोई पण्डित राजाराम शास्त्री का नाम लेकर धमकाना चाहता था। आश्रयहीन अन्धकार का अन्तिम आश्रय बनारस ही दिखाई देता था। निर्भय वीर दयानन्द ने गुफा में पहुँचकर शेर को ललकारने का निश्चय किया और आनन्दबाग में जाकर सत्य-धर्म का झण्डा गाड़ दिया।

स्वामी दयानन्द ने काशी-नरेश को कहला भेजा कि यदि सत्यासत्य का निर्णय करना चाहते हो तो पण्डितों को शास्त्रार्थ के लिए तैयार करो। काशी-नरेश ने पण्डितों को बुलाकर शास्त्रार्थ के लिए कहा। पण्डितों ने उत्तर दिया कि स्वामी दयानन्द वेद का पण्डित है और वेद की ही दुहाई देता है। हम लोगों को कुछ दिन

वेदों में से प्रमाण खोजने के लिए मिलने चाहिएँ, पीछे हम शास्त्रार्थ कर सकेंगे। १५ दिन का अवकाश दे दिया गया। पण्डित लोग खूब तैयारी करते रहे। शास्त्रार्थ के लिए कार्तिक सुदी द्वादशी का दिन निश्चित किया गया था। सभा के लिए आनन्दबाग ही उचित स्थान समझा गया, क्योंकि स्वामी दयानन्द ने संन्यासीधर्म के अनुसार दूसरे स्थान पर जाना स्वीकार न किया। १५ दिन व्यतीत हो गये।

आज एक ओर आनन्दबाग में सभा का समारोह होने लगा और दूसरी ओर से पण्डितों को सभा-स्थान तक पहुँचाने के लिए काशी-नरेश के दरबार से पालकी, छत्र, चँवर आदि सामग्री भेजी जाने लगी। आज मानो काशी के पण्डितों का परीक्षा-दिन था। इस दिन की सफलता पर उनका भविष्य अवलम्बित था। प्रतिपक्ष में कौपीनधारी साधु था, विद्या ही जिसका शस्त्र था, सत्य ही जिसका किला था और परमात्मा ही जिसका सहायक था। उधर अनेक पण्डितों की मण्डली थी, जिनके पास विद्या-खड्ग तो थी, परन्तु स्वतन्त्र विवेक के अभाव में रूढ़ि-रूपी जंग से निकम्मी हो गई थी। सत्य का मुख हिरण्मय पात्र से बन्द हो चुका था। परमात्मा का स्थान एक ओर जड़-मूर्त्तियों ने और दूसरी ओर अन्नदाता काशीनरेश ने छीन लिया था। जहाँ कौपीनधारी अपने सहायक पर भरोसा करके, सत्य के गढ़ में डेरा जमाकर, विद्या की तलवार पकड़े निर्भीक बैठा था, वहाँ अपनी शक्तियों और सहायकों को कमज़ोर समझकर पण्डित-मण्डली कभी छत्र-चँवर के ढोंग का आसरा ढूँढती थी और कभी सैकड़ों शिष्यों की पंक्तियाँ बाँधकर समझती थी कि अब तो दयानन्द अवश्य दहल जाएगा, परन्तु यहाँ वह लौ न थी, जो हवा के तनिक से झोंके से बुझ जाती।

जो जनता आनन्दबाग की ओर उमड़ने लगी, उसमें निन्यानवे प्रतिशत मूर्त्तिपूजा के माननेवाले थे। वे लोग सत्यासत्य-निर्णय देखने नहीं जा रहे थे, बल्कि माने हुए 'सनातनधर्म' को जिताने जा रहे थे। उन्हें बतलाया गया था कि बनारस में एक बड़ा भारी नास्तिक आया है, जो विश्वनाथपुरी में ही विश्वनाथजी को गालियाँ देता है। उसका दमन करना हिन्दूमात्र का कर्त्तव्य है। लोग अपनी-अपनी भावना के अनुसार एक बड़े नास्तिक की पराजय देखने जा रहे थे। जानेवालों में भले भी थे और बुरे भी थे। भले आदमी अपने पण्डितों को आशीर्वाद देते जा रहे थे और बुरे आदमी नास्तिक पर ईंट-पत्थर बरसाने की अटकलें लगा रहे थे। सभा-मण्डप का प्रबन्ध शहर के

कोतवाल रघुनाथसहाय के अधीन था। वे बड़े सज्जन थे। शान्ति से शास्त्रार्थ का कार्य चलाने के लिए उन्होंने बैठने की ऐसी व्यवस्था की थी कि स्वामीजी के साथ एक समय में एक ही पण्डित बोल सके और पण्डितलोग उन्हें घेरकर न बैठ सकें। तीन ऊँचे आसन जमाये गये थे—एक स्वामीजी के लिए, दूसरा प्रतिपक्षी पण्डित के लिए और तीसरा काशीनरेश के लिए।

विरोधियों की इतनी संख्या और उनमें भी काशी के प्रसिद्ध गुण्डों की भरमार, स्वामीजी के भक्तों के हृदय काँपने लगे। भक्त बलदेव ने स्वामीजी से स्थिति की चर्चा की। स्वामीजी ने अपने स्वभाव-अनुसार ईश्वर-विश्वास और निर्भयता का उपदेश देकर सान्त्वना देते हुए कहा कि—"एक परमात्मा और एक ही धर्म है। दूसरा कौन है, जिससे डरें? उन सबको आ जाने दो—जो कुछ होगा, उसी समय देखा जाएगा।" स्वामीजी के भक्त पं० जवाहरदासजी ने भी कुछ सन्देह प्रकट किया और वैसा ही उत्तर पाया। निर्भय-निष्कम्प संन्यासी उमड़ते हुए विरोधी मेघ के प्रहार को सहने के लिए तैयार होकर बैठा था और उनकी थोथी गर्ज पर मुस्करा रहा था। जो बहादुर, केसरी को उसकी माँद में जाकर ललकार सकता है, वह उसकी गर्जना को भी अक्षुब्ध चित्त से सुन सकता है।

पौराणिकों की अपार सेना आ पहुँची। रोब जमाने को काशी-नरेश; बाल की खाल उधेड़ने को वृद्ध स्वामी विशुद्धानन्द, प्रसिद्ध बालशास्त्री और अन्य माधवाचार्य, वामनाचार्य, नारायण आदि विख्यात पण्डित तथा हल्ला मचाने को काशी के विद्यार्थी और गुण्डे—इस प्रकार झूमती-झामती और बेतहाशा जय-जयकारों से आकाश को गुँजाती हुई अङ्ग-त्रय-सम्पन्न पौराणिक सेना आनन्द बाग में पहुँच गई। नियमहीन सेना के पहुँचते ही मण्डप का नियम टूट गया। कोतवाल का यत्न व्यर्थ हुआ। स्वामीजी को पण्डितों ने चारों ओर से घेर लिया। उनके पास किसी हितैषी को बैठने का भी अवसर न दिया गया। रास्ते रोक लिये गये और अकेले दयानन्द को घेर कर पचास हज़ार विरोधी सनातनधर्म का जयकारा बोलने लगे।

शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ। कहने को शास्त्रार्थ था, परन्तु वस्तुतः वर्षा-ऋतु के बढ़े हुए बीसियों प्रचण्ड नालों की चट्टान से टक्कर थी। हरेक पण्डित अपनी बल-परीक्षा कर रहा था और चाहता था कि किसी प्रकार स्वामीजी निरुत्तर हो जाएँ, परन्तु प्रत्युत्पन्नमति संन्यासी काबू नहीं आता था। बरसों अभ्यास और ब्रह्मचर्य-पालन

से संग्रह किये हुए निर्भयता, धैर्य और स्मृति आदि गुण इस समय उसके परम सहायक हुए। प्रश्नरूपी तीरों की अनवरत बौछार हो रही थी, साधन-सम्पन्न ब्रह्मचारी फेंके हुए तीरों को मार्ग में ही काटता जाता था और साथ ही अपने धनुष की करामात दिखा रहा था। उस लक्ष्यवेधी धनुष से फेंके हुए अमोघ बाण विरोधियों के कवचों में छेद कर रहे थे।

पं० ताराचरण ने पूछा—'आप मनुस्मृति को वेदमूलक कैसे मानते हैं?'

स्वामीजी ने उत्तर दिया—'सामवेद के ब्राह्मण में कहा है कि जो कुछ मनु ने वर्णन किया है वह औषधों का भी औषध है।'

ताराचरणजी चुप हो गये। स्वामी विशुद्धानन्दजी मदद के लिए पहुँचे। आप बोले—'**रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्**' इस वेदान्त-सूत्र को वेदमूलक सिद्ध करो।

स्वामीजी ने उत्तर दिया—'यह उपस्थित वाद के भीतर नहीं है।'

स्वामी विशुद्धानन्द—'प्रकरण के बाहर है तो क्या हुआ? यदि तुम्हें इसका समाधान आता है तो कह दो।'

स्वामी दयानन्द—'इसका पूर्वापरपाठ देखकर समाधान किया जा सकता है।'

स्वामी विशुद्धानन्द—'यदि सब-कुछ याद न था तो काशी में शास्त्रार्थ करने क्यों आये थे?'

स्वामी दयानन्द—'क्या तुम्हें सब-कुछ कण्ठाग्र है?'

स्वामी विशुद्धानन्द—'हाँ, हमें सब-कुछ स्मरण है।'

यहाँ उल्टा वार प्रारम्भ हुआ। पेंच में आता-आता चतुर सिपाही निकल गया। स्वामी दयानन्द ने पूछा—'तब बताइए—धर्म के लक्षण कितने हैं?'

स्वामी विशुद्धानन्द ने सर्वज्ञता का दावा तो किया, परन्तु उन्हें मनुस्मृति का धर्म-लक्षण-सम्बन्धी '**धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयम्**'—इत्यादि श्लोक याद नहीं था; वे निरुत्तर हो गये। स्वामी दयानन्द ने श्लोक पढ़कर सुनाया। इसपर प्रसिद्ध धर्माचार्य पं० बालशास्त्रीजी मदद पर आ पहुँचे। आपने कहा कि—'हमने सम्पूर्ण धर्मशास्त्र का अध्ययन किया है, इस विषय में कुछ पूछना चाहते हो तो हमसे पूछो।'

स्वामी दयानन्द ने पूछा—'आप अधर्म के लक्षण बतलाइए।'

बालशास्त्रीजी ने कभी सोचा भी न था कि कोई आदमी अधर्म

के लक्षण भी पूछ सकता है! उन्हें निरुत्तर होना पड़ा।

इसी प्रकार प्रश्नोत्तर होते रहे। मूर्त्तिपूजा के सम्बन्ध में काशी के पण्डितों ने दो ही बातें पेश कीं। एक तो यह कि वेद में प्रतिमा शब्द आया है, वह मूर्त्ति का वाचक है और दूसरा यह कि 'उद्बुध्यस्वाग्ने' इत्यादि मन्त्र में जो 'पूर्त' शब्द आया है, वह मूर्त्ति पूजा का सूचक है। स्वामीजी ने दोनों का ही समाधान कर दिया। ईश्वर की प्रतिमा का वेद में स्पष्ट निषेध है और पूर्त शब्द नदी-तड़ाग आदि का वाचक है। यह समाधान करके स्वामीजी बारम्बार यही पूछते रहे कि 'वेद में मूर्त्तिपूजा का विधान कहाँ है?'

हर तरह से लाचार होकर पण्डित-मण्डली ने चालाकी की शरण ली। इस विषय पर शास्त्रार्थ करने से हटकर पण्डित लोग स्वामीजी को उलझाने की नीयत से पुराणों के विषय पर विवाद करने लगे, परन्तु शीघ्र ही अनुभव करने लगे कि यह व्यूह भी अभेद्य है। स्वामीजी ने अवसर पाकर व्याकरण-सम्बन्धी प्रश्न पण्डितों के सामने रक्खा, परन्तु कोई भी सन्तोषजनक उत्तर न मिला। पण्डित लोग खिन्न और हताश होने लगे। तब माधवाचार्यजी आगे बढ़े और कोई दो पत्रे लाकर बीच में रखते हुए कहा कि 'यहाँ पर लिखा है कि यज्ञ की समाप्ति पर यजमान दसवें दिन पुराणों का पाठ श्रवण करे, अब स्वामीजी बताइए कि 'पुराण' किसका विशेषण है?'

स्वामीजी—'आप पाठ पढ़कर सुनाइए।'

स्वामी विशुद्धानन्दजी ने पत्रे स्वामी दयानन्दजी के हाथ में पकड़ाकर कहा कि—'आप ही पढ़ लीजिए।'

स्वामीजी—'आप ही पढ़ दीजिए।'

स्वामी विशुद्धानन्दजी बोले—'मैं चश्मे के बिना नहीं पढ़ सकता, इसलिए आपको पढ़ना होगा।' स्वामी दयानन्द ने पत्रे हाथ में ले-लिये। अन्धेरे के कारण पढ़ना कठिन था। दीपक मँगवाया गया। लालटेन की रोशनी भी बड़ी मद्धिम थी, पत्रे पढ़ने में कुछ समय लगा। उचित मौका समझकर पण्डित-मण्डली उठ खड़ी हुई। इस प्रकार धूर्तता होते देखकर स्वामी दयानन्द ने स्वामी विशुद्धानन्द का हाथ पकड़कर कहा कि—''बैठ जाइए। निर्णय किये बिना बीच ही में उठ खड़े होना आप-जैसे विद्वानों को कदापि उचित नहीं,'' परन्तु स्वामी विशुद्धानन्दजी न बैठे और स्वामी दयानन्द की पीठ पर हाथ फेरकर कहने लगे कि 'अब बैठिए, जो कुछ होना था, हो चुका।'

पण्डितों का इशारा पाकर काशी-नरेश ईश्वरीनारायणसिंह भी खड़े हो गये और ताली पीट दी। इधर इशारा पहले से बँधा हुआ था। सारा जनसमुद्र एकदम खड़ा होकर "सनातनधर्म की जय" बोलने लगा। कोतवाल बड़ा सज्जन था। उसे काशी-नरेश का ओछा व्यवहार बहुत अखरा। उसने काशी-नरेश से कहा कि—"आपने ताली पीटकर बहुत बुरा किया, यह कार्य सभा के नियमों के विरुद्ध था। नरेश कोतवाल की बगल में हाथ देकर आगे बढ़ गये और समझाया कि हम-तुम सभी मूर्त्तिपूजक हैं, तब अपने सामान्य शत्रु को जैसे हो सके पराजित करना ही चाहिए। इस दंगा-काण्ड के नेता काशी-नरेश का इशारा पाकर सम्पूर्ण जनसमूह मनमानी करने लगा। किसी ने पत्थर, किसी ने कंकर, किसी ने जूता—अधिक क्या कहें, जिसे जो मिला उसने वही उछाला और स्वामीजी की ओर फेंका। जैसे तूफान के समय हवा के जोरदार झोंकों के साथ मिट्टी, कंकर, लकड़ी और पत्ता आदि पदार्थ पर्वत की निष्कम्प चट्टान पर टकराते हैं और लज्जित होकर नीचे गिर पड़ते हैं, इसी प्रकार स्वार्थपूर्ण दम्भ द्वारा भड़काये हुए इन अज्ञानी लोगों के फेंके गर्हित पदार्थ भी लज्जित होकर गिर पड़े, वे संन्यासी के पयोधि-गम्भीर हृदय पर कोई प्रभाव उत्पन्न न कर सके।"

सिद्ध पुरुष

पण्डित ईश्वरसिंह नाम के एक निर्मले सन्त काशी में वास करते थे। वे वेदान्त के निष्ठावान् विद्वान् थे। उन्होंने उस दिन आनन्दोद्यान से लौटता हुआ जन-समुदाय देखा। उसमें विद्यार्थी, पण्डित और साधारण लोग स्वामीजी महाराज को अनेक-अनेक कु-वचन बोलते हुए जा रहे थे। ईश्वरसिंहजी ने वहाँ यह भी सुना कि स्वामीजी पर लोगों ने आज ईंट, पत्थर, गोबर और जूते फेंके हैं, उन्हें अगणित अपशब्द कहे हैं। उनके चित्त में, उसी समय यह संकल्प हुआ कि चलो इसी समय चलकर दयानन्दजी की दशा देखें। यदि इस महानिरादर से, घोर अपमान से, विपरीत नीति से, निष्ठुर अन्याय से उनका चित्त विचलित न हुआ तो समझेंगे कि वह सच्चा ब्रह्मज्ञानी और एक पहुँचा हुआ महात्मा है।

जिस समय ईश्वरसिंहजी आनन्दोद्यान में पहुँचे उस समय महाराज चाँद की चाँदनी में टहल रहे थे। ईश्वरसिंहजी को आते देखकर महाराज ने मुस्कराते हुए, बड़े आदर से उनका स्वागत किया। दोनों मिलकर बड़ी रात तक आत्मा और परमात्मा-सम्बन्धी

विषयों पर वार्तालाप करते रहे। इतनी लम्बी बातचीत में, ईश्वरसिंहजी को स्वामीजी के चन्द्रसमान चमकते हुए मुखमण्डल पर उदासीनता का एक भी धब्बा दिखाई न दिया। उनकी मुस्कराहट की चन्द्रछटा में उन्होंने किंचिन्मात्र भी न्यूनता न पाई। उनके हृदयगत साहस और उत्साह की ज्वालमाला संकुल ज्वलन्त अग्नि से एक बार भी तो लम्बी साँस का धुआँ न निकला। ध्यानपूर्वक देखने पर भी उनके विमल चिदाकाश में, निराशा-बदली की एक टुकड़ी भी न दीख पड़ी। उन्होंने लोगों के अन्याय और अत्याचार की कुछ भी तो चर्चा न चलाई।

पण्डित ईश्वरसिंहजी ने महाप्रभु दयानन्द के चरण छूकर कहा—''महाराज! आज तक मैं आपको वेद-शास्त्र का ज्ञाता, एक पण्डितमात्र समझता रहा हूँ, परन्तु आज पण्डितों के घृणित उत्पात से, अपमान से और विरोध की घोर आँधी से आपके हृदय-सागर में राग-द्वेष की एक भी लहर उठते न देखे, मुझे विश्वास हो गया है कि आप वीतराग महात्मा और सिद्ध पुरुष हैं।'' तत्पश्चात् सन्त ईश्वरसिंहजी महाराज से विदा होकर अपने स्थान को चले आये।

पौराणिक दल ने शहर-भर में पण्डितों का जुलूस घुमाया, मूर्त्तिपूजा का जय-जयकार मचाकर अपनी सत्यप्रियता का परिचय दिया और सब स्थानों पर समाचार भेज दिया कि दयानन्द परास्त हो गया है। शहर में पण्डितों की ओर से विज्ञापन लगा दिये गये कि दयानन्द के पास कोई न जाए, जो जाएगा वह पातकी हो जाएगा। यह सब-कुछ किया गया, परन्तु संसार की आँखों में धूल न डाली जा सकी। देश के पक्षपात-हीन समाचार-पत्रों ने स्वामी दयानन्द की विजय का ही समाचार प्रकाशित किया। पं० सत्यव्रतजी सामश्रमी ने अपनी 'प्रलकम्रनन्दिनी' नाम की मासिक पत्रिका में स्वामीजी की सफलता की घोषणा की। 'रुहेलखण्ड' नामक पत्र ने लिखा कि—'स्वामी दयानन्दजी ने काशी के पण्डितों को जीत लिया है।' 'ज्ञानप्रदायिनी' (लाहौर) ने समाचार दिया कि 'इसमें सन्देह नहीं कि पण्डित लोग मूर्त्तिपूजा की आज्ञा वेदों में नहीं दिखा सके।' 'हिन्दू पेट्रियट' ने प्रकाशित किया कि 'पण्डित लोग यद्यपि अपने शास्त्रज्ञान का अतिगर्व करते थे, परन्तु उनकी बड़ी भारी हार हुई।'

स्वामीजी का उपदेश सुनने से रोकनेवाला विज्ञापन भी निष्फल हुआ। हवा का झोंका भ्रमरों को फूल के पास जाने से न रोक सका।

लोग और भी अधिक उत्सुकता से संन्यासी का सदुपदेश सुनने

जाने लगे। स्वामी दयानन्द की धाक चारों ओर बैठ गई। जिस फौलादी ढाल से टकराकर काशी के सुसंस्कृत तीर कुण्ठित हो गये, तिनकों की क्या मजाल थी कि उसपर अड़ सकें! देश-देशान्तर में इस शास्त्रार्थ का संवाद हवा की भाँति फैल गया और अपने साथ स्वामीजी की पाण्डित्यकीर्ति के सौरभ को भी लेता गया।

रूढ़ि के गढ़ से दयानन्द की टक्कर का जो भयंकर शब्द हुआ उससे दिशाएँ गूँज उठीं। आश्चर्य से देश ने देखा कि सदियों के अन्धेरे में खड़ा किया हुआ कुरीतियों का मीनार ठोकर खाकर भीषण शब्द करता हुआ विश्वनाथपुरी की जलधारा में विलीन हो रहा है। स्वार्थ काँप उठा और सत्य का प्रकाश चमकने लगा।

स्वामीजी ने सात बार काशी पर आक्रमण किया, परन्तु कोई भी पौराणिक पण्डित वेद से मूर्त्तिपूजा सिद्ध नहीं कर सका। हाँ, इतना अवश्य हुआ कि जब स्वामीजी दूसरी बार काशी गये तब काशी-नरेश ने उन्हें अपने निवास-स्थल पर बुलाकर उनका मान-सम्मान किया और अपने पूर्व-व्यवहार के लिए क्षमा-याचना की। छठी बार जब दयानन्दजी काशी में पहुँचे तब एक दिन एकान्त में काशी के पण्डितों ने निवेदन किया—"महाराज! यदि आप मूर्त्ति-पूजा का खण्डन छोड़ दें तो हम आपको विष्णु का अवतार मान लेंगे।" परन्तु स्वामीजी ऐसे प्रलोभनों में फँसकर सत्य को तिलाञ्जलि कैसे दे सकते थे?

काशी में एक रामस्वामी महामहोपाध्याय को अपने पाण्डित्य पर बहुत गर्व था। वह कहा करता था कि यदि मैं एक बार भी दयानन्द से बात-चीत करूँ तो उसे सीधा कर दूँ, परन्तु वह स्वामीजी के समक्ष आता इसलिए नहीं था कि उनका मुख देखने से पातक लगेगा। एक दिन वह रात में स्वामीजी के पास आया और बोला—"मैं अपने साथ एक छुरी लेता आया हूँ। वह दोनों के बीच में रक्खी जाएगी। जो शास्त्रार्थ में हार जाएगा इससे उसकी नाक काट दी जाएगी।"

स्वामीजी ने हँसते हुए कहा—"पण्डितजी! एक शर्त मेरी भी मान लीजिए। वह यह है कि एक चाकू भी पास रख लिया जाए। जो हममें से हार जाए उससे उसकी जीभ काट ली जाए, क्योंकि नाक तो इन बातों में निर्दोष है। वाद-विवाद में जो कुछ अनर्थ होता है, वह जीभ द्वारा ही होता है।"

कोई आध घड़ी तक स्वामीजी ने उसके साथ वार्तालाप किया। इससे वह इतना प्रभावित हुआ कि सरलता और सभ्यता से बर्ताव करने लग गया।

काशी में स्वामीजी इस्लाममत की भी त्रुटियाँ दिखाया करते थे। इससे कुछ मुसलमान बहुत रुष्ट हो गये थे। एक दिन सायंकाल, महाराज गङ्गा-तट पर आसन लगाये बैठे थे। उसी समय, दैवयोग से मुसलमानों की एक मण्डली भी वहाँ आ निकली। उस टोली में बहुत-से मनुष्यों ने स्वामीजी को पहचानकर कहा कि यह वही बाबा है, जो कुछ दिन हुए हमारे मत के विरुद्ध व्याख्यान दे रहा था। उनमें से दो मनुष्य बहुत अधिक आवेश में आकर आगे बढ़े और स्वामीजी को उठाकर गङ्गा में फेंकने का यत्न करने लगे। उन दोनों व्यक्तियों ने दोनों हाथों से स्वामीजी की दोनों भुजाएँ कन्धों के पास से दृढ़तापूर्वक पकड़ लीं। वे उन्हें झुलाकर गंगा-धारा में फेंकना ही चाहते थे कि स्वामीजी ने अपनी दोनों भुजाएँ सिकोड़कर अपने शरीर के साथ लगा लीं और वे बलपूर्वक आगे को उछलकर दोनों मनुष्योंसहित पानी में कूद पड़े! उन दोनों व्यक्तियों के हाथ कुछ काल तक तो शिकञ्जे में कसे रहे, परन्तु नदी में डुबकी लगाते समय, महाराज ने उनपर दया दिखाकर उन्हें मुक्त कर दिया। वे दोनों मनुष्य बड़ी कठिनता से पानी से बाहर निकले और अपने साथियों के साथ, हाथ में मिट्टी के ढेले आदि लिये बड़ी देर तक नदी-तट पर खड़े देखते रहे कि बाबा सिर निकाले तो उसे मारें! स्वामीजी भी उनकी भावना को जानते थे, इसलिए वे प्राणों को रोक पानी की पेंदी पर पद्मासन लगाकर बैठे रहे। अन्धेरा हो जाने पर उस मण्डली ने मन में समझ लिया कि वह बाबा डूब गया है, इसलिए वे चले गये और स्वामीजी भी जल से निकल अपने आसन पर आ विराजे।

एक दिन एक मनुष्य ने भक्ति भाव प्रदर्शित करते हुए स्वामीजी को भोजन लाकर दिया। स्वामीजी उस समय भोजन पा चुके थे, इसलिए उन्होंने वह स्वीकार न किया। तब उस कपटी भक्त ने कहा कि यदि भोजन ग्रहण नहीं करते तो यह पान तो ले-लीजिए। महाराज उसके हाथ से पान का बीड़ा ले उसे खोलकर देखने लगे तो वह वंचक झटपट वहाँ से हिरण की भाँति भाग गया। इस पान की जाँच राज्य-औषधालय में कराई गई। वह उस पान में हलाहल विष मिश्रित करके लाया था।

८

सुधार-कार्य

क्रियात्मक जीवन ही शुभ जीवन

माघ बदी ५ संवत् १९२६ को श्री महाराज प्रयाग में पधारे और गङ्गा के तीर पर ही टिक गये। वहाँ आपने बड़ी धूमधाम से प्रचार का कार्य आरम्भ कर दिया। महाराज के व्याख्यानों में सैकड़ों साधु-सन्त भी आते थे। साधु, वेदान्त पर—निष्क्रियतावाद पर वादविवाद किया करते थे। एक दिन एक साधु ने स्वामीजी से प्रवृत्ति और निवृत्ति-मार्ग पर शास्त्रार्थ किया। उसे पराभूत करने के अनन्तर स्वामीजी ने अपने व्याख्यान में कथन किया—

"क्रियात्मक जीवन ही शुभ जीवन है। सारा दृश्यमान जगत् अपनी नित्य क्रिया में निरन्तर प्रवृत्त है। हमारे शरीर भी इस विशाल सृष्टि के अंशमात्र हैं। जब विराट् देह में निरन्तर गति है, क्रिया है और प्रवृत्ति है तब हम जो उसके एक अंशरूप हैं, उनमें निवृत्ति और निष्क्रियता का होना असम्भव है। आर्यधर्म में वेद-विहित कर्मों का करना प्रवृत्ति-मार्ग और निषिद्ध कर्मों का त्यागना ही निवृत्ति-मार्ग है। जो इस मर्म को मन में धारण किये बिना निवृत्ति का राग आलापते हैं, उन्हें अभी वैदिक धर्म का बोध ही नहीं हुआ है। जो लोग सत्योपदेश, प्रजा-प्रेम और लोकहित के कार्यों को छोड़कर अपने को परम निष्क्रिय मानते हैं, उनसे भी देह का भरण-पोषण नहीं छूट सकता। मधूकड़ी माँगने के लिए वे भी दो-दो कोस तक जाते हैं, यों ही तीर्थों पर घूमते फिरते हैं। सच तो यह है कि सत्य और पर-कल्याण के लिए अपने सुखों का त्यागना—जीवन तक को लगा देना ही सर्वोत्तम त्याग है।"

महाराज ने यह भी कहा—"परोपकार के बिना नर-जीवन मृग-जीवन से उच्च नहीं है। सैकड़ों साम्प्रदायिक साधु लोग इस मेले पर आये हुए हैं। ये गृहस्थों का नित्य आठ आने का पदार्थ खाकर जंगल में पड़े रहते हैं। सोचिए तो सही, इनमें और मृगों में भेद ही क्या है? मृग भी तो इसी प्रकार किसानों के खेत नोचकर वनों में घुस जाया करते हैं। इस जीवन का लाभ ही क्या है? यह तो पशु-पक्षियों को सहज ही से उपलब्ध है।"

हिन्दी में बोलने का अभ्यास

एक दिन स्वामीजी महाराज गङ्गा के तट पर बैठे हुए प्रकृति का स्वाभाविक सौन्दर्य निहार रहे थे। उस समय उनके सामने एक स्त्री एक मृत शिशु को अपने हाथों में उठाये हुए गङ्गा में प्रविष्ट हुई। कुछ गहरे जल में जाकर उसने बच्चे के शरीर पर लपेटा हुआ कपड़ा उतार लिया और उस मृत-पिण्ड को 'हाय-हाय' के आर्तनाद के साथ जल में प्रवाहित कर दिया। इस दृश्य को देखकर स्वामीजी का हृदय पिघल गया। वे सोचने लगे—"अहो! भारत देश इतना निर्धन और कंगाल है कि माता अपने कलेजे के टुकड़े को तो नदी में बहा चली है, परन्तु उसने वस्त्र इसलिए नहीं बहाया कि उसका मिलना कठिन है! इसके बिना उसका निर्वाह नहीं हो सकेगा! इससे बढ़कर देश की दरिद्रता का दृष्टान्त मिलना दुर्लभ है।" उस समय उन्होंने प्रण किया कि "कुछ काल में मैं इन्हीं लोगों की भाषा में प्रचार करके इनके दुःख दूर करने के साधन उपस्थित करूँगा।"

पुरश्चरण उलटा पड़ा

प्रयाग में कुम्भ-मेले पर प्रचार करके महाराज मिर्जापुर में आ विराजे और मूर्त्तिपूजा आदि कुरीतियों का प्रचण्ड प्रत्याख्यान करने लगे। स्वामीजी के भीषण सिंहनाद से विरोधी थर्रा उठे और उन्हें समाप्त करने के उपाय सोचने लगे।

उन्हीं दिनों एक तान्त्रिक ओझा भी मिर्जापुर में आकर ठहरा हुआ था। उसने घोषणा कर दी कि मेरे पास ऐसे सिद्ध यन्त्र एवं मन्त्र हैं कि यदि कोई उनका पुरश्चरण करावे तो दयानन्द इक्कीसवें दिन मर सकता है। एक सेठजी ने मन्त्र-प्रयोग का सारा व्यय वहन करना स्वीकार किया और ओझाजी ने मन्त्र-प्रयोग आरम्भ किया। इस प्रयोग को आरम्भ हुए अभी तीन-चार दिन ही हुए थे कि दैवयोग से मन्त्र-प्रयोग बैठानेवाले सेठजी के गले पर एक फोड़ा निकल आया और प्रतिदिन वह भयंकर रूप धारण करता गया। यहाँ तक कि उन्हें खाने-पीने, थूकने और बोलने में भी कष्ट होने लगा। एक दिन ओझाजी ने सेठ के पास जाकर कहा—"सेठजी! प्रयोग-समाप्ति का दिन निकट आ गया है। आप बलिदान की सामग्री प्रस्तुत करा दीजिए। प्रयोग-समाप्ति पर इधर बलि दी जाएगी और उधर दयानन्द का सिर धड़ से कटकर भूमि पर गिर पड़ेगा।" सेठजी ने बड़ी कठिनता से कहा—"ओझाजी! दयानन्द का सिर तो गिरते-गिरते

ही गिरेगा, परन्तु मेरा सिर तो गिरा ही जाता है। कृपया आप अपना पुरश्चरण बन्द कर दें।'' इस प्रकार वह मन्त्र-प्रयोग बीच में ही छोड़ दिया गया।

निर्भीक दयानन्द

एक दिन गुसाईं छोटूगिरि अपने साथ सैकड़ों मनुष्यों को लेकर स्वामीजी के स्थान पर चढ़ आया। दिव्य दयानन्द ने अपने दिव्य नेत्रों से उसकी दुष्टता एवं उद्दण्डता को भाँप लिया। तब तो स्वामीजी और भी जोश से मूर्त्तिपूजा आदि का खण्डन करने लगे। छोटूगिरि से दयानन्द की युक्ति और तर्कों का उत्तर तो बन नहीं पड़ा, वह पास ही रखे दोने से बताशे खाने लगा। महाराज ने कहा—''यदि बताशे खाने हैं तो मुट्ठी भरकर ले-लीजिए और प्रसन्नता से खाइए, परन्तु एक-एक करके खाने से सबको जूठा मत कीजिए।'' वह तो आया ही लड़ने के लिए था; बोला—''बच्चा! हमारी जूठन से घृणा करते हो? हम तुम्हारे गुरु हैं। तनिक ठहर जाओ, आज हम तुम्हें खण्डन का सारा मज़ा चखा देंगे।''

स्वामीजी ऐसी गीदड़-भभकियों से कब डरनेवाले थे! वे खड़े हो गये और बोले—''तू मुझे भय दिखाना चाहता है। यदि मैं डरनेवाला होता तो देश-देशान्तरों में घूमकर प्रचार कैसे करता?'' फिर वे सेवकों से बोले—''बाहर के द्वार बन्द कर दो, मैं अकेला ही इन सबको सीधा करके छोड़ूँगा।''

स्वामीजी की तेजोमयी आकृति को देखकर छोटूगिरि का हृदय काँप उठा। उसका घमण्ड खण्ड-खण्ड हो गया और वह भलमनसी से पीछे हटकर बैठ गया।

कुल्लूक तो उल्लूक है

यहाँ पण्डित गजाधर से वार्तालाप करते समय महाराज ने मनुस्मृति में आये 'चक्री' शब्द का अर्थ कुलाल किया। इसपर गजाधर ने कहा कि इसका अर्थ तेली है और कुल्लूक ने भी तेली अर्थ किया है। स्वामीजी ने हँसकर कहा कि कुल्लूक तो उल्लूक है, उसकी बात जाने दो। आप यह तो सोचो कि तेली के पास चक्र नहीं होता, वह कोल्हू से काम करता है। चक्र कुम्हार ही के पास होता है, इसलिए उसी का नाम चक्री है।

ज्येष्ठ संवत् १९२७ के आरम्भ में स्वामीजी मिर्जापुर से प्रस्थान कर बनारस में पुनः ढाई मास तक वैदिक धर्म की दुन्दुभि बजाकर

कासगंज में आकर सुशोभित हुए। यहाँ महाराज ने अपनी सबसे पहली स्थापित हुई वैदिक पाठशाला का निरीक्षण किया। स्वामीजी द्वारा स्थापित पाठशालाओं में निम्न नियमों का पालन कराया जाता था—

१. विद्यार्थियों को सन्ध्या सिखाकर पाठशाला में प्रविष्ट किया जाए और इसी से उनकी बुद्धि की भी परीक्षा कर ली जाए।

२. अष्टाध्यायी, महाभाष्य, मनुस्मृति और वेद पढ़ाये जाएँ।

३. यदि विद्यार्थी सूर्योदय से पहले उठकर सन्ध्या न कर ले तो उसे उस दिन सायंकाल की सन्ध्या कर लेने के पूर्व भोजन न दिया जाए और उसकी देख-रेख भी की जाए कि वह कहीं पास की बस्ती में जाकर भोजन न खा आये।

४. विद्यार्थियों को नगर में जाने की आज्ञा नहीं, परन्तु न्योते में जा सकते हैं।

५. इस पाठशाला के द्रव्य से, बाहर से आये हुए विद्यार्थियों को ही भोजन मिले।

६. अध्ययन में परिश्रम करनेवाले विद्यार्थी के भोजन का विशेष प्रबन्ध कर दिया जाए।

विद्यार्थी को उपदेश

स्वामीजी महाराज अपने विद्यार्थियों तथा साथ रहनेवाले पण्डितों और सेवकों को भी छोटे-छोटे पापों से बचने के लिए शिक्षा दिया करते थे। उन दिनों पण्डित रामप्रसाद स्वामीजी के साथ ही रहा करता था। कासगंज में एक दिन स्वामीजी स्नान के लिए एक समीप के उद्यान में जा रहे थे। उस समय रामप्रसाद स्नान के उपकरण उठाये महाराज के पीछे-पीछे चला आता था। एक पका हुआ आम पेड़ से गिरकर मार्ग में पड़ा था। महाराज तो उसे लाँघ गये, परन्तु पीछे आते रामप्रसाद का मुख लालायित हो गया। उसने झुककर वह फल उठा लिया। स्वामीजी ने उसकी इस क्रिया को देखकर उसे कहा—"रामप्रसाद! यह उद्यान तुम्हारे घर का नहीं है। इसलिए पराया फल उठाकर तुमने एक प्रकार की चोरी की है।" अपने स्थान पर आकर स्वामीजी ने उसपर एक रुपया दण्ड भी लगा दिया।

सींग पकड़कर परे धकेल देते

एक दिन स्वामीजी बाजार में चले जा रहे थे। उस समय सामने से एक बलिष्ठ साँड आ निकला। वह साँड मारा करता था और

मनुष्यों के पीछे भी दौड़ता था। सब लोग मारे डरके चबूतरों पर चढ़ गये और स्वामीजी को भी ऐसा करने के लिए पुकार-पुकारकर कहने लगे, परन्तु स्वामीजी एक पाँव भी इधर-उधर न हुए। सीधे साँड की ओर चलते गये। जब उसके बहुत निकट पहुँच गये तब साँड आप ही मार्ग छोड़कर एक ओर से निकल गया। स्वामीजी के दृढ़ धैर्य और निर्भयता पर सारा बाज़ार आश्चर्यचकित हो गया। चैनसुख ने कहा—"स्वामीजी! यदि साँड सींग चलाता तो आप क्या करते?" महाराज ने हँसकर कहा—"करते क्या? सींग पकड़कर परे धकेल देते।"

छलेसर में

स्वामीजी ने यहाँ चिरकाल तक निवास किया। उनके सत्संग से अनेक सज्जनों ने लाभ उठाया। जब पाठशाला का प्रबन्ध ठीक हो गया तब निःस्पृह दयानन्द वहाँ से प्रस्थान कर ग्रामानुग्राम विचरते हुए छलेसर की ओर प्रस्थित हुए। स्वामीजी के आगमन का समाचार पाकर कोई ढाई सौ मनुष्य नंगे पैर डेढ़ कोस तक उन्हें लेने के लिए गये। कालिन्दी के तीर पर महाराज के दर्शन कर सबने चरण छूकर नम्रीभूत नमस्कार किया। ठाकुर मुकुन्दसिंह ने महाराज के गले में पुष्पमाला अर्पित की और दाहिने हाथ से उनके सिर पर छत्र तानकर पालकी में बैठने की प्रार्थना की, परन्तु स्वामीजी भक्तों के मुखमण्डल को अपने उपदेशामृत से सींचते हुए उनके साथ पैदल ही चले।

स्वामीजी को एक उद्यान में ठहराया गया और प्रतिदिन सायंकाल उनके उपदेश होने लगे। सैकड़ों राजपूत नित्य दूर-दूर से स्वामीजी का उपदेश सुनने आते। ठाकुर मुकुन्दसिंह और उनके भाई मुन्नासिंह ने अनेक राजपूतों सहित स्वामीजी के कर-कमलों से यज्ञोपवीत लेकर उन्हें विधिवत् अपना गुरु बनाया।

पिता-पुत्र का मिलाप

मुकुन्दसिंहजी अपने पुत्र चन्दनसिंह से कुछ रुष्ट रहते थे। जब श्री स्वामीजी को इस बात का पता लगा तो उन्होंने मुकुन्दसिंहजी से कहा—"पिता को विशेष कोमल होना चाहिए। छोटे यदि छोटापन करें, तो बड़ों को भी अपना बड़प्पन त्याग देना उचित नहीं। सन्तान के साथ वैमनस्य रखना सांसारिक सुख को किरकिरा कर देना है—फीका बना देना है। परस्पर की ऐंचातानी से अन्त में स्नेह-सूत्र छीज जाया करता है। आपको उचित है कि अपने पुत्र के लिए वात्सल्यभाव

प्रकाशित करें।''

इस प्रकार उपदेश देकर महाराज ने चन्दनसिंह को मुकुन्दसिंहजी की गोद में बैठा दिया और पिता-पुत्र का मनमुटाव मिटाकर मेल करा दिया।

मक्का की रोटी

स्वामीजी महाराज के लिए उत्तम भोज्य पदार्थों का थाल प्रतिदिन समय पर ठाकुरों के यहाँ से आ जाया करता था। एक दिन स्वामीजी चबूतरे पर बैठे थे और उनके भोजन के आने में कुछ देर थी। उस समय एक कृषक मक्का की मोटी-मोटी रोटियाँ लिये अपने खेत को जा रहा था। मार्ग में मुनिराज को बैठे देख उसके हृदय में भक्तिभाव उमड़ आया। उसने आकर महाराज को नमस्कार किया और विनती की कि भगवन्! आज मेरा अन्न ग्रहण करके इस तुच्छ किसान को भवसागर से पार उतारिए। स्वामीजी ने अति प्रसन्नता से वहीं बैठे अपने हाथों पर उसकी मक्का की एक मोटी रोटी ले-ली और वे अतीव रुचि से उसका भोग लगाकर तृप्त हो गये।

महाराज के इस अनुग्रह से उस कृषक का हृदय गद्‌गद हो गया, तन पर रोमांच हो आया, उसकी आँखें अनुराग-रस के पानी-पूर से परिपूर्ण हो गईं।

अनूपशहर में

छलेसर से प्रस्थान कर सोरों और फर्रुखाबाद होते हुए स्वामीजी ने अनूपशहर में लालाबाबू की कोठी में आसन जा लगाया।

एक दिन कुछ लोग सूर्य को अर्घ्य दे रहे थे। स्वामीजी ने उनसे कहा—''अरे भोले भाइयो! जल में जल क्यों देते हो? यदि किसी पेड़ को पानी दो तो कुछ लाभ हो सकता है।''

अनूपशहर से प्रस्थान कर स्वामीजी कर्णवास होते हुए पटना पधारे। वहाँ डिप्टी सावनमल आदि ने उनका स्वागत कर उन्हें भूपसिंह के उद्यान में ठहराया।

उन दिनों पटना में पण्डित रामजीवन भट्ट प्रसिद्ध थे। वे पचास-साठ मनुष्य साथ लेकर स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने आये, परन्तु एक-दो बातों में ही निरुत्तर होकर चले गये।

मरकर जीव कहाँ जाता है

छोटेलाल नामक एक व्यक्ति ने स्वामीजी के पास आकर पूछा—''जीव मरकर कहाँ जाता है?'' स्वामीजी ने यजुर्वेद के अनुसार

उत्तर दिया—"जीव देह छोड़ने के अनन्तर वायुरूप होकर आकाश में रहता है। फिर जल में जाता है। उसके पश्चात् क्रमशः ओषधियों में, अन्न में और पुरुष में होकर गर्भ में स्थापित होता है और फिर समय पर जन्मता है।" उस समय स्वामीजी ने स्वर्ग-नरक के मिथ्या विश्वास का खूब खण्डन किया।

संसार-त्याग असम्भव

गुरुप्रसाद नाम के एक सम्भ्रान्त व्यक्ति पटना में निवास करते थे। वे अनेक सज्जनोंसहित स्वामीजी के दर्शनार्थ गये और नमस्कार करके पूछने लगे, "भगवन्—संसाराश्रम त्यागना उचित है अथवा नहीं?" स्वामीजी के पूछने पर गुरुप्रसादजी ने कहा—"संसाराश्रम से मेरा आशय पुत्र, स्त्री, परिवार, गृह इत्यादि से है।" स्वामीजी ने उत्तर में वर्णन किया—"संसार में तो खाना-पीना, सोना, जागना, श्वास-प्रश्वास लेना और विद्याभ्यास करना आदि सभी कर्म आ जाते हैं और इनका त्याग करना असम्भव है।"

गुरुप्रसादजी को स्वामीजी के उत्तर से पूर्ण सन्तोष हो गया।

स्वामीजी ने विज्ञापनों द्वारा नगर में घोषणा कर दी कि मूर्त्ति-पूजन और अवतारवाद आदि विषयों पर जो चाहे आकर शास्त्रार्थ कर ले। हम उसके भ्रम-निवारणार्थ सर्वदा समुद्यत हैं, परन्तु किसी भी पण्डित को उनके सामने आने का साहस न हुआ।

जूतों और खड़ाऊँ का संवाद

एक दिन एक मैथिल पण्डित[1] स्वामीजी के पास आया और बड़ी देर तक संस्कृत में बातचीत करता रहा। प्रसंगवश स्वामीजी ने भागवत का खण्डन आरम्भ कर दिया। इसपर उस पण्डित ने कहा कि स्वामीजी! आप कुछ भी कहें, परन्तु भागवत के अठारह सहस्र श्लोक रचने का सामर्थ्य आज तक किसी भी दूसरे विद्वान् में तो नहीं हुआ। महाराज ने हँसकर कहा कि जैसे कल्पित कथा के अठारह सहस्र श्लोक भागवत में हैं वैसे ही कल्पित श्लोक हम अड़तीस सहस्र रच सकते हैं। नमूने की रीति से जूते और खड़ाऊँ के प्रश्नोत्तर ही पहले लिखिए। स्वामीजी ने अभी दस श्लोक ही लिखवाये थे कि वह उन श्लोकों के वचन-माधुर्य पर और पद-विन्यास के लालित्य पर ऐसा लट्टू हुआ कि उसने महाराज के चरण पकड़

---

१. यह मैथिल पण्डित सम्भवतः पं० शिवशङ्कर काव्यतीर्थ के पिताजी थे।

लिये! वह ब्राह्मण स्वामीजी की रचनाशक्ति की भूरि-भूरि प्रशंसा करता हुआ वहाँ से चला गया।

योगिराज का योग बल

राजनाथ नामक एक युवक के मन में स्वामीजी के चरणों में रहकर वेदाध्ययन की इच्छा उत्पन्न हुई। उसकी आग्रहपूर्ण प्रार्थना पर स्वामीजी ने उसे रख लिया। अगले दिन उसने भोजनादि के पश्चात् स्कूल से अपना नाम कटवा लिया, परन्तु डिप्टी सोहनलाल के पास बैठे-बैठे उसे रात हो गई। सोहनलालजी के मकान से स्वामीजी का स्थान दो कोस की दूरी पर था। वे प्रतिदिन स्वामीजी को दूध भेजा करते थे। उस दिन उन्होंने राजनाथ को ही दूध ले-जाने के लिए कहा। उस समय अन्धकार छा गया था। वर्षा के कारण कुछ कीचड़ भी हो गया था, अतः राजनाथ स्वामीजी के स्थान पर जाने से कतराने लगा। सोहनलालजी ने कहा—"तू अँधेरे से डरता है; स्वामीजी तो वनों में वास करते हैं, उनके पास तेरा निर्वाह कैसे होगा?" सोहनलालजी के प्रोत्साहित करने पर राजनाथ एक हाथ में दूध का लोटा, दूसरे हाथ में छड़ी और कमर के साथ मिश्री बाँधकर चल पड़ा। थोड़ी दूर जाकर उसने देखा कि एक भयंकर सर्प जल से निकलकर मार्ग में पड़ा है। राजनाथ डरकर पीछे हटने लगा तो उधर भी उसे एक भीषण नाग दिखाई दिया। कुछ देर तो वह किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो गया, परन्तु अन्त में स्वामीजी के पास जाने का निश्चय कर वह सर्प के ऊपर से छलाङ्ग मारकर पार हो गया, जब वह स्वामीजी के पास पहुँचा तब स्वामीजी ने मुस्कराकर कहा—"क्या मार्ग में तुम्हें सर्प मिले थे? क्या तुम उन्हें देखकर भयभीत हो गये थे?" राजनाथ को अतीव आश्चर्य हुआ कि गुरुजी को मेरे पहुँचने से पहले ही मार्ग में घटित घटनाओं का ज्ञान कैसे हो गया? उस दिन से उसके हृदय में स्वामीजी के लिए अनन्य श्रद्धा उत्पन्न हो गई।

बाबा आदम के युग का हूँ

पटना से स्वामीजी ने मुंगेर के लिए प्रस्थान किया। इस यात्रा में एक बड़ी मनोरञ्जक घटना घटी। मुंगेर जाते हुए रास्ते में जमालपुर जंकशन पर दूसरी ट्रेन की प्रतीक्षा में कुछ देर ठहरना पड़ा। स्वामीजी प्लेटफार्म पर घूमने लगे। उस समय वहाँ एक अंग्रेज इञ्जीनियर भी अपनी पत्नी सहित विद्यमान था। कौपीनधारी परमहंस को अपने सामने घूमते देखकर उनकी पत्नी ने बुरा माना। इञ्जीनियर ने स्टेशन

मास्टर को बुलाकर कहा—''इस नंगे व्यक्ति को इधर-उधर घूमने से बन्द कर दो।'' स्टेशन मास्टर ने स्वामीजी के पास जाकर कहा—''भगवन्! दूसरी ओर चलकर कुर्सी पर आराम कीजिए, अभी मुंगेर की गाड़ी जाने में देर है।'' स्वामीजी सब-कुछ ताड़ गये। वे बोले—''जिसने आपको मुझे यहाँ से हटाने के लिए कहा है उससे कह दो कि हम उस युग के मनुष्य हैं जब आदम और हव्वा नंगे अदन के बाग में सैर किया करते थे।'' यह सुनकर स्टेशन मास्टर तो चला गया और स्वामीजी पूर्ववत् घूमते रहे। इञ्जीनियर ने स्टेशन मास्टर को बुलाकर अपना आदेश फिर दोहराया। स्टेशन मास्टर ने साधु को प्लेटफार्म से हटाने में अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए कहा—''यह कोई भिखमंगा तो है नहीं, जिसे वहाँ से हटा दूँ। यह तो हम और आपको कुछ भी न समझनेवाला प्रसिद्ध सुधारक और स्वतन्त्र संन्यासी दयानन्द है।'' दयानन्द का नाम सुनते ही इञ्जीनियर महाशय स्वामीजी के पास आ पहुँचे और जब तक मुंगेर की गाड़ी खड़ी रही तब तक उनसे वार्तालाप करते रहे।

केशवचन्द्र सेन से भेंट

मुंगेर से भागलपुर होते हुए महाराज पौष संवत् १९२९ (दिसम्बर १८७२) में कलकत्ता पहुँचे। उन दिनों वहाँ बाबू केशवचन्द्र सेन की धूम थी। जिस समय स्वामीजी कलकत्ता पहुँचे उस समय केशवचन्द्रजी कहीं बाहर गये हुए थे। जब वे लौटे तब स्वामीजी से मिलने उनके पास पहुँचे, परन्तु अपना परिचय आदि न देकर वार्तालाप में स्वामीजी से कहा—''क्या आप कभी केशवचन्द्र सेन को भी मिले हैं?'' स्वामीजी ने उत्तर दिया—''हाँ, मिला हूँ।'' उन्होंने कहा—''वह तो कलकत्ते में नहीं था, आप उसे कब मिले थे?'' स्वामीजी ने हँसकर कहा—''अभी मिला हूँ और आप ही केशवचन्द्र सेन हैं।'' सेन महाशय ने कहा—''यह आपने कैसे जान लिया कि मैं ही केशवचन्द्र सेन हूँ?'' स्वामीजी ने उत्तर दिया—''जैसी बात आपने की है ऐसी किसी दूसरे की नहीं हो सकती।'' स्वामीजी की ऊहा-शक्ति से वे अति प्रसन्न हुए और उसी समय से उनके हृदय में स्वामीजी के प्रति प्रेम और आदर का भाव उत्पन्न हो गया।

दोनों महापुरुष देश की भलाई में दत्तचित्त थे, दोनों ही अद्भुत वक्ता थे, दोनों ही में जनता पर बिजली का-सा प्रभाव पैदा करने की शक्ति थी। जिस प्रकार समानताएँ थीं, वैसे ही असमानताएँ भी

बहुत-सी थीं। एक बड़ी असमानता दोनों महापुरुषों की निम्नलिखित बातचीत से स्पष्ट होगी। एक दिन सेन महाशय ने स्वामीजी से पूछा कि—"भिन्न-भिन्न धर्मों को माननेवाले लोग अपने-अपने मान्य ग्रन्थ को ईश्वरीय और अन्तिम प्रमाण मानते और कहते हैं। आप वेद को ईश्वरीय ज्ञान कहते हैं। हम कैसे जानें किसका कहना सच्चा है?" स्वामीजी ने उत्तर में कुरान और बाइबिल में अनेक दोष दिखाये और वेदों की निर्दोषता दिखाते हुए कहा—"निर्दोष होने से वैदिक धर्म ही सच्चा है।"

स्वामीजी की युक्तियाँ सुन और उनकी अपरिमित प्रतिभा का परिचय पाकर एक बार केशवचन्द्र सेन ने कहा—"शोक है कि वेदों का अद्वितीय विद्वान् अंग्रेज़ी नहीं जानता, अन्यथा इंग्लैण्ड जाते समय वह मेरा इच्छानुकूल साथी होता।" स्वामीजी ने भी हँसकर कहा—"शोक है ब्राह्मसमाज का नेता संस्कृत नहीं जानता और लोगों को उस भाषा में उपदेश देता है, जिसे वे समझते ही नहीं!"

एक दिन केशवचन्द्रजी ने कहा कि आप संस्कृत ही में बातचीत करते हैं। जो लोग संस्कृत नहीं जानते उनको पण्डित लोग कुछ और ही समझा देते हैं, इसलिए आप देशभाषा में व्याख्यान आदि देने का यत्न करें। स्वामीजी ने उनकी सम्मति को मान लिया।

केशवचन्द्रजी सेन ने स्वामीजी से यह भी निवेदन किया कि आप सभा आदि में जाते हैं; इसलिए वस्त्र-धारण कर लें तो अच्छा है। महाराज ने इस प्रस्ताव को भी अनुमोदित किया।

बाग़ी फ़क़ीर

उन दिनों भारत की राजधानी कलकत्ता थी। लॉर्ड नार्थब्रुक उस समय वायसराय के पद पर थे। जनवरी सन् १८७३ में इंग्लैण्ड के लॉर्ड बिशप ने वायसराय और स्वामीजी की भेंट का आयोजन किया। दुभाषिया के द्वारा हुई इस भेंट का प्रामाणिक विवरण इस प्रकार है—

साधारण शिष्टाचार के पश्चात् वायसराय ने स्वामीजी से पूछा—पण्डित दयानन्द! मुझे सूचना मिली है कि आप द्वारा दूसरे मत-मतान्तरों व धर्मों की कड़ी आलोचना, उनके हृदय में क्षोभ उत्पन्न करती है और आपके विरुद्ध भयानक विचार उत्पन्न करती है, विशेषत: मुस्लिम और ईसाई जनता के। क्या आप अपने शत्रुओं से किसी प्रकार का खतरा अनुभव करते हैं? अर्थात् क्या आप सरकार से

अपनी सुरक्षा का कोई प्रबन्ध चाहते हैं ?

स्वामी दयानन्द—मुझे अपने विचारों के प्रचार करने की अंग्रेज़ी राज्य में पूरी स्वतन्त्रता है। मुझे व्यक्तिगत रूप में किसी प्रकार का ख़तरा नहीं है।

वायइसराय—यदि ऐसा ही है तो क्या आप अपने देश में अंग्रेज़ी शासन द्वारा उपलब्ध उपकारों का भी वर्णन किया करेंगे ? और अपने व्याख्यानों के आरम्भ में जो ईश्वर-प्रार्थना आप किया करते हैं, उसमें देश पर अखण्ड अंग्रेज़ी शासन के लिए प्रार्थना भी किया करेंगे ?

स्वामी दयानन्द—मैं ऐसी बात को मानने में असमर्थ हूँ, क्योंकि यह मेरा दृढ़ विश्वास है कि मेरे देशवासियों को अबाध राजनैतिक उन्नति और संसार के राज्यों में समानता का दर्जा पाने के लिए शीघ्र पूर्ण स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। श्रीमान्जी ! मैं तो ईश्वर से नित्य सायं-प्रातः उसकी अपार कृपा से इस देश की विदेशियों की दासता से मुक्ति की ही प्रार्थना करता हूँ।

नार्थब्रुक ने वार्ता यहीं समाप्त कर दी और भारतीय कार्यालय लन्दन को इस वार्तालाप का पूर्ण विवरण देते हुए उसने लिखा—''इस विद्रोही फ़क़ीर पर सतर्क दृष्टि रखने की आवश्यकता है।''

चैत्र शुक्ल ४ संवत् १९३० को कलकत्ता से प्रस्थान कर स्वामीजी हुगली, भागलपुर, पटना, छपरा, आरा, मिर्जापुर, प्रयाग, लखनऊ और कानपुर होते हुए फर्रुखाबाद अपनी पाठशाला में आ विराजे।

गो-रक्षा का उपदेश

इस बार, महाराज का मिलाप, संयुक्तप्रान्त के छोटे लाट म्योर महोदय से और उसी प्रान्त के शिक्षा-विभाग के डायरेक्टर कमसन महाशय से हुआ। महाराज के हृदय में गो-रक्षा का गहरा भाव था, इसलिए वार्त्तालाप में, उन्होंने लाट महोदय को कहा—''अब आप स्वदेश-यात्रा करनेवाले हैं। वहाँ जाकर आप भारत-सचिव की सभा में सम्मिलित होंगे। उस समय भारत के हित का ध्यान अवश्य रखिएगा और गो-वध बन्द कराने का यत्न कीजिएगा।''

लाट महोदय ने स्वामीजी के कथन को दत्तचित्त होकर सुना और वचन दिया कि मैं आपके कथनानुसार अवश्यमेव यत्न करूँगा।

एक दिवस हेमचन्द्रजी ने नमस्कारपूर्वक पूछा—''भगवन्! बड़े-बड़े धुरन्धर पण्डित आपके साथ शास्त्रार्थ करने आते हैं, क्या वे

सभी भूल पर हैं ?'' स्वामीजी ने हँसकर कहा—''सत्यासत्य का विवेक तो बहुत-से विद्वानों को प्राप्त है, परन्तु आजीविका के प्रलोभन में पड़कर सन्मार्ग पर आरूढ़ नहीं होते।''

फर्रुखाबाद से प्रस्थान कर स्वामीजी कासगंज और छलेसर होते हुए पौष संवत् १९३० में अलीगढ़ आये और राजा जयकृष्णजी के अतिथि बने। महाराज के आगमन का समाचार पाकर नगर-निवासी और आस-पास के गाँवों के लोग सहस्त्रों की संख्या में उपदेश-श्रवण के लिए आने लगे।

स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग का उपदेश

एक दिन का वर्णन है कि ठाकुर ऊधोसिंह छावली-निवासी, अपने पिता और ठाकुर भूपालसिंहजी के साथ, स्वामीजी के दर्शन करने के लिए अलीगढ़ में आया। उस दिन ऊधोसिंहजी के वस्त्र नये ढंग के थे और सब-के-सब विलायती कपड़े के बने थे। ऊधोसिंहजी कुछ काल छलेसर की पाठशाला में भी अध्ययन करते रहे थे, इसलिए महाराज उसे भली-भाँति जानते थे। स्वामीजी ने अति प्यार से कहा—''ऊधव! देखो तुम्हारे पिता कैसे मोटे, सादे और अपने देश के कपड़े के बने वस्त्र पहनते हैं। उनका जाति-बिरादरी में कितना अधिक सम्मान है! क्या तुम, इस विदेशी कपड़े के बने नये वेष से विभूषित होकर अपने पिता से अधिक सुसंस्कृत हो ? ऊधव! अपने ही देश की वस्तु—वेष को अपनाने में शोभा है।'' स्वामीजी का यह उपदेश ऊधोसिंहजी के हृदय में घर कर गया। उसने अपने डेरे पर जाकर वे वस्त्र उतार दिये और पुराने ढंग के स्वदेशी वस्त्र धारण कर लिये।

एक दिन ठाकुर मुकुन्दसिंहजी की प्रार्थना पर महाराज ने सामगान सुनाया। उसे सुनकर ऊधोसिंहजी आदि सभी सज्जन अत्यन्त आनन्दित हुए। सब यही कहते थे कि ऐसा मधुर स्वर और अद्भुत गान हमने पहले कभी नहीं सुना।

यज्ञ से वायु कैसे सुगन्धित होती है

सर सय्यद अहमद खाँ प्रायः नित्य स्वामीजी की सेवा में आया करते थे। एक दिन कई प्रतिष्ठित मुसलमान और अंग्रेज़ों की उपस्थिति में उन्होंने स्वामीजी से कहा—''स्वामीजी! आपकी अन्य बातें तो युक्तियुक्त प्रतीत होती हैं, परन्तु थोड़े-से हवन से वायु का सुधार हो जाता है—यह बात हमें युक्तिसंगत नहीं जान पड़ती।''

स्वामीजी ने हवन के लाभ बताकर उनसे पूछा—"सय्यदजी! आपके यहाँ कितने मनुष्यों का भोजन बनता होगा?" उन्होंने उत्तर दिया कि कोई पचास-साठ मनुष्यों का। स्वामीजी ने पुनः पूछा कि आपके यहाँ कितने सेर दाल पकती होगी? उन्होंने कहा कोई छह-सात सेर। स्वामीजी ने फिर पूछा कि इतनी दाल में कितनी हींग का छौंक दिया जाता होगा? सय्यद महाशय ने कहा कि आधी रत्ती से अधिक तो न होती होगी। तत्पश्चात् स्वामीजी ने प्रश्न किया—क्या इतनी थोड़ी-सी हींग की सुगन्ध सारी दाल को सुवासित बना देती है? सय्यदजी ने उत्तर दिया कि हाँ, अवश्य सुगन्धित बना देती है। तब स्वामीजी ने कहा कि थोड़ी-सी हींग की भाँति थोड़ा-सा किया हुआ अग्निहोत्र भी वायु को सुगन्धित कर देता है। सय्यद महाशय स्वामीजी के उत्तर से बहुत ही प्रसन्न हुए और उनकी स्तुति करते हुए घर को लौटे।

स्वामीजी के व्याख्यान में अलीगढ़ के उच्च-पदाधिकारी, राजकर्मचारी भी आया करते थे और अत्युत्साहपूर्वक उपदेश सुनते थे। महाराज के उपदेशों में दस-दस सहस्र जन उपस्थित होते थे, परन्तु महाराज के स्वर को यह शोभा प्राप्त थी कि आदि से अन्तिम मनुष्य तक, सभी को एकरस सुनाई पड़ता था। उनके शब्दों में इतनी सरलता और इतनी मधुरता थी कि सर्व-साधारण उनको सुगमता से समझ जाते थे। महाराज अपने कथन में अद्भुत रस भरते थे। जब कभी वीरता का वर्णन करने लगते तब श्रोताओं के हृदय उछलने लग जाते, भुजाएँ फड़क उठतीं और ऊष्मा के आवेश से रक्त का वेग बढ़ जाता। महाराज जब अपने उपदेश में देश की दुर्दशा के चित्र का चित्रण करते थे तब लोग करुणा-सागर में डूबने लग जाते थे। उनकी आँखों से आँसुओं की धाराएँ बहने लगती थीं। जब वे शान्तरस बरसाते थे तब सारी सभा निस्तब्ध, नीरव और शान्त होकर सुनती थी। ऐसा प्रतीत होने लगता था कि हृदय-भूमि पर कोई आनन्द की बदली मन्द-मन्द बूँदें बरसा रही है। उनके व्याख्यानों में हास्यरस भी पर्याप्त होता था। घड़ी-आध-घड़ी में कोई ऐसा वाक्य, ऐसा दृष्टान्त अथवा चुटकुला वे अवश्य कहते थे, जिसे सुनकर लोग हँसते हुए लोट-पोट हो जाते। हँसी के मारे पेट में बल पड़ने लगते थे।

महाराज के व्याख्यानों को सुनकर सभी कहा करते थे कि ऐसा भावपूर्ण व्याख्याता, प्रभाव-उत्पादक उपदेष्टा और सारदर्शक वक्ता

कदापि दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

अलीगढ़ से प्रस्थान कर हाथरस होते हुए स्वामीजी फाल्गुन शुक्ला ११ संवत् १९३० को वृन्दावन में राधा-उद्यान में सुशोभित हुए।

वृन्दावन में ब्रह्मोत्सव के अवसर पर हज़ारों लोग एकत्र होते हैं। स्वामीजी ने निर्भीकता से मूर्त्तिपूजा, तिलक-छाप आदि का खण्डन प्रारम्भ कर दिया। पौराणिक-सरोवर में भारी हलचल मच गई। लोग भागे हुए रंगाचार्य के पास पहुँचे। इधर स्वामीजी ने भी रंगाचार्य के पास एक पत्र भेजा, जिसमें उन्हें शास्त्रार्थ के लिए आमन्त्रण दिया। रंगाचार्यजी ने बनारस के शास्त्रार्थ की घटना सुन ही रक्खी होगी। जिस वीर योद्धा पर काशी के हथियार नाकाम हुए, उसपर मथुरा के निर्बल हथियार क्या प्रभाव डाल सकते थे? रंगाचार्यजी ने पहले तो कहला भेजा कि मेले के दिनों में अवकाश न होने से शास्त्रीय विचार होना कठिन है और जब मेला समाप्त हो चुका तो रोगी होने के कारण स्वामीजी के आमन्त्रण को स्वीकार न कर सके।

रंगाचार्यजी शास्त्रार्थ के मैदान में न आये, परन्तु उनके शिष्य नीचता के मैदान में उतर आये। वे कई उपायों से स्वामीजी को डराने या बेइज़्ज़त करने का यत्न करते रहे। वृन्दावन में धर्म की ध्वजा गाड़कर स्वामीजी मथुरा चले गये।

स्वामीजी महाराज के आगमन से पूर्व मथुरा की पण्डित-मण्डली शास्त्रार्थ की गप्पें तो हाँकती थी, परन्तु उनके सम्मुख आने का साहस किसी को नहीं हुआ। एक दिन कुछ मनुष्यों की उत्तेजना से चार-पाँच सौ पण्डे मोटे-मोटे लट्ठ लिये स्वामीजी के निवास-स्थान पर जा पहुँचे। स्वामीजी का स्थान भी अरक्षित नहीं था। स्वामीजी के भक्त राजपूत सदा पहरे पर समुद्यत रहते थे। गुण्डा-मण्डली स्वामीजी के स्थान को सुरक्षित देख कुछ देर गालियाँ बककर निराश लौट गई।

माँगीलाल नाम का एक मुनीम महाराज का बड़ा कट्टर द्वेषी बन गया। वह उनकी धवल कीर्ति पर लांछन लगाने के उपाय सोचने लगा। एक दिन श्रीमहाराज लक्ष्मीदास सेठ के मकान पर व्याख्यान दे रहे थे। उस समय एक कसाई और एक शराबवाले ने पुकारकर कहा—"स्वामीजी! आपकी ओर बहुत दिनों का लेखा हो गया है,

दाम देकर चुका क्यों नहीं देते हो ?'' उनके इस कथन को सुनकर लोगों की आँखों में लहू उतर आया, परन्तु स्वामीजी ने उनको शान्त कर दिया। जब व्याख्यान समाप्त हो चुका तब महाराज ने दोनों मनुष्यों को अपने पास बुलाकर कहा—''सच कहो, ऐसा कहने के लिए तुम्हें किसने कहा ?'' उन्होंने हाथ जोड़कर कहा—''महाराज, हमें माँगीलाल मुनीम ने कहा था कि सभा में जाकर तुम यह वाक्य कह देना, पीछे मैं तुम्हें पुरस्कार दूँगा। यदि हमें यह पता होता कि आप बुरा मानेंगे तो हम ये शब्द कदापि न कहते।'' महाराज ने उन मनुष्यों को मुक्त कर दिया, परन्तु मुनीम की निन्दा स्थान-स्थान पर होने लगी।

कुछ दुष्टजनों ने, एक दुराचारिणी स्त्री को भी समझा-बुझाकर एक दिन व्याख्यान-स्थान पर भेज दिया। मार्ग में तो वह बहुत-कुछ बड़-बड़ाती रही, परन्तु सभा में आकर, जब उसने महाराज के परम पुनीत, प्रशान्त और तेजस्वी मुख-मण्डल को देखा, तब उसके मन की सारी मलिनता एकाएक दब गई। उसके हृदय में मुनिराज के लिए श्रद्धा और भक्तिभाव उत्पन्न हो आया—'मैंने मन में इस महात्मा को कलंकित करने की कल्पना की है, यह मुझसे घोरतम पातक हुआ' यह सोच-सोचकर वह अत्यन्त व्याकुल और व्यथित हुई। महाराज के निकट जाकर गिड़गिड़ाती हुई, भूमि पर सिर रखकर क्षमा माँगने लगी। उसने अधम मनुष्यों के द्वारा बहकाकर भेजने की वार्ता सुनाते समय रो-रोकर अपना अञ्चल भी भिगो लिया। श्रीस्वामीजी ने उसे ढाढस बँधाया और कहा—''देवि! जाओ, ईश्वर करे कि तुम्हारी इस समय की सुमति सदा स्थिर बनी रहे।''

मथुरा से प्रस्थान कर स्वामीजी काशी और मिर्जापुर आदि स्थानों में पर्यटन करते हुए प्रयाग में अलोपी देवी के उद्यान में आ विराजे। स्वामीजी के आगमन का समाचार पाकर सहस्त्रों गृहस्थ और सैकड़ों विद्यार्थी उनके पास आने लगे। कॉलेज के प्राध्यापक भी आते थे। यहाँ स्वामीजी ने मैक्समूलर के वेदभाष्य को भ्रममूलक सिद्ध किया और ईसाईमत की भी तीव्र आलोचना की।

एक दिन पण्डित काशीनाथ शास्त्री ने स्वामीजी से अवज्ञापूर्वक कहा—''आपने किस प्रयोजन के लिए देश-भर में कोलाहल मचा रक्खा है ?'' महाराज शान्तिपूर्वक बोले ''पन्थाई पण्डितों ने लोगों को धोखे के जाल में फँसा रखा है। जड़-पूजन से मनुष्यों की बुद्धि

में जड़ता आ गई है। देशवासियों में सत्यासत्य के जानने का विवेक अति मन्द हो गया हैं। इन सबके सुधार के लिए ही मैं कोलाहल कर रहा हूँ।'' स्वामीजी के उत्तर को सुनकर काशीनाथ शान्त हो गया।

योगिराज दयानन्द

पण्डित ठाकुरप्रसाद के हृदय में स्वामीजी की योग-मुद्रा देखने की उत्कट अभिलाषा थी। स्वामीजी के सेवकों से पूछकर वे उस कुटिया के द्वार पर जा खड़े हुए जिसके भीतर स्वामीजी ध्यानावस्थित थे। ठाकुरप्रसादजी बहुत देर तक महाराज के दर्शन करते रहे। उन्होंने देखा कि महाराज का आसन धीरे-धीरे भूमि से उठकर अधर में स्थित हो गया। उस समय उनके मुखमण्डल की छवि अद्भुत थी, उसपर एक प्रकाशमय चक्र बना हुआ था।

एक दिन पण्डित सुन्दरलालजी अपने मित्रोंसहित स्वामीजी के दर्शनार्थ आये। उस समय स्वामीजी ध्यानावस्थित थे, अत: वे सब चुपचाप बैठे रहे। कोई आध घण्टे पश्चात् स्वामीजी हँसते हुए बाहर आये। पण्डितजी ने पूछा—''आप किस बात पर हँस रहे हैं?'' स्वामीजी ने कहा—''एक मनुष्य मेरी ओर चला आ रहा है। कुछ देर ठहर जाइए, उसके आने पर आपको एक कौतुक दिखाई देगा।''

इस बात के आध घड़ी पश्चात् एक ब्राह्मण मिष्टान्न लिये आ पहुँचा। उसने 'स्वामीजी! नमो नारायण' कहकर मिठाई भेंट की और कहा—''इसमें से कुछ भोग लगाइए।'' स्वामीजी ने उसे कहा—''लो, थोड़ी-सी मिठाई तुम भी खाओ।'' परन्तु उसने न ली। तब महाराज ने उसे डाँटकर कहा—''लेते क्यों नहीं हो?'' वह काँप तो गया, परन्तु मिष्ठान्न लेने से झिझकता ही रहा। उस समय स्वामीजी ने कहा—''यह मनुष्य हमारे लिए विष-मिश्रित मिष्टान्न लाया है।'' पण्डित सुन्दरलालजी उसके लिए पुलिस बुलवाने लगे, परन्तु महाराज ने कहा—''देखो! यह अपने पाप के कारण कितना काँप रहा है! इसे पर्याप्त दण्ड मिल गया है, अत: पुलिस न बुलवाएँ।'' महाराज ने उस ब्राह्मण को शिक्षा दी और छोड़ दिया।

स्वामीजी नियत कार्यों को करके ही विश्राम लिया करते थे। वे नियत कार्य के समय शारीरिक सुख-दु:ख पर कुछ भी ध्यान नहीं देते थे। एक दिन स्वामीजी के व्याख्यान की घोषणा हो चुकी थी, परन्तु उस दिन उन्हें प्रबल ज्वर आ गया। प्रेमीजनों ने बहुतेरा कहा कि आज व्याख्यान न दीजिए, परन्तु महाराज ये शब्द कहते हुए

व्याख्यान-स्थल की ओर चल पड़े कि ज्वर अपना काम करता है और मैं अपना काम किये चला जाऊँगा।

महाराज कर्म-धर्म को अति प्रधानता देते थे। परहितार्थ क्रियात्मक जीवन को ही सर्वोत्तम जीवन मानते थे। प्रयाग में गङ्गा-तट पर एक महात्मा रहते थे। वे वयोवृद्ध थे। जब कभी स्वामीजी उन्हें मिलते तो वे उन्हें बच्चा कहकर सम्बोधित करते थे। एक दिन जब उस वृद्ध सन्त ने स्वामीजी से कहा—"बच्चा! यदि आप पहले से ही निवृत्ति-मार्ग पर स्थिर रहते, परोपकार के झगड़े में न पड़ते तो आपकी इसी जन्म में मुक्ति हो जाती। अब तो आपको एक और जन्म-धारण करना पड़ेगा।"

स्वामीजी ने कहा—"महात्मन्! अब मुझे अपनी मुक्ति का कुछ भी ध्यान नहीं है। जिन लाखों मनुष्यों की मुक्ति की चिन्ता मेरे चित्त को चलायमान कर रही है, उनकी मुक्ति हो जाए, मुझे भले ही कई जन्म क्यों न धारण करने पड़ें। दु:खों के त्रास से, दीन-दशा से और दुर्बल अवस्था से परम पिता के पुत्रों को मुक्ति दिलाते, मैं आप-ही-आप मुक्त हो जाऊँगा।"

जिस समय महाराज प्रयाग में अमृत-वर्षा कर रहे थे, उस समय उनके पास लगातार मुम्बई-वासियों के निमन्त्रण आ रहे थे। वहाँ के भक्तजन उनके दर्शनों के लिए उत्कण्ठित और उपदेश-श्रवण के लिए उत्सुक हो रहे थे। उनकी प्रार्थना को स्वीकार कर महाराज आश्विन शुक्ल १२ संवत् १९३१ को मुम्बई पहुँचे। जिस समय महाराज स्टेशन पर पहुँचे उस समय अनेक भद्र पुरुष उनके स्वागत के लिए उपस्थित थे। उन्होंने आदरपूर्वक स्वामीजी को प्रतिग्रहण कर बालकेश्वर में उनके निवास की व्यवस्था की।

अगले दिन से महाराज के व्याख्यान होने लगे। सहस्रों मनुष्य सत्संग में आने लगे। मुम्बई में वल्लभ-सम्प्रदाय का विशेष जोर था। स्वामीजी ने उसी का खण्डन करना आरम्भ कर दिया। स्वामीजी के प्रबल खण्डन से मतवादियों में हलचल पैदा हो गई।

गोकुलिये गोसाइयों में जीवनजी गोसाईं बहुत चलतापुर्जा था। उसने स्वामीजी के सेवक बलदेवसिंह को गुप्तरूप से बुलाकर कहा—"यदि तुम विषादि देकर दयानन्द को समाप्त कर दो तो हम तुम्हें एक सहस्र रुपया देंगे।" उस समय उसे पाँच रुपये, पाँच सेर मिठाई दी और एक सहस्र रुपये देने का पत्र भी लिख दिया।

जैसे ही बलदेवसिंह लौटकर डेरे पर आया तो मानस चक्षुओं से दूसरों के गुप्त भावों को पढ़ लेनेवाले दयानन्दजी ने पूछा—"क्या तुम गोकुलियों के यहाँ गये थे?" बताओ क्या ठहरा? सेवक ने सब-कुछ सच-सच बता दिया। तब स्वामीजी ने कहा—"देखो! मुझे कई बार विष दिया गया है, परन्तु मैं मरा नहीं। अब भी नहीं मरूँगा।" सेवक ने महाराज के चरण पकड़कर क्षमा माँगी और प्रण किया कि भविष्य में कभी गोसाइयों के पास नहीं जाऊँगा।

कुछ लोग स्वामीजी का पीछा करने लगे ताकि अवसर पाकर काँटे को उखाड़ दें, परन्तु सफलता प्राप्त नहीं हुई। स्वामीजी निर्भय थे, परन्तु असावधान नहीं थे। बहुत-सी आपत्तियाँ तो उनकी सावधानता से ही दूर हो जाती थीं।

सावधानता स्वामीजी का विशेष गुण था। अपने डेरे की छोटी-सी-छोटी बात पर स्वामीजी की दृष्टि रहती थी। बम्बई के एक सेठ ने दुकान पर कह छोड़ा था कि 'स्वामीजी के नौकर खाने-पीने का जो सामान लेने आएँ वह दे दिया जाए और बिल मेरे पास भेज दिया जाए।' एक बार जाँच करने पर स्वामीजी को पता चला कि आवश्यकता से सात गुणा अधिक सामान डेरे पर आया है; नौकर लोग अधिक सामान लेकर उसे बेचकर अपनी मुट्ठी गर्म कर रहे थे। स्वामीजी ने दो अपराधी नौकरों को तुरन्त सेवा से पृथक् कर दिया।

मूर्त्तिपूजा-खण्डन पर व्याख्यान

मुम्बई में स्वामीजी का मूर्त्तिपूजा-खण्डन पर एक प्रबल व्याख्यान हुआ। उसमें उन्होंने बतलाया—"मूर्त्ति जड़ है, इसे ईश्वर मानोगे तो ईश्वर भी जड़ सिद्ध होगा। अथवा ईश्वर के समान एक और ईश्वर मानो तो परमात्मा का परमात्मापन नहीं रहता। यदि यह कहो कि प्रतिमा में ईश्वरांश आ जाता है तो ठीक नहीं। इससे ईश्वर अखण्ड सिद्ध नहीं हो सकता। भावना में भगवान् है, यह कहो तो मैं कहता हूँ कि काष्ठ-खण्ड में इक्षुदण्ड की और लोष्ठ में मिश्री की भावना करने से क्या मुख मीठा हो सकता है? मृगतृष्णा में मृग जल की बहुतेरी भावना करता है, परन्तु उसकी प्यास नहीं बुझती। विश्वास, भावना और कल्पना के साथ सत्य का होना भी अत्यावश्यक है।" मूर्त्तिपूजन से जो हानियाँ हो रही हैं, महाराज ने उनका भी मर्मस्पर्शी शब्दों में वर्णन किया। उस दिन भीड़ का कोई ठिकाना न था। लोग अति प्रभावित हो रहे थे।

लेखन-कार्य

बम्बई में महाराज ने मौखिक उपदेशों के अतिरिक्त लिखने का भी बहुत कार्य किया। 'सत्यार्थप्रकाश' तो वहाँ जाने के दो मास पूर्व ही लिखवाकर राजा जयकृष्णदासजी को छपवाने के लिए दे गये थे, परन्तु यहाँ उन्होंने वल्लभाचार्यमत-खण्डन, स्वामी नारायणमत-खण्डन और वेदान्त-ध्वान्त-निवारण—ये पुस्तकें मुद्रित कराकर प्रकाशित कीं। संस्कारविधि भी उस समय लिखी जा रही थी।

आर्यसमाज का अंकुर

महाराज के व्याख्यानों को सुनकर अनेक व्यक्ति उनके अनुयायी बन गये। 'स्वामीजी के विचारों का प्रचार करने और उन्हें स्थिर रखने के लिए कोई संस्था स्थापित करनी चाहिए', ऐसा निश्चय कर मार्गशीर्ष संवत् १९३१ में बहुत-से सज्जन महाराज के पास आये और बोले—"हम आपके उपदेशों से लाभ उठाने के लिए किसी संस्था की स्थापना करना चाहते हैं। कृपया आज अपने श्रीमुख से उसका नामकरण कर दीजिए।" प्रेमियों के उत्साह-भरे वचन सुन स्वामीजी आँखें बन्द कर कुछ देर के लिए ध्यानमग्न हो गये; नेत्रोन्मीलन करने पर वे बोले—"इस संस्था का नाम 'आर्यसमाज' रखना उचित है।" भक्तों ने 'अत्युत्तम' कहकर महाराज के वचनों का अनुमोदन किया। उसी समय पच्चीस सत्सगिंयों के नाम लिखे गये, परन्तु कई कारणों से उस समय आर्यसमाज की स्थापना न हो सकी।

ईंट-पत्थर मेरे लिए पुष्प-वर्षा हैं

बम्बई से प्रस्थान कर स्वामीजी सूरत पधारे। यहाँ उन्हें सौदागर प्रेस के प्रबन्धकर्त्ता की कोठी में ठहराया गया। यहाँ स्वामीजी ने अपने व्याख्यानों में स्वामी नारायणमत, रामानुजमत और बल्लभमत की तीव्र आलोचना की।

स्वामीजी का पाँचवाँ भाषण कवि नर्मदाशंकरजी के प्रबन्ध से उनके मकान के सामने हुआ। इच्छाशंकर नामक एक पण्डित व्याख्यान ही में खड़ा हो गया और प्रतिमा-पूजन के पौराणिक प्रमाण बोलने लगा। महाराज ने उसे दो-एक बार ही उत्तर दिया था कि वह लड़खड़ा गया और लगा थरथर काँपने। उस समय साम्प्रदायिक लोग कोलाहाल करते, ईंट-पत्थर और धूल फेंकते थे। सहायकों ने स्वामीजी को व्याख्यान बन्द कर देने की विनय की, परन्तु महाराज ने कहा—"अपने भाइयों के फेंके हुए ये ईंट-पत्थर मेरे लिए पुष्प-

वर्षा हैं। व्याख्यान तो मैं समय पर ही समाप्त करूँगा।'' और उन्होंने ऐसा ही किया।

युवकों को उपदेश

एक दिन स्वामीजी भ्रमण करने जा रहे थे। स्कूलों के अनेक युवक उनके साथ हो लिये। स्वामीजी ने बालकों को ब्रह्मचर्य की शिक्षा दी। दूध, दही आदि पौष्टिक भोजन करना बताया। मादक वस्तुओं के सेवन में दोष दिखाये और व्यायाम की शिक्षा देते हुए कहा—''व्यायाम खान-पान की भाँति नित्य करना चाहिए। बलवान् युवक सुखी और सुप्रसन्न रहते हैं। निर्बल मनुष्य का जीवन साररहित, रोगों का घर और नरकधाम बना रहता है।'' महाराज की सरलता, कोमलता और सु-व्यवहार का नवयुवकों पर बहुत ही अच्छा प्रभाव पड़ा।

सूरत से प्रस्थान कर महाराज भड़ौंच में नर्मदा के किनारे भृगु-आश्रम में सुशोभित हुए। प्रतिदिन सायंकाल उनके व्याख्यान होने लगे और सहस्त्रों मनुष्य उनके व्याख्यान श्रवण करने के लिए आने लगे।

कोप किस पर

एक दिन माधवराव त्र्यम्बक दल-बलसहित सभा-स्थल पर आया और मूर्त्तिपूजा पर शास्त्रार्थ करने के लिए उद्यत हुआ। दो-चार मिनट में ही उसकी विद्या की पोल खुल गई और वह अंगुली से तर्जना करते हुए महाराज को गाली देने पर उतर आया। यह देख बलदेव की आँखें लाल हो गईं। उसने कड़ककर कहा—''शीघ्र यहाँ से भाग जा, नहीं तो अभी तेरी कपालक्रिया किये देता हूँ। यदि अब तूने महाराज की ओर अंगुली उठाई तो तेरी हड्डी-पसली एक कर दूँगा।'' बलदेव के कोपानल को देखकर त्र्यम्बक के तोते उड़ गये। वह थर-थर काँपने लगा। उस समय महाराज ने कहा—''बलदेव! कोप किसपर? ये तो हमारे भाई हैं। इन्हीं की कल्याण-कामना करते हम रात-दिन बिताते हैं। बलदेव! शान्त हो जाओ।'' गुरुदेव के वचन सुनकर बलदेव शान्त हो गया। माधव ने भी सोचा कि सहज ही पिण्ड छूट गया और तुरन्त वहाँ से भाग गया।

मर्यादा-पालन आवश्यक

भोजन के अनन्तर स्वामीजी अपने कर्मचारियों को भी कुछ काल के लिए विश्राम करने की आज्ञा दे देते थे। एक दिन एक

विद्यार्थी स्वामीजी की ओर पाँव करके सो गया। जब सारे कर्मचारी जाग उठे तब महाराज ने उन्हें अपने पास बुलाकर उपदेश दिया कि प्रत्येक आर्य को वैदिक मर्यादा का पालन करना चाहिए। बिना बुलाये बोलना, बड़ों की बातों में आप-ही-आप बोलने लग जाना वैदिक मर्यादा के विरुद्ध है। अपने माननीय व्यक्तियों की ओर पीठ करना और पाँव करके सोना भी आर्य-मर्यादा के प्रतिकूल है। स्वामीजी के उपदेश को सुनकर अपराधी विद्यार्थी ने उनके चरण पकड़ लिये और आगे के लिए मर्यादा-पालन का प्रण किया।

यदि बड़े छोटों की सेवा न करेंगे तो.....

एक दिन पण्डित कृष्णराम इच्छाराम को ज्वर आ गया। ज्वर-पीड़ित वे एक कोठरी में जाकर पड़ गये। जब स्वामीजी को पता लगा तब वे उनके पास जाकर उनका सिर दबाने लगे। पण्डितजी ने कहा—"भगवन्! आप ऐसा न कीजिए। मैं आपसे ऐसा कराना नहीं चाहता।" महाराज ने कहा—"इसमें कोई दोष नहीं है। एक-दूसरे की सहायता और सेवा करना तो मनुष्य का धर्म ही है। बड़े यदि छोटों की सेवा न करें तो छोटों में सेवा का भाव आ ही नहीं सकता।"

९

आर्यसमाज की स्थापना

मुम्बई में पुनः आगमन

भड़ौंच से प्रस्थान कर महाराज अहमदाबाद, राजकोट, बलसाड़ और बसई आदि स्थानों में वैदिक धर्म की दुन्दुभि बजाते हुए और धर्मोपदेश के द्वारा लोगों में आस्तिकता, धर्म की भावना, वेद के प्रति अनुराग और श्रद्धा के बीज वपन करते हुए पुनः मुम्बई पधारे। भक्तजनों ने उन्हें समारोहपूर्वक लाकर बालकेश्वर पर लालजी दलाल के बँगले में ठहराया।

'आर्यसमाज' का नामकरण तो हो चुका था। इस बार महर्षि ने लोगों को फिर उत्तेजित किया, जिससे सबने मिलकर सर्वसम्मति से राजमान्य राजेश्वर पानाचन्द्र आनन्दजी पारिख को नियमोपनियम निर्माण करने का अधिकार सौंपा। पारिख महाशय ने थोड़े ही दिनों में नियमों का निर्माण कर, उन्हें सबके सामने उपस्थित कर दिया। स्वामीजी ने उनका हार्दिक अनुमोदन किया। नियम निर्मित हो जाने पर वैक्रमाब्द १९३२, चैत्र शुक्ला पञ्चमी शनिवार तदनुसार १० अप्रैल १८७५ को सायंकाल साढ़े पाँच बजे बम्बई नगर के गिरगाँव मुहल्ले में डॉक्टर माणिकचन्द्र की वाटिका में आर्यसमाज की स्थापना हुई।* इस समाज के प्रथम सभापति श्री गिरधारीलाल दयालदास कोठारी हुए और श्रीसेवक कृष्णदासजी को मन्त्री चुना गया। उस समय सदस्य-संख्या लगभग एक सौ थी। स्वामीजी ने लोगों के आग्रह करने पर भी कोई पद स्वीकार नहीं किया। वे केवल साधारण सदस्य ही रहे। उस समय आर्यसमाज के अट्ठाईस नियम बनाये गये थे। बाद में जब लाहौर में आर्यसमाज की स्थापना हुई उस समय

---

* पं० लेखरामजी, देवेन्द्रनाथजी और सत्यानन्दजी सभी ने यही तिथि स्वीकार की है। महर्षि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन से भी यही तिथि समीचीन सिद्ध होती है। महर्षि के निम्न शब्द पठनीय हैं—"आगे मुम्बई में चैत्र शुद्ध ५ शनिवार के दिन सन्ध्या के साढ़े पाँच बजते आर्यसमाज का आनन्दपूर्वक आरम्भ हुआ।"

—ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ २१।

केवल दस नियम रक्खे गये।

मुम्बई में आर्यसमाज स्थापित करके महाराज अहमदाबाद चले गये और वहाँ से लौटते हुए बड़ौदा में ठहरे। स्वामीजी का पहला व्याख्यान 'वेदाधिकार' पर हुआ। इस व्याख्यान में गुजराती और दक्षिणी पण्डित भी उपस्थित थे। प्रसंगवश जैसे ही महाराज ने एक वेद-मन्त्र का उच्चारण किया वैसे ही दक्षिणी पण्डित 'शिव! शिव' कहते हुए वहाँ से उठ खड़े हुए। कारण पूछने पर उन्होंने बताया कि इस सभा में मुसलमान बैठे हैं और कुछ शूद्र भी इधर-उधर खड़े हुए सुन रहे हैं। ऐसे अनधिकारियों के समक्ष श्रुति का उच्चारण करके स्वामीजी ने अनर्थ ढाया है।

स्वामीजी के आगमन से पूर्व ही पण्डित लोग शास्त्रार्थ करने के लिए सुसज्जित थे, अतः व्याख्यान समाप्त होते ही शास्त्रार्थ-समर का आरम्भ हो गया। अनेक शास्त्री एक-एक करके उस वाद-युद्ध में उतरते और मुँह की खाते रहे। कोई दो घण्टे में ही सारा शास्त्री-समूह शान्त हो गया। उस समय सारी सभा साधुवाद के नाद से बार-बार निनादित होने लगी।

रीछ सबसे बड़ा त्यागी है

एक दिन स्वामीजी बैठे हुए क्षौर करा रहे थे। उसी समय एक शास्त्री वहाँ आ गया और कहने लगा—"संन्यासियों का धर्म तो त्याग है। आप इस देह-विभूषा में क्यों लगे हुए हैं?" स्वामीजी ने हँसकर कहा—"यदि बाल बढ़ाने में ही त्याग है, तब तो रीछ सबसे बड़ा त्यागी सिद्ध होगा! ऐसी बातों में त्याग और वैराग्य नहीं है। देह की रक्षा के लिए उसे संवारना, सुधारना धर्मानुकूल है। जैसे प्रमादी पुरुष पुष्ट शरीर से अधिक पापाचरण करते हैं ऐसे ही परोपकारी जन परिपुष्ट और बलिष्ठ काया से अधिक धर्म-कर्म करते हैं।"

पूना में

श्रीयुत महादेव गोविन्द रानाडे पूना में जज थे। उन्होंने स्वामीजी से पूना पधारने के लिए आग्रहपूर्वक विनती की। उनकी प्रार्थना स्वीकार कर महाराज ने आषाढ़ बदी १३ सं० १९३२ को पूना में पदार्पण किया। पूना नगर और कैम्प में स्वामीजी के ५४ व्याख्यान हुए। इनमें से पन्द्रह व्याख्यान जो नगर में हुए थे, वे लिपि-बद्ध किये गये थे और 'उपदेश-मञ्जरी' के नाम से आज भी उपलब्ध हैं। इन व्याख्यानों से सर्वत्र स्वामीजी के पाण्डित्य की धूम मच गई।

दयानन्द नाम सार्थक हुआ

विदाई के समय स्वामीजी के सम्मान में एक शोभा-यात्रा का प्रबन्ध किया गया। सायंकाल जब अन्तिम व्याख्यान समाप्त हुआ, तब स्वामीजी को भाव-भरी विदाई दी गई। श्रोतृवर्ग ने उनपर पुष्प-वर्षा की। महाराज के बैठने के लिए एक हाथी सजाया गया, परन्तु महाराज ने उसपर बैठना स्वीकार नहीं किया। अन्य मनुष्यों के साथ वे पैदल ही चले। शोभा-यात्रा-क्रम—सबसे आगे हाथी, फिर कोतल घोड़े, पुलिसदल, अंग्रेज़ी बैण्ड, महाराज तथा उनके भक्तजन और अन्त में अन्य लोग। आरम्भ में मनुष्यों की संख्या ३००-४०० थी, परन्तु नगर तक पहुँचते-पहुँचते उनकी संख्या तीन-चार सहस्र हो गई।

स्वामीजी के इस सम्मान से विपक्षियों के कलेजों पर बर्छियाँ चल गईं। उन्होंने विरोध-प्रदर्शन में गर्दभ-यात्रा निकालने का प्रबन्ध किया। एक गर्दभ के ऊपर गौरिक वस्त्र डालकर और उसपर 'गर्दभानन्द सरस्वती' लिख, उसके आगे बाजे बजाते हुए तथा 'गर्दभानन्द की जय, दयानन्द की जय' के नारे लगाते हुए उसे बाजारों में घुमाने लगे। मार्ग में दोनों समुदायों की भेंट हो गई। विरोधियों ने 'स्वामी गदहे की जय,.....गधे की जय' के नारे लगाये। इस ओर से उस दुष्टता पर आक्षेप किया गया और गधे को पकड़वाकर पुलिस के हवाले कर दिया गया। गर्दभ को पुलिस को सौंपने पर गर्दभ-दलवालों ने मशालें बुझा दीं और स्वामीजी तथा उनके पक्षवालों पर ईंट, पत्थर, गोबर और कीचड़ फेंकना आरम्भ किया। जो पुलिस शोभा-यात्रा के साथ थी, उसने उपद्रव को शान्त करने का कोई प्रयत्न नहीं किया। किसी के सूचना देने पर पुलिस सुपरिटेण्डेण्ट ने सौ सिपाहियोंसहित घटनास्थल पर पहुँचकर उपद्रव को शान्त किया। इस संघर्ष में शोभा-यात्रा व्याख्यान-स्थल 'भिड़ के बाड़े' पर आ चुकी थी।

शान्ति स्थापित होने पर स्वामीजी ने अपना व्याख्यान दिया, परन्तु इसमें उन्होंने इस उपद्रव का उल्लेख तक नहीं किया। उनके चित्त की शान्ति एक क्षण के लिए भी भंग नहीं हुई। वे सदा की भाँति प्रफुल्लवदन थे। उनके मुखमण्डल पर चिन्ता का चिह्न तक न था। व्याख्यान की समाप्ति पर श्रीयुत रघुनाथ शास्त्री ने कहा—"प्रभो! आज आपने अपना 'दयानन्द' नाम सार्थक कर दिया है।"

स्वामीजी के वेदभाष्य के लिए २५० रुपये भेंट किये गये। तत्पश्चात् सभास्थ पुरुषों ने स्वामीजी पर पुष्प-वर्षा की और सभा समाप्त हुई।

'चन्द्र' कवि के शब्दों में घटना का वर्णन

गर्दभ-यात्रा में जब स्वामीजी के एक भक्त ने देखा कि एक आदमी का मुँह काला करके उसे गधे पर चढ़ाकर लोग उसके पीछे तालियाँ बजाते हुए और जयघोष करते हुए चल रहे हैं तब उसे बड़ी वेदना हुई। उसने दयानन्दजी के पास आकर चन्द्र कवि के शब्द में कहा—

चढ़ाकर इक गधे पर आदमी मुँह कर दिया काला।
दयानन्द नाम लें भगवन् यह अत्याचार करते हैं॥

'चन्द्र' कवि के शब्दों में ही स्वामीजी महाराज ने उत्तर दिया—

***मुनव्वर 'चाँद'-सा मुखड़ा तो है असली दयानन्द का।**
वे मस्नूई[+] दयानन्दों की मिट्टी ख्वार[×] करते हैं॥

प्रो० मोनियर विलियम्स से सम्भाषण

पूना से स्वामीजी सतारा और फिर मुम्बई चले गये। ५ मार्च सन् १८७६ को स्वामीजी का 'वेदों की श्रेष्ठता और पवित्रता' पर एक विशेष भाषण हुआ। इस व्याख्यान में अनेक सुशिक्षित और प्रतिष्ठित व्यक्तियों के अतिरिक्त संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् प्रो० मोनियर विलियम्स भी उपस्थित थे। व्याख्यान के पश्चात् प्रोफेसर महोदय ने स्वामीजी से बहुत देर तक संस्कृत में सम्भाषण किया। विदा होते समय उन्होंने न केवल सन्तोष ही व्यक्त किया प्रत्युत स्वामीजी की विविध विद्या और स्वामीजी की व्याख्यान-शैली की भी बहुत प्रशंसा की।

फर्रुखाबाद में

चिरकाल तक मुम्बई प्रान्त के निवासियों को उपदेशामृत पिलाकर स्वामीजी ज्येष्ठ कृष्ण १ संवत् १९३३ (९ मई, सन् १८७६) को पाँचवीं बार फर्रुखाबाद में पधारे और लाला जगन्नाथ के विश्रान्त-घाट पर उतरे। इस बार चार व्याख्यान हुए। पाठशालाओं का निरीक्षण किया। उन्होंने देखा कि अध्यापक और विद्यार्थी दोनों ही प्रच्छन्नरूप से विरुद्ध चलते हैं, अतः उन्होंने पाठशाला तोड़ दी।

---

* उज्ज्वल, + कृत्रिम, × अपमानित।

उड़ा दो

यहाँ पादरी जे० जे० लूकस ने भी स्वामीजी से धर्म-चर्चा की थी। उन्होंने बाबू देवेन्द्रनाथ को लिखा था—"वे मूर्त्तिपूजा के विरुद्ध इतने बल और इतने विश्वास के साथ बोलते थे कि मुझे फर्रुखाबाद की जनता की ओर से उनका हार्दिक स्वागत किये जाने पर आश्चर्य हुआ।" मुझे उनका यह कथन स्मरण है कि जब मैंने उनसे पूछा—'यदि आपको तोप के मुँह पर रखकर आपसे कहा जाए कि यदि तुम मूर्त्ति को मस्तक नहीं झुकाओगे तो तुम्हें तोप से उड़ा दिया जाएगा, उस समय आप क्या कहेंगे?' स्वामीजी ने उत्तर दिया था कि मैं कहूँगा—'उड़ा दो।'

फर्रुखाबाद से प्रस्थान कर स्वामीजी काशी, जौनपुर, अयोध्या, लखनऊ, शाहजहाँपुर और बरेली में वैदिक-धर्म की दुन्दुभि बजाते हुए, लोगों की भ्रान्तियों को दूर करते और ज्ञानगङ्गा बहाते हुए मुरादाबाद पधारे और राजा जयकिशनदास की कोठी में आसन जमाया।

पादरी से शास्त्रार्थ

इस बार की सबसे अधिक उल्लेखनीय घटना स्वामीजी और पादरी डब्ल्यू पार्कर का शास्त्रार्थ है। यह शास्त्रार्थ पन्द्रह दिन तक चला और प्रतिदिन २-३ घण्टे हुआ करता था। स्वामीजी ने शास्त्रार्थ में पादरी महोदय को निरुत्तर कर दिया। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि किसी मनुष्य के द्वारा ईश्वर और मुक्ति की प्राप्ति मानना मूर्त्तिपूजा से भी बुरा है। एक दिन शास्त्रार्थ का विषय सृष्टि-उत्पत्ति था। जब पादरी महोदय ने यह पक्ष लिया कि सृष्टि को उत्पन्न हुए पाँच सहस्र वर्ष हुए हैं, तब स्वामीजी एक बिल्लौर-पत्थर उठा लाये और पूछा कि आप लोग साइंस जानते हैं, यह पत्थर इस रूप में कितने वर्षों में आया होगा? तब उत्तर मिला कई लाख वर्षों में। इसपर पादरी महोदय ने कहा कि मेरा अभिप्राय यह है कि मनुष्य-सृष्टि को पाँच सहस्र वर्ष हुए हैं, परन्तु स्वामीजी ने इसपर भी आक्षेप किया कि सृष्टि की उत्पत्ति का प्रश्न है, जिसमें मनुष्य भी आ गया। इसपर पादरी महोदय निरुत्तर हो गये।

योगसाधन का उपदेश

महाशय बक्षीराम के आग्रहपूर्वक योग के साधन पूछने पर महाराज ने उन्हें यह अभ्यास बताया था—

ओम् भूः। ओम् भुवः। ओम् स्वः। ओम् महः। ओम् जनः। ओम् तपः। ओम् सत्यम्॥ तत्सवितुर्वरेण्यं, भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्। ओं आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम्॥

महाशय बक्षीरामजी ने महाराज के आदेशानुसार इस पाठ का आराधन किया और उन्हें बड़ी शान्ति प्राप्त हुई।

मुरादाबाद नगर में धर्म-प्रचार और आर्यसमाज की स्थापना के पश्चात् स्वामीजी कर्णवास आदि स्थानों में विचरते हुए दिल्ली जाने का उद्योग करने लगे।

दिल्ली दरबार

एक जनवरी सन् १८७७ के दिन उस समय के भारत के गवर्नर जनरल लॉर्ड लिटन ने दिल्ली में एक दरबार की आयोजना की थी। इस दरबार में भारत के सब राजा-महाराजा, सभी प्रान्तों के गवर्नर, लैफ्टिनैंट गवर्नर तथा देश के सभी प्रतिष्ठित पुरुषों को आना था। इस दरबार में महारानी विक्टोरिया को भारत की राजराजेश्वरी घोषित किया जाना था।

दयानन्द सरस्वती ने वैदिक धर्म के प्रचार का वह अच्छा अवसर समझा, अतः दिल्ली के लिए प्रस्थान का निश्चय किया। स्वामीजी के भक्त ठाकुर मुकुन्दसिंह ने अलीगढ़ से तम्बू-खेमे भिजवाकर कुतुबरोड स्थित शेरमल के अनारबाग में स्वामीजी महाराज के डेरे का प्रबन्ध किया। स्वामीजी के साथ ठाकुर मुकुन्दसिंह के अतिरिक्त कर्णवास के धनपति ठाकुर गोपालसिंह, ठाकुर भूपालसिंह तथा ठाकुर किशनसिंह आदि भी दिल्ली पधारे।

उनके निवास द्वार पर "स्वामी दयानन्द सरस्वती का निवास-स्थान" का बोर्ड लगाया गया। स्वामीजी के साथ पं० भीमसेन तथा मुरादाबाद के पं० इन्द्रमणि भी थे।

दयानन्द सरस्वती ने सबको एकत्र होकर सत्यासत्य का निर्णय कर एक सार्वभौम धर्म स्थापित करने के निमित्त विज्ञापन द्वारा आवाहन किया। यह विज्ञापन सभी मतों के विद्वान् नेताओं और राजा-महाराजाओं में प्रचारित किया गया।

राजा-महाराजा तथा धनपति तो इस अवसर पर धर्म-चर्चा करने की स्थिति में नहीं थे। उनका ध्यान लॉर्ड लिटन की आराधना करने की ओर था। वही उनके लिए आज देवाधिदेव महादेव थे।

डुमराँव के राजा तथा इन्दौर के महाराज स्वामीजी के दर्शनार्थ अवश्य आये।

विज्ञापन वितरण होने पर स्वामीजी के आगमन की धूम दिल्ली में सर्वत्र फैल गई। सहस्त्रों मनुष्य सत्संग में आने लगे। पण्डितजन भी उनके डेरे पर आकर शास्त्र-चर्चा और विचार-विनिमय करते रहे।

स्वामीजी के प्रयत्न करने पर एक दिन उनके निवास-स्थान पर भारत के प्रसिद्ध समाज-सुधारकों का सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में पंजाब के मुंशी कन्हैयालाल अलखधारी, बंगाल के बाबू नवीनचन्द्र राय तथा केशवचन्द्र सेन, मुसलमानों के प्रतिनिधि सर सय्यद अहमदखाँ, मुम्बई के बाबू हरिश्चन्द्र चिन्तामणि और उत्तर प्रदेश के पण्डित इन्द्रमणि सम्मिलित हुए। सभी महानुभावों में बहुत समय तक विचार-विनिमय होता रहा। स्वामीजी ने कहा—"यदि हम सब लोग एकमत हो जाएँ और एक ही रीति से देश का सुधार करें तो देश शीघ्र सुधर सकता है।" स्वामीजी चाहते थे कि लोग वेद को ईश्वरीय-ज्ञान स्वीकार कर लें और वेदों के अनुकूल ही धर्म-प्रचार का कार्य करें, परन्तु सब इसपर सहमत न हो सके।

दिल्ली-निवास के समय स्वामीजी के तेजस्वी रूप का दर्शन और ओजस्विनी वाणी का श्रवण कर पंजाब से आये सज्जन बहुत प्रभावित हुए। एक दिन मुंशी कन्हैयालाल अलखधारी, सरदार विक्रमसिंह, पण्डित मनफूल आदि ने स्वामीजी के डेरे पर आकर उनसे पंजाब में पधारकर वेदोपदेश करने की प्रार्थना की। महाराज ने सहर्ष स्वीकृति प्रदान की।

मेला चाँदापुर

दरबार की समाप्ति पर स्वामीजी दिल्ली से प्रस्थान कर मेरठ और सहारनपुर होते हुए चाँदापुर के मेले में जा सुशोभित हुए।

शाहजहाँपुर जिले के चाँदापुर गाँव में मुंशी प्यारेलाल और मुक्ताप्रसाद जमींदार थे। ये जाति के कायस्थ थे। इनके पिता कबीरपन्थी थे। ये दोनों भी कबीरपन्थ के अनुयायी थे। इस गाँव में पादरी लोग भी आकर अपने धर्म का प्रचार करते रहते थे। मुसलमान तो इस देश के अंग ही बन चुके थे। मुंशी प्यारेलाल और मुक्ताप्रसाद दोनों भाइयों का ईसाई पादरियों और मुसलमान मौलवियों के साथ धर्मविषयक आलाप चलता रहता था। बड़े भाई मुक्ताप्रसाद का

झुकाव दयानन्द सरस्वती के विचारों की ओर हो रहा था। इन दोनों भाइयों ने सत्यता परखने के लिए एक मेला 'ब्रह्म-विचार' की योजना बनाई। इसमें ईसाई, मुसलमान और आर्यों के प्रतिनिधियों को आमन्त्रित किया गया।

मुसलमानों के प्रतिनिधि के रूप में देवबन्द से भारत-प्रसिद्ध मौलवी मुहम्मद कासिम आये। उनके सहायक के रूप में दिल्ली से सय्यद अबदुल मंसूर बुलवाये गये। ईसाइयों की ओर से बरेली से रैवरेण्ड टी० जी० स्कॉट पधारे। इन्होंने ईसाई-धर्म पर कुछ पुस्तिकाएँ तथा बाइबिल पर एक टीका भी लिखी थी। वैदिक धर्म के सिद्धान्तों के निरूपण के लिए दयानन्द सरस्वती को आमन्त्रित किया गया था; मुंशी इन्द्रमणि उनके साथ थे।

मेले में पाँच विषयों पर विचार-विमर्श करने का निश्चय हुआ—

१—ईश्वर ने जगत् को किस वस्तु से, किस समय और किस अभिप्राय से रचा?

२—ईश्वर सर्वव्यापी है या नहीं?

३—ईश्वर न्यायकारी तथा दयालु किस प्रकार है?

४—वेद, बाइबिल तथा कुरान के ईश्वरीय ज्ञान होने में क्या प्रमाण है?

५—मुक्ति का स्वरूप क्या है? मुक्ति की प्राप्ति के साधन क्या हैं?

मेले की तिथियाँ १९, २० मार्च, सन् १८७७ ई० निश्चित की गईं।

१९ मार्च को एक बजे मेले का आरम्भ हुआ। सर्वप्रथम मुंशी प्यारेलाल ने ईश्वर को धन्यवाद दिया, जिसकी कृपा से हम एक ऐसे साम्राज्य की छत्रछाया में हैं, जहाँ सभी धर्मों के गुणावगुणों का स्वतन्त्रता-पूर्वक विवेचन किया जा सकता है। उसके बाद स्थानीय मजिस्ट्रेट को धन्यवाद दिया, जिसने इस मेले के आयोजन की आज्ञा प्रदान की। प्रथम दिन निश्चित प्रश्नों पर कोई विशेष विचार-विमर्श न हुआ। मौलवी मुहम्मद कासिम और पादरी नेविल का कुरान और बाइबिल को ईश्वरीय ज्ञान मानने पर परस्पर कुछ आलोचना होती रही।

२० मार्च सन् १८७७ की प्रातः साढ़े सात बजे प्रथम प्रश्न पर विचार आरम्भ हुआ।

पादरी स्कॉट ने कहा कि हम निश्चितरूप से तो नहीं कह सकते कि इस विश्व को परमेश्वर ने किस तत्त्व से बनाया? कब बनाया? और किस प्रयोजन से बनाया? केवल इतना ही कह सकते हैं कि परमेश्वर ने हमारे सुख के निमित्त इस सृष्टि को अपने हुक्म से अभाव से भावरूप में ला दिया।

मौलवी मुहम्मद कासिम ने कहा—खुदा ने दुनिया को वजूदे-खास (अपने स्वरूप) से प्रकट किया। दुनिया की सब चीजें मनुष्य के लिए बनाईं। मनुष्य को अपनी इबादत के लिए बनाया। कब बनाया? इसके जानने की हमें कोई ज़रूरत नहीं। हमें तो केवल संसार के सुखोपभोग से मतलब है। कब रोटी बनाई? इससे हमें कोई मतलब नहीं। हमें तो रोटी खाने से मतलब है।

दयानन्द सरस्वती ने उपस्थित धर्माधिकारियों और जनता को सम्बोधित करते हुए कहा कि सत्यासत्य का निर्णय करने के लिए परस्पर वैर-विरोध छोड़कर संवाद करना विद्वानों का कर्त्तव्य है। प्रथम प्रश्न का उत्तर देते हुए स्वामीजी ने बताया कि परमात्मा ने अव्यक्त प्रकृति से सृष्टि को उत्पन्न किया। प्रकृति सृष्टि का उपादानकारण है। प्रकृति आदि तथा अन्त से रहित है। अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती। वजूदे-खास (अपने स्वरूप) से भी सृष्टि की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। यदि ऐसा माना जाए तो सृष्टि का रूप भी परमेश्वर के रूप के समान होना चाहिए। प्रत्येक कार्य अपने कारण के समान गुणोंवाला होता है। इस प्रकार संसार में जितने कपटी, चोर, व्यभिचारी और हत्यारे हैं, वे भी परमात्मा के रूप हो जाएँगे।

''सृष्टि कब बनी?'' इसका उत्तर प्रत्येक वैदिक धर्मानुयायी पण्डित शुभ कर्म के प्रारम्भ में संकल्प का उच्चारण करते हुए देता है। वह वर्ष, मास और दिनों की गणना करता हुआ यजमान से संकल्प का पाठ करवाता है। इसके अनुसार १,९६,०८,५२,९७६ वर्ष सृष्टिउत्पत्ति को हो चुके हैं तथा २,३३,,३२,२७,०२४ वर्ष सृष्टि और रहेगी।

परमेश्वर जीव के कर्मों के अनुसार उसे नाना योनियों तथा भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में जन्म देता है। परमेश्वर सृष्टि का निमित्त-कारण, नियामक और अधिष्ठाता है। सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलयक्रम-प्रवाह से अनादि है।

सृष्टि के रचने की शक्ति परमेश्वर में स्वाभाविक है। वह अपने सामर्थ्य से सृष्टि का निर्माण इसलिए करता है कि मनुष्य शुभ कर्म करते हुए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को सिद्ध कर परमानन्द को उपलब्ध कर सके।

इस प्रकार प्रथम प्रश्न का विवेचन करने के अनन्तर स्वामीजी ने पादरियों और मौलवियों की शंकाओं का तर्क द्वारा सन्तोषजनक समाधान किया। स्वामीजी की तेजोमयी वाणी का श्रवण करते हुए जनसमुदाय शान्त भावना से परम सन्तोष और आह्लाद का अनुभव कर रहा था। दिन के ग्यारह बजे सभा की कार्यवाही कुछ समय के लिए स्थगित हुई।

दोपहर को पुनः सभा का आरम्भ हुआ। आज के दिन ही यह मेला चालू रहना था। सब विषयों पर विचार-विमर्श हो नहीं सकता था। सर्वसम्मति से यह निश्चय किया गया कि पञ्चम प्रश्न (मुक्ति का स्वरूप क्या है? उसकी प्राप्ति के साधन क्या हैं?) पर ही वार्तालाप हो।

सर्वप्रथम दयानन्द सरस्वती ने अपने वक्तव्य में कहा—मुक्ति का अर्थ है "छूट जाना"। सब दुःखों से छूटकर सच्चिदानन्द परमात्मा को प्राप्त कर सदा आनन्द में रहना और फिर जन्म-मरण के चक्र में चिरकाल तक न गिरना ही मुक्ति है।

मुक्ति का प्रथम साधन—सत्याचरण है।

द्वितीय साधन—सत्यविद्या, ईश्वरकृत वेदविद्या का यथावत् स्वाध्याय कर ज्ञान को प्राप्त करना और उसके अनुकूल आचरण करना।

तृतीय साधन—सत्संग। आचारवान् ज्ञानी पुरुषों की संगति करना।

चतुर्थ साधन—योगाभ्यास द्वारा अपने मन और इन्द्रियों को संयत कर आत्मा को असत्य से निकालकर सत्य में स्थापित करना।

पञ्चम साधन—ईश्वर-स्तुति—ईश्वर के गुणों का श्रवण और मनन करना।

षष्ठ साधन—ईश्वर-प्रार्थना—जब कोई व्यक्ति सच्चे हृदय से ईश्वर का भजन करता है तब करुणानिधान प्रभु उसे परमानन्द में स्थिर कर देता है। धर्म, अर्थ, काम और सत्पुरुषार्थ से ही मुक्ति प्राप्त होती है, अन्यथा नहीं।

पादरी साहब ने अपने विचार प्रस्तुत करते हुए कहा—दुःखों से

छूटने का नाम मुक्ति है। परमात्मा ने आदम को पवित्र बनाया था। शैतान ने उसे बहकाकर पाप की ओर प्रवृत्त किया। उसकी सन्तान आदमी भी पाप की ओर प्रवृत्त हो गया। ईसामसीह पर विश्वास करने से पापों से छुटकारा और मुक्ति प्राप्त हो सकती है।

मौलवी साहब ने कहा—ईश्वर जिसको चाहता है मुक्ति प्रदान करता है, जिसको नहीं चाहता उसे मुक्ति नहीं मिल सकती। मुक्ति ईश्वरीय इच्छा पर निर्भर है। हाकिम जिस आदमी से प्रसन्न हो जाता है उसे अपराध से क्षमादान कर देता है, जिससे अप्रसन्न हो जाता है उसे दण्ड देता है। हाकिम पर विश्वास रखना चाहिए। हाकिम पर विश्वास रखने से बादशाह भी प्रसन्न रहता है। हमारे हाकिम पैग़म्बर साहब हैं। उनपर विश्वास रखने से अल्लाह प्रसन्न होंगे और मनुष्य मुक्ति को पा सकेगा।

अन्त में स्वामीजी ने प्रभावशाली तर्क और ओजस्विनी वाणी द्वारा ईसाई और मुसलमानों के मतों का खण्डन करते हुए वैदिक मत की सत्यता का प्रतिपादन किया। श्रोतागण स्वामीजी का भाषण श्रवण कर तथा वैदिक मत की श्रेष्ठता को हृदयंगम कर परम हर्षित मन से उनके प्रति श्रद्धाञ्जलि समर्पित करने लगे।

पंजाब की ओर

चाँदापुर से प्रस्थान कर स्वामीजी सहारनपुर की जनता को अपने उपदेशामृत से निहाल करते हुए वैशाख कृष्ण ५ सं० १९३४ (३१ मार्च, सन् १८७७) को लुधियाना पधारे। मुंशी कन्हैयालाल अलखधारी ने अत्यन्त सम्मान और प्रेम के साथ आपका स्वागत किया। स्वामीजी को लाला वंशीधर वैश्य के उद्यान में ठहराया गया।

स्वामीजी के व्याख्यानों का प्रबन्ध जटमलजी खजाञ्ची के गृह पर किया गया। व्याख्यान के आरम्भ में ही महाराज ने घोषणा कर दी कि यहाँ सात व्याख्यान होंगे, बीच में कोई प्रश्न आदि न करे। आठवें दिन केवल शंका-समाधान ही होगा, उस दिन सभी स्वतन्त्रता से प्रश्न पूछ सकेंगे।

श्रीकृष्ण पर लोगों ने मिथ्या दोष लगाये हैं

उनके सातों व्याख्यानों में सहस्त्रों मनुष्य आये और अतीव प्रभावित होकर गये। एक दिन पादरी बेरी महाशय अपने साथियों-सहित स्वामीजी की सेवा में आये। वार्तालाप के प्रसंग में उन्होंने कहा कि श्रीकृष्ण के जो कर्म लोग वर्णन करते हैं उनसे उनका

महात्मा होना बुद्धि नहीं मानती। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि श्रीकृष्णजी पर जो दोष लगाये जाते हैं वे सब मिथ्या और निर्मूल हैं, परन्तु बुद्धि के न मानने के विषय में क्या कहा जाए? बुद्धि जब यह स्वीकार कर लेती है कि परमेश्वर की आत्मा कबूतर के स्वरूप में एक मनुष्य पर उतरी तो श्रीकृष्ण की लीला स्वीकार करने में इसे क्या कठिनाई है?

पुनर्जन्म-सिद्धि

एक पादरी महाशय ने पुनर्जन्म पर प्रश्न किये। इनका उत्तर देते समय स्वामीजी ने उनसे पूछा—"खाना, पीना, सुनना, देखना आदि कर्म देहधारी में होते हैं, अथवा देहरहित में?" पादरी ने कहा—"ये सारे कर्म देहधारी में ही होते हैं।" फिर महाराज ने उनसे पूछा—"एक देह को छोड़कर दूसरी देह को धारण करना ही पुनर्जन्म है?" पादरी महाशय ने कहा—"हाँ, यही पुनर्जन्म है।" तब स्वामीजी ने कहा—"आपने मान लिया कि खान-पान आदि कर्म देहधारी में होते हैं और एक देह को छोड़कर दूसरी देह को धारण करना पुनर्जन्म है। अब आपको मान लेना चाहिए कि मनुष्य-देह को छोड़कर, जो लोग ईसाईमत के स्वर्ग में नाना भोगों को भोगते हैं, उनका वहाँ पुनर्जन्म होता है।" यह सुनकर ईसाई महाशय चुप हो गये।

भूत-प्रेत-खण्डन

भूत-प्रेत के भ्रम का खण्डन करते हुए, एक दिन, महाराज ने एक खेल दिखाया। जिस आवास में वे रहते थे उसमें तीन द्वार और दो ताक थे। उन्होंने उन दोनों ताकों में दीपक जलाकर आमने-सामने रख दिये और उनमें से एक दीपक बुझा दिया और दूसरे को बुझा देने का आदेश दिया। जिस समय दूसरा दीपक बुझाया गया तब तत्काल पहला दीपक अपने-आप जल उठा। इस प्रकार एक दीपक के बुझने पर दूसरे के अपने-आप जल उठने के खेल को लोग बड़ी देर तक देखते रहे। दर्शकों को आश्चर्य भी होता था कि बीस-पच्चीस हाथ के अन्तर पर रखे हुए इन दीपकों में यह कैसा चमत्कार हो रहा है? खेल हो चुकने के पश्चात् महाराज ने कहा कि जो कुछ आपको दिखाया गया है वह विद्या की बात है। भूत-प्रेत कोई वस्तु नहीं है। उनका भ्रम न किया करो।

लाहौर में

लुधियाना-निवासियों के हृदयों में धर्मांकुर उत्पन्न करने के

पश्चात् स्वामीजी वहाँ से प्रस्थान कर वैशाख शुक्ला ६ संवत् १९३४ को लाहौर में सुशोभित हुए। पण्डित मनफूल आदि सज्जनों ने उनका स्टेशन पर स्वागत किया और उन्हें सम्मानपूर्वक लाकर रत्नचन्द डाढ़ीवाला के उद्यान में ठहरा दिया। उस समय स्वामीजी के साथ इतने ग्रन्थ थे कि एक चौपहिया गाड़ी में केवल वे ग्रन्थ ही लादकर लाये गये।

महाराज का पहला व्याख्यान २५ अप्रैल १८७७ को 'वेदोक्तधर्म' विषय पर हुआ। सहस्त्रों मनुष्यों की भीड़ थी, दल-के-दल उमड़े चले आते थे। महाराज ने अत्युत्तम रीति से विषय का वर्णन किया और श्रोताजन बड़े प्रभावित होकर घरों को लौटे।

महाराज ने, बावली साहब में ही दूसरा व्याख्यान वैशाख पूर्णमासी संवत् १९३४ को दिया। इसमें सुननेवालों की संख्या और भी अधिक थी। महाराज के वचन, बिजली की भाँति, पंजाबियों के अन्तःकरणों में संचार करते जाते थे। आवेश में आकर लोग फड़क उठते थे। इस अदृष्टपूर्व महापुरुष के दर्शनों से, उसके अश्रुतपूर्व उपदेशों से और अनुभूत उपदेश-प्रभावों से लोग इतने मोहित हुए कि जहाँ सुनो श्रीस्वामीजी का ही गुण-कीर्त्तन हो रहा था। समाचार-पत्र भी उन्हीं का अनुराग-राग आलापते थे। कई सज्जनों ने अपने ठाकुरों को उठाकर रावी के अर्पित कर दिया।

ब्राह्मसमाजी रुष्ट हो गये

स्वामीजी को लाहौर बुलाने में अधिक हाथ ब्राह्मसमाजियों का था। उनके निवासादि का प्रबन्ध भी प्रायः वे ही करते थे, परन्तु ऋषि दयानन्द अपने सिद्धान्त के इतने पक्के थे कि व्याख्यान के समय सहायकों तक के धर्म और रुचि का किञ्चिन्मात्र भी पक्षपात नहीं करते थे। न्यायानुकूल सबको स्पष्ट सुना देते थे। महाराज के दो व्याख्यान ब्राह्मसमाजियों ने अपने धर्म-मन्दिर में कराये। महर्षि ने अपने प्रथम व्याख्यान में यह सिद्ध किया कि वेद ईश्वरीय ज्ञान है और दूसरे में पुनर्जन्म को युक्तियुक्त बताया। ये दोनों ही व्याख्यान ब्राह्मसमाज के मन्तव्य के नितान्त विरुद्ध थे, फलस्वरूप ब्राह्मसमाजी रुष्ट हो गये और स्वामीजी का विरोध करने पर उतर आये।

कोठी से निकाल दिया

स्वामीजी ने अपने भाषणों में पुराणों की निर्मूल कल्पनाओं की तीव्र समालोचना की, जिससे पौराणिकों में बड़ी हलचल मच गई।

बहुत-से पण्डित तो विघ्न-विरोध करने पर इतने तुल गये कि जिस उद्यान में महाराज निवास करते थे, वे उसके अधिपति श्रीरत्नचन्दजी को भड़काने लगे कि आपने अपने उद्यान में किस नास्तिक को उतार रक्खा है? वह सब देवताओं का खण्डन करता है। न जाने कोई कृष्टान है अथवा और कोई है! लोकापवाद से भीत, रत्नचन्दजी ने स्वामीजी को उद्यान छोड़ देने के लिए विवश किया। स्वामीजी के प्रेमी उन्हें डॉक्टर रहीमखाँ की कोठी में ले-आये। यह कोठी भक्त छज्जू के चौबारे के पास थी।

महाराज जम्मू और कश्मीर को प्रसन्न करूँ या..... ?

स्वामीजी का सत्कार करनेवालों में पण्डित मनफूलजी उस समय मुख्य माने जाते थे। ब्राह्मसमाजियों ने तो रुष्ट होकर स्वामीजी के व्यय के लिए द्रव्य देना बन्द कर ही दिया था, इसलिए उनके आतिथ्य का प्रबन्ध पण्डित मनफूलजी को ही करना पड़ता था, परन्तु महाराज किसी के भी अनुचित दबाव में नहीं आते थे। एक दिन मनफूलजी ने स्वामीजी से कहा—"नगर के सारे लोग मूर्त्ति-पूजा-खण्डन से अप्रसन्न हैं। आप अब उसका खण्डन न किया करें। ऐसा करने से महाराजा जम्मू और कश्मीर भी आपपर प्रसन्न हो जाएँगे।" महाराज ने तत्काल उत्तर दिया—"मैं महाराज जम्मू और कश्मीर को प्रसन्न करूँ या ईश्वरीय ज्ञान वेद के आदेशानुसार चलूँ? चाहे जो हो, मैं वेदाज्ञा को भंग नहीं करूँगा।" यह सुनकर मनफूलजी ने मनमुटाव उत्पन्न कर लिया और उनके समीप आना-जाना छोड़ दिया।

पादरी हूपर से वार्तालाप

डॉक्टर रहीमखाँ की कोठी में स्वामीजी एक दिन व्याख्यान देते और दूसरे दिन शंका-समाधान करते थे। उनके सत्संगों में सहस्त्रों आर्य, मुसलमान और ईसाई आते, उपदेश सुनते और संशय दूर करते। एक दिन स्वामीजी के पास पादरी हूपर महाशय आये और पूछने लगे कि वेद में जो अश्वमेध और गोमेध यज्ञ का वर्णन है, आप उसका क्या समाधान करते हैं? स्वामीजी ने उत्तर दिया कि वेदों में पशु-बलि का वर्णन कहीं भी नहीं है। अश्वमेध का अर्थ न्यायपूर्वक प्रजा-पालन है और गोमेध का अर्थ है—अन्न का उपार्जन करना, इन्द्रियों को पवित्र बनाना, भूमि को शुद्ध रखना और पुरुषमेध का अर्थ मृतक का दाहकर्म करना है।

वेद में उल्लू की कहानी नहीं है

एक दिन पण्डित शिवनारायणजी ने स्वामीजी से कहा कि आप वेद में किस्से-कहानी नहीं मानते, परन्तु सामवेद में तो उल्लू की कहानी विद्यमान है। स्वामीजी ने कहा—"सामवेद में उल्लू की कहानी नहीं है।" जब वे अपनी रट लगाते ही रहे कि सामवेद में उल्लू की कहानी है, तब स्वामीजी ने सामवेद उनके हाथ में देकर कहा—"व्यर्थ झगड़ा क्यों करते हो? इसमें से कहानी निकालकर सबको दिखा दो।" पण्डितजी कुछ देर तक पृष्ठ उलटते रहे, परन्तु वे कहानी न निकाल सके। स्वामीजी ने कुछ नहीं कहा, परन्तु लोगों ने उन्हें बहुत लज्जित किया।

आर्यसमाज की स्थापना

स्वामीजी के प्रचार से अनेक सज्जन उनके अनुयायी बन गये और आर्यसमाज की स्थापना का उद्योग होने लगा। उस समय यह आवश्यक समझा गया कि समाज की स्थापना के पूर्व समाज के नियमों का नूतन संस्कार किया जाए। इसलिए महाराज ने यहाँ, स्वयं आर्यसमाज के नियमों को संगठित किया। वे नियम ये हैं—

१. सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदिमूल परमेश्वर है।

२. ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है। उसी की उपासना करनी योग्य है।

३. वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

४. सत्य के ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।

५. सब काम धर्मानुसार, अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिएँ।

६. संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७. सबसे प्रीतिपूर्वक, धर्मानुसार, यथायोग्य वर्तना चाहिए।

८. अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।

९. प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिए,

किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

१०. सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

मुम्बई के नियमों का निर्माण पारिख महाशय ने किया था, वे महर्षि की रचना न थे, इसलिए सैद्धान्तिक दृष्टि से वे अनार्ष कल्पना थे। लाहौर में स्वामीजी ने नियमों का नूतन संस्कार करके आर्यसमाज की नींव एक प्रबल चट्टान पर रख दी।

उपासना में खड़ा होना अनुचित

एक दिन महाराज आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्संग में उस समय पधारे, जब प्रार्थना और उपासना हो रही थी। गुरुदेव को आते देख सारे सभासदों ने उनका अभ्युत्थानपूर्वक स्वागत किया। जब प्रार्थना समाप्त हो चुकी तब महाराज ने उपदेश दिया—"उपासना के समय उपासकजन ईश्वर के सत्संग में निमग्न होते हैं, उस प्रभु से महान् कोई भी नहीं है, इसलिए उपासना-काल में चाहे कितना ही बड़ा मनुष्य क्यों न आये, उठना नहीं चाहिए। ऐसे समय में किसी व्यक्ति के लिए अभ्युत्थान आदि आदर करना उपासनाधर्म का निरादर है।" सब सभासदों ने विनीतभाव से श्री-वचनों को स्वीकार किया।

गुरु-गद्दी या मठ नहीं बनाया

यद्यपि आर्यसमाज में नियम-परिवर्तन आदि के सारे अधिकार स्वामीजी के हाथ में थे, परन्तु वे इतने निरभिमान और निर्लेप थे कि उसका दूसरा दृष्टान्त मिलना अति दुर्लभ है। आर्यसमाज लाहौर के साधारण अधिवेशन में महाशय शारदाप्रसादजी ने प्रस्ताव किया—"स्वामीजी को आर्यसमाज के संस्थापक की पदवी से विभूषित किया जाए।" सब सभासदों ने इस प्रस्ताव का सुप्रसन्नता से अनुमोदन किया। स्वामीजी महाराज ने हँसकर कहा—"मैंने कोई नया पन्थ चलाकर गुरु-गद्दी या मठ नहीं बनाया है। मैं तो लोगों को मतवादियों के मठ से स्वतन्त्र करना चाहता हूँ। ऐसी पदवियों से अन्त में हानियाँ ही हुआ करती हैं।"

परमेश्वर को क्या कहोगे ?

शारदाप्रसादजी ने दूसरा प्रस्ताव किया—"महाराज को इस समाज का परमसहायक नियत किया जाए।" इसपर उन्होंने कहा—"यदि मुझे परमसहायक मानोगे तो उस परम-पिता परमेश्वर को

क्या कहोगे ? परमसहायक तो वह जगदीश्वर ही है। हाँ, यदि आप मेरा नाम लिखना ही चाहते हैं, तो सहायकों की पंक्ति में लिख लीजिए।''

पुराण सर्वथा वेदविरुद्ध हैं

डॉ० रहीम खाँ की कोठी पर एक दिन बहुत-से पण्डितों ने स्वामीजी से कहा कि आप वेदों का प्रचार करते हैं यह तो बहुत अच्छी बात है, परन्तु यदि पुराणों को भी साथ मिलाये रखते तो सोने में सुगन्ध का संयोग हो जाता। महाराज ने कहा कि मैं कई वर्षों तक यह सोचता रहा कि किसी प्रकार पुराणों की संगति वेदों के साथ मिल जाए, परन्तु जब मैंने देखा कि ये किसी प्रकार भी वेदों से मेल नहीं खाते और सर्वथा वेद-विरुद्ध हैं तब से मैंने पुराणों की प्रामाणिकता का परित्याग कर दिया।

अमृतसर में पदार्पण

लाहौर-वासियों में आर्यत्व का सच्चा अभिमान उत्पन्न करने के पश्चात् श्रीमहाराज आषाढ़ बदी ९ संवत् १९३४ को अमृतसर में पधारे और सरदार दयालसिंह मजीठिया के प्रबन्ध से, रामबाग में, मियाँ मुहम्मद खाँ की कोठी में ठहरे। उनके पधारने से अमृतसर के अधिवासियों में धर्म-प्रेम उमड़ पड़ा। शत-शत और सहस्र-सहस्र पुरुष श्रीदर्शनों को आने लगे। महाराज ने लोगों के उत्साह को देखकर उसी दिन सायंकाल से व्याख्यान देना आरम्भ कर दिया। श्री-उपदेशों को नर-नारी श्रद्धापूर्वक सुनते थे!

यहाँ महाराज ने प्रतिमा-पूजन, अवतारवाद और मृतक-श्राद्ध आदि मिथ्यामूलक मन्तव्यों का घोर खण्डन किया, जिससे पण्डितों में हलचल मच गई। यजमान अपने परोहितों और पण्डितों को शास्त्रार्थ करने के लिए विवश करने लगे। पण्डित लोग स्थान-स्थान पर सभा लगाते, स्वामीजी को नास्तिक और ईसाई कहते, अगणित गालियाँ देते, परन्तु शास्त्रार्थ करने के लिए उनमें से कोई भी साहस नहीं करता था।

बालकों ने पत्थर फेंके

एक दिन, एक पाठशाला के अध्यापक पण्डित ने अपने छोटे-छोटे विद्यार्थियों से कहा—''आज कथा में हम सब चलेंगे। तुम अपनी-अपनी झोलियों में ईंटों के रोड़े भर लो। वहाँ जिस समय मैं संकेत करूँ, तुम तत्काल, कथा कहनेवाले पर इन्हें फेंकने लग

जाना। इसके बदले में कल तुमको लड्डू दिये जाएँगे।''

वे अबोध बालक अपने अध्यापक के बहकावे में आ गये और झोलियों में ईंटों के टुकड़े लिये व्याख्यान के स्थान पर जा पहुँचे। व्याख्यान रात के आठ बजे समाप्त हुआ करता था। थोड़ा-सा अन्धेरा होते ही अध्यापक का संकेत पाकर वे अनजान लड़के स्वामीजी पर कंकड़ बरसाने लगे। एक बार तो सारी सभा चलायमान हो गई, परन्तु स्वामीजी ने सभा को तुरन्त शान्त कर दिया।

पुलिस के कर्मचारियों ने उन उपद्रवी बालकों में से कुछ को पकड़कर व्याख्यान के अन्त में स्वामीजी के समक्ष उपस्थित किया। पुलिस के पञ्जे में पड़े हुए वे बालक चिल्लाते और फूट-फूटकर रोते थे। स्वामीजी ने उनको धैर्य प्रदान कर पत्थर मारने का कारण पूछा। तब वे हिचकियाँ लेते हुए बोले—''हमें पण्डितजी ने लड्डुओं का लोभ देकर ऐसा करने को कहा था।'' दयानन्द का हृदय दया-भाव से भर गया। उन्होंने उसी समय वहाँ लड्डू मँगवाये और उन बालकों में बाँटकर कहा—''सम्भव है तुम्हारा अध्यापक तुम्हें लड्डू न दे, अतः मैं ही दिये देता हूँ।'' फिर महाराज ने उन नासमझ बालकों को छुड़वा दिया।

हिन्दू-धर्म लोहे से भी दृढ़

कमिश्नर महाशय की प्रार्थना पर एक दिन स्वामीजी उनके बंगले पर पधारे। वार्तालाप में कमिश्नर साहब ने कहा—''स्वामीजी! यह तो बताइए, हिन्दू-धर्म को सूत के तार के सदृश कच्चा क्यों कहते हैं?'' स्वामीजी ने उत्तर दिया—''यह कच्चा नहीं है, किन्तु लोहे से भी पक्का है। लोहा तो भले ही टूट जाए, परन्तु यह कभी भी टूटने का नहीं।'' कमिश्नर साहब ने पूछा—''यह इतना दृढ़ क्योंकर है?''

महाराज ने कहा—''हिन्दू धर्म* समुद्र के समान है। इसमें अनेक अच्छे और बुरे मतों के तरंग विद्यमान हैं। इस धर्म में ऐसे भी भले लोग हैं जो अत्यन्त दयावान् हैं, परोपकार-परायण रहते हैं और एक निराकार परमेश्वर को अपने मनोमन्दिर में पूजते हैं, किन्तु इनके विपरीत लोग भी हिन्दू धर्म में पाये जाते हैं। यहाँ योगी-

* स्वामीजी 'हिन्दू' शब्द का प्रयोग नहीं करते थे। पादरी ने जो प्रश्न किया है उसका उत्तर उन्हीं शब्दों में देने के लिए 'हिन्दू' शब्द का प्रयोग किया गया है।

ध्यानी, तपस्वी और आजीवन ब्रह्मचारी रहनेवाले भी विद्यमान हैं और ऐसे भी अनेक हैं जिनका उद्देश्य आमोद-प्रमोद और संसार का सुख है। इस धर्म में जहाँ छुआछूत करनेवाले सहस्रों हैं, वहाँ सबके साथ खा लेनेवाले भी सैकड़ों हैं। परमार्थदर्शी और तत्त्वज्ञानी लोग इस धर्म में उच्चकोटि पद के पाये जाते हैं और ऐसे भी मिल जाते हैं जो ज्ञान के पीछे डण्डा लिये डोलते हैं। उत्तम, मध्यम और निकृष्ट विचारों और आचारों के सभी मत और उनको माननेवाले मनुष्य इस मार्ग में मिलते हैं। वे सभी हिन्दू हैं, कोई उन्हें हिन्दूपन से निकाल नहीं सकता। इसलिए मैं कहता हूँ कि हिन्दू धर्म निर्बल नहीं, किन्तु परम सबल है।''

फिर कमिश्नर महाशय ने पूछा कि आप कैसे धर्म को फैलाना चाहते हैं? स्वामीजी ने कहा कि मैं केवल यह चाहता हूँ कि लोग वेद की पवित्र आज्ञाओं को मानें, एक निराकार परमात्मा की उपासना करें, दुर्गुणों को छोड़कर सद्गुणों को ग्रहण करें।

चालीस युवक ईसाई होने से बचे

ईसाइयों के स्कूलों में पढ़नेवाले चालीस आर्ययुवक मन से ईसाई बन चुके थे। उन्होंने 'प्रार्थनासभा' नाम से एक अपनी सभा बना रक्खी थी। आदित्यवार को वे वहाँ ईसाई-रीति से प्रार्थना आदि किया करते थे। स्वामीजी के उपदेशों से वे सारे युवक अत्यन्त प्रभावित हुए। उनके हृदयों से ईसाईमत का एक-एक विचार कपूर की भाँति उड़ गया और वे अपने पुरातनधर्म के महत्त्व को मानने लग गये।

इकट्ठे खाने से प्रीति नहीं बढ़ती

एक दिन पादरी क्लार्क महाशय स्वामीजी के पास आकर कहने लगे—हम और आप मिलकर एक ही मेज पर भोजन करें; इकट्ठे भोजन करने पर परस्पर प्रीति बढ़ जाएगी। स्वामीजी ने उत्तर दिया—''शीया और सुन्नी मुसलमान एक ही बर्तन में खाते हैं, रूसी और अंग्रेज़ और इसी प्रकार आप और रोमन कैथोलिक ईसाई एक ही मेज़ पर भोजन कर लेते हैं, परन्तु यह सब जानते हैं कि इनमें परस्पर कितना वैर-विरोध है, एक दूसरे के साथ कितनी शत्रुता है।'' यह सुनकर पादरी महाशय अवाक् रह गये।

भविष्यद्-ज्ञान

एक दिन स्वामीजी महाराज अपने निवास-स्थान के एक कमरे

में बैठे पण्डितों को वेद-भाष्य लिखवा रहे थे। बीच में एकाएक उठ खड़े हुए और कर्मचारियों को कहने लगे कि पुस्तकादि सभी उपकरण, झटपट इस कमरे से बाहर निकाल दो। कर्मचारियों ने उनकी आज्ञा का पालन तो किया, परन्तु वे मन-ही-मन यह कहते रहे कि स्वामीजी ने यह कष्ट व्यर्थ ही दिया है। जब सारे उपकरण दूसरे कमरे में पहुँच गये तब प्रथम कमरे की छत धड़ाम से भूमि पर गिर पड़ी। उस समय कर्मचारियों को महाराज की आज्ञा की उपयुक्तता का निश्चय अति विस्मय के साथ हुआ।

गुरुदासपुर में

महाराज के उपदेशों से अमृतसर में आर्यसमाज स्थापित हो गया। अनेक सज्जनों ने ज्ञान-चक्षुः लाभ किये, उन्होंने परोपकार का पवित्र पथ प्राप्त किया और उनमें लोक-हित की बुद्धि जाग्रत् हो गई। अमृतसर के अधिवासियों को उपदेशामृत पान कराकर स्वामीजी गुरुदासपुर-वासियों की प्रार्थना पर श्रावण शुक्ला ९ संवत् १९३४ (१८ अगस्त सन् १८७७) को गुरुदासपुर पधारे।

व्याख्यान प्रारम्भ हुए। स्वामीजी के व्याख्यानों में सैकड़ों श्रोताजन आते थे। उच्चकर्मचारी भी सम्मिलित होते थे। डेरे पर भी रात-दिन सत्संग की गङ्गा बहती रहती थी।

उन दिनों मि० काक महाशय वहाँ इञ्जीनियर थे। वे भी ऋषि के व्याख्यानों में आया करते थे। एक दिन व्याख्यान देते हुए ऋषि ने कहा—"अंग्रेजों को इस देश में आये हुए पर्याप्त समय हो गया है, परन्तु इन लोगों ने अपने उच्चारण को अभी तक नहीं सुधारा। ये 'तकार' के स्थान पर 'टकार' ही बोलते है।" इसपर काक महाशय रुष्ट हो गये और चलते हुए बोले-"यदि तुम पश्चिम में पेशावर की ओर जाओ तो तुम्हें मज़ा आ जाए।" काक महाशय का अभिप्राय शायद यह था कि स्वतन्त्रता से बोलना केवल अंग्रेज़ी राज्य में ही सम्भव है।

स्वामीजी के उपदेशों से प्रभावित होकर २४ अगस्त सन् १८७७ को गुरुदासपुर में आर्यसमाज की स्थापना हो गई।

ब्रह्मचर्य का अद्भुत बल

गुरुदासपुर से स्वामीजी अमृतसर होते हुए भाद्रपद शुक्ला ६ संवत् १९३४ (१३ सितम्बर १८७७) को जालन्धर पधारे। जालन्धर में आप सरदार सुचेतसिंह की कोठी पर सुशोभित हुए। यहाँ महाराज

के ३४-३५ व्याख्यान हुए।

एक व्याख्यान में महाराज ने कहा कि जो राजा होकर कंजरी (वेश्या) रखता है वह कंजर है। उन्होंने तीर्थ-माहात्म्य और गङ्गा-स्नान के फल को भी अमूलक बताया। अमृतसर के दरबार साहब के विषय में स्वामीजी ने कहा-"दीपावली के दिन सिख वहाँ सकेश स्नान करते हैं। हमारा जी तो वहाँ आचमन करने को भी नहीं चाहता।" व्याख्यान के अन्त में सरदार विक्रमसिंह ने कहा—"स्वामीजी! आज तो आप हमपर भी बरस पड़े।" स्वामीजी ने उत्तर दिया—"व्याख्यान में पक्षपात नहीं किया जा सकता। सत्य बात कहनी ही पड़ती है।"

एक दिन सरदार विक्रम सिंह ने निवेदन किया कि सुनते हैं कि ब्रह्मचर्य से मनुष्य महाबली बन जाता है, क्या यह सत्य है ? स्वामीजी ने उत्तर दिया कि ब्रह्मचर्य धारण करने का जो महत्त्व शास्त्रों ने वर्णन किया है वह सर्वथा सत्य है। तब सरदार महाशय बोले कि महाराज! आप भी तो ब्रह्मचारी हैं। हमें आपमें कोई विशेष बल तो प्रतीत नहीं होता। महाराज ने इस बात का कोई उत्तर नहीं दिया। सरदार महाशय बड़ी देर तक सत्संग में बैठे रहे। चलते समय जब नमस्कार करके गाड़ी में आरूढ़ हुए तब महाराज ने उनकी गाड़ी को पीछे से पकड़ लिया। विक्रमसिंहजी ने घोड़ों को बहुतेरे कोड़े लगाये, परन्तु वे गाड़ी को न खींच सके। सरदार महाशय ने जब पीछे की ओर मुड़कर देखा तो महाराज ने गाड़ी को छोड़ दिया और कहा कि ब्रह्मचर्य के बल का प्रमाण आपको मिल गया। सरदार महाशय उनके इस सामर्थ्य पर अति विस्मित हुए।

यहाँ स्वामीजी ने एक ईसाई को शुद्धकर पुनः वैदिक धर्म में प्रवेश कराया।

जालन्धर से लाहौर होते हुए २६ अक्तूबर १८७७ को स्वामी जी फ़िरोज़पुर पधारे। यहाँ महाराज के आठ व्याख्यान हुए। व्याख्यानों के साथ शंका-समाधान भी होता रहा।

ईश्वर सर्वव्यापक है तो घड़ी में कहाँ है

पं० कृपाराम ने एक दिन पूछा—"परमात्मा एकदेशी है अथवा सर्वव्यापक ?" महाराज ने कहा—"परमात्मा सर्वव्यापक है।" तब कृपारामजी ने अपनी जेब से तत्काल घड़ी निकालकर मेज पर रख दी और कहा, "यदि ईश्वर सर्वव्यापक है तो बताइए कि इस घड़ी में

कहाँ बैठा है ?'' महाराज ने उत्तर दिया कि ''परमात्मा आकाश की भाँति परम सूक्ष्म और सर्वव्यापक है, इसलिए चर्मचक्षुओं से अगोचर है।'' फिर अपना सोटा उठाकर कहा—''आकाश सर्वव्यापक है, इस सोटे के भीतर और बाहर भी रमा हुआ है। जैसे इस सोटे में आकाश तो है, परन्तु दीखता नहीं, इसी प्रकार आपकी घड़ी में ईश्वर है, परन्तु परम सूक्ष्म होने से इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं हो सकता।'' यह सुनकर कृपाराम निरुत्तर हो गये।

पुजारी शब्द का अर्थ

एक दिन फ़िरोज़पुर छावनी के बड़े मन्दिर का पुजारी रघुनाथ स्वामीजी के पास गया। स्वामीजी ने उससे कहा—''प्रश्न पीछे पूछना, पहले आप यह बताइए कि पुजारी शब्द का अर्थ क्या है ?'' रघुनाथ मौन हो गया। तब स्वामी जी ने कहा—पुजारी शब्द का अर्थ है पूजा का शत्रु (पूजा+अरि)। आप लोग पण्डित होकर ऐसे नाम क्यों रख लेते हैं ?

योग के रहस्य सिखाए

भक्त स्वरूपसिंहजी एक भजन-पाठ करनेवाले पुरुष थे, सत्संग-रस के रसिक थे। एक दिन वे महाराज से बहुत देर तक योगचर्चा करते रहे। भक्तजी ने योगिराज से योगमार्ग के अनेक बहुमूल्य मोती उपलब्ध किये और अपने को कृतार्थ माना।

मुझे सम्मति देने का अधिकार नहीं

फिरोजपुर निवासियों को धर्म-जीवन दान करने के पश्चात् स्वामीजी कार्तिक बदी १५ संवत् १९३४ की सायं को वहाँ से चलकर अगले दिन प्रातःकाल लाहौर में आ विराजे।

कार्तिक सुदी १ संवत् १९३४ को लाहौर आर्यसमाज की अन्तरंग सभा का अधिवेशन था। उसमें आर्यसमाज के उपनियम निर्मित, परिवर्त्तित और संशोधित होकर सभासदों के सामने स्वीकृति के लिए रक्खे गये थे; सभासद् उनपर मतामत प्रदर्शित कर रहे थे। दैवयोग से उस समय उस सभा में स्वामीजी विराजमान थे। सभासदों ने उनसे विनय की कि आप भी अपनी सम्मति प्रदान कीजिए। महाराज ने कहा, जब मैं आपकी अन्तरंग सभा का सभासद् ही नहीं हूँ तब सम्मति कैसे दे सकता हूँ ? महाराज की महामूल्य सम्मति से अलभ्य लाभ उपलब्ध करने के लिए सभासदों ने सर्व-सम्मति से उनको उसी समय सभासद् बना लिया।

रावलपिण्डी में धर्मोपदेश

लाहौर से प्रस्थान कर ऋषिराज ७ नवम्बर १८७७ को प्रातःकाल रावलपिण्डी पहुँचे और 'जानसनजी' पारसी की कोठी में आसीन हुए। यहाँ स्वामीजी बीस दिन तक प्रतिदिन सायं उपदेश करते रहे। अपने व्याख्यानों में उन्होंने मूर्त्तिपूजा और अवतारवाद का भी तीव्र खण्डन किया। ईसाई और मुसलमानों के मतों के दोष-दर्शनपूर्वक वैदिक धर्म की श्रेष्ठता सिद्ध की। यहाँ भी आर्यसमाज स्थापित हो गया।

हो तो हीरा पर कीचड़ में पड़े हो

रावलपिण्डी में वैदिक नाद गुँजाकर स्वामीजी गुजरात जाते हुए झेलम में ठहर गये। व्याख्यान होने लगे। एक दिन एक व्यक्ति ने निवेदन किया—"महाराज! आज्ञा हो तो एक गाना सुनाऊँ?" महाराज के स्वीकृति देने पर गाना आरम्भ हुआ। श्रोता मस्त हो गये, स्वामीजी भी झूम उठे। सत्संग की समाप्ति पर एक भक्त ने बताया—आज जिस व्यक्ति ने गाना गाया था, यह यहाँ का तहसीलदार है, गाता अच्छा है, परन्तु चरित्रहीन है। अपनी धर्मपत्नी को त्यागकर वेश्याएँ रक्खी हुई हैं। शराब पीता है, मांस खाता है, रिश्वत लेता है।

अगले दिन के सत्संग में स्वामीजी की स्वीकृति से उस सज्जन ने फिर एक गाना गाया। समाँ बँध गया। श्रोता और स्वामीजी सभी फिर झूम उठे। गाना समाप्त हुआ। ऋषि ने उस व्यक्ति को सम्बोधित करते हुए कहा—"अमींचन्द! हो तो हीरा, परन्तु कीचड़ में पड़े हो।" स्वामीजी के शब्दों ने विद्युत् की भाँति प्रभाव किया। वे वहाँ से उठकर चल दिये और कह गये—अब पाप-पंक से निकलकर ही आपके दर्शन करूँगा। घर जाकर उसने शराब की बोतलों को तोड़ दिया। वेश्याओं को निकाल दिया। मांस न खाने और शराब न पीने की प्रतिज्ञा की। तार देकर पत्नी को बुलाया। सारे नगर में शोर मच गया कि तहसीलदार बदल गया। यही सज्जन आगे चलकर महता अमींचन्द के नाम से प्रसिद्ध हुए जिनके भजन '**आज मिल सब गीत गाओ उस प्रभु के धन्यवाद**' आदि आज बड़े प्रेम और श्रद्धा से गाये जाते हैं।

गुजरात में धर्म-प्रचार

डॉक्टर विशनदास के निमन्त्रण पर स्वामीजी १३ जनवरी सन् १८७८ को गुजरात पधारे और फतहसार नामक उद्यान में ठहरे। गली-कूचों और बाजारों में सर्वत्र स्वामीजी की चर्चा होने लगी।

गुजरात में शिक्षित हिन्दूवर्ग पर ईसाईमत का प्रभाव था। स्वामीजी महाराज ने ईसाईमत की बुराइयों और मिथ्या सिद्धान्तों का खण्डन किया। पादरियों से शास्त्रार्थ भी किया। हिन्दूधर्म की कुरीतियों पर प्रकाश डालते हुए वेद के महत्त्व, ब्रह्मचर्य तथा सन्ध्या पर प्रभावशाली व्याख्यान दिये। महाराज के व्याख्यानों से प्रभावित होकर एक मौलवी ने गायत्री-मन्त्र के जप का संकल्प किया।

पुरुषार्थ प्रारब्ध से बड़ा

एक दिन एक सिख साधु लोई ओढ़े स्वामीजी के पास आया। उस साधु ने प्रारब्धवाद पर शास्त्र-चर्चा चलाई। महाराज ने युक्तियों और प्रमाणों द्वारा उसको बताया कि "प्रारब्ध और पुरुषार्थ दोनों ही ठीक हैं। प्रारब्ध पूर्व के भोग का नाम है। इस जन्म में जो शास्त्रीय कर्म किये जाते हैं, वह पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ अवश्य ही करना चाहिए।" वह साधु महाराज की बात नहीं मानता था और यही कहे चला जाता था, "पुरुषार्थ की कोई आवश्यकता नहीं; जो होना होता है वह स्वयमेव होकर ही रहता है।" स्वामीजी ने सेवक को आदेश दिया—"इस महात्मा की लोई उतारकर सड़क पर फेंक दो। देखें पुरुषार्थ के बिना यह इसके पास कैसे आ जाती है।" जब वह सेवक उससे लोई खेंचने लगा तब वह साधु लोई से इतना लिपट गया कि सेवक बल लगाकर भी उसकी लोई न उतार सका।

आप ज्ञानी हैं या अज्ञानी

एक दिन बहुत-से मनुष्यों ने मिलकर विचार किया कि स्वामीजी सबका मुख बन्द कर देते हैं। उनपर ऐसा प्रश्न करो, जिससे एक बार तो उनको भी नीचा देखना पड़े। वहाँ सर्वसम्मति से निश्चय हुआ कि कल यह पूछा जाए कि आप ज्ञानी हैं या अज्ञानी? यदि वे कहें कि मैं ज्ञानी हूँ तो उनको कहा जाए कि महापुरुष अहंकार नहीं किया करते और यदि वे अपने को अज्ञानी कहें तो उनसे कहा जाए कि जब आप स्वयं अज्ञानी हैं तब हमें क्या समझाएँगे?

आगामी दिन जब यह प्रश्न स्वामीजी से किया गया तब उन्होंने तत्काल उत्तर दिया कि "मैं कई विषयों में ज्ञानी हूँ और कइयों में अज्ञानी। वेदादि शास्त्रीय विषयों में पूर्ण ज्ञानी हूँ और फारसी, अरबी और अंग्रेज़ी आदि विषय मैं नहीं जानता, इसलिए उनमें अज्ञानी हूँ।" यह उत्तर पाकर प्रश्नकर्त्ता लोग हक्के-बक्के रह गये और एक-दूसरे का मुँह ताकने लगे। उस दिन गुजरात-वासियों को निश्चय

हो गया कि स्वामीजी को जीतना सर्वथा असम्भव है, उनकी तात्कालिक स्फुरणशक्ति आश्चर्यकारिणी है।

परहित साधना ही मनुष्यत्व है

एक दिन दो उच्च राजकर्मचारी स्वामीजी से मिलने आये। वार्तालाप के प्रसंग में वे कटाक्षपूर्वक बोले, "स्वामीजी! खण्डन में क्या पड़ा है? इससे लोग बहुत भड़क उठते हैं। हम तो जिस कर्म में अपने को लाभ हो उसी को अच्छा समझते हैं। पहहित-चिन्तन और परोपकार एक व्यर्थ का ढकोसला है।" स्वामीजी ने गम्भीरता से उत्तर दिया—"यदि, अपना भला करना ही उद्देश्य हो तो मनुष्यता क्या हुई? अपने भले का भाव तो गधों में भी पाया जाता है। परोपकार और परहित साधना का नाम ही तो मनुष्यत्व है।" वे सज्जन इस उत्तर से शान्त होकर वहाँ से चले गये।

गुजराँवाला में वैदिक नाद

माघ सुदी पञ्चमी संवत् १९३४ को महाराज गुजराँवाला में पधारे। सरदार सन्तसिंहजी तथा सरदार धर्मसिंहजी आदि सज्जन उनके स्वागत के लिए रेलवे स्टेशन पर गये। उनको अति सम्मान से लाकर सरदार महासिंह के विशाल भवन में उतारा।

प्रतिदिन सायंकाल महाराज व्याख्यान देते थे। पंजाब में वे सर्वत्र बहुधा "आर्योद्देश्यरत्नमाला" के विषयों पर ही व्याख्यान देते थे। क्रमशः एक-एक विषय लेकर उसकी विस्तृत व्याख्या किया करते थे। बीच-बीच में वेद-मन्त्र, दर्शनों के सूत्र और धर्म-ग्रन्थों के श्लोक भी सुनाते जाते थे। पाखण्ड-खण्डन भी साथ-साथ होता रहता था। समय-समय पर युक्तियों-प्रतियुक्तियों का भी तार लगा देते और प्रकरणानुकूल मनोरञ्जक कहानियाँ तथा प्रहसन-रस बहा देनेवाले चुटुकुले भी कहते थे।

गुजराँवाला में उन्होंने 'आर्योद्देश्यरत्नमाला' के सारे विषय अठारह दिन में समाप्त कर दिये। उपदेश के पश्चात्, लोग उनके कथन पर तर्कनाएँ और शङ्काएँ किया करते थे। उनका उत्तर वे अति कोमल शब्दों में तुरन्त देते, उत्तर के लिए उन्हें सोचना नहीं पड़ता था।

ब्रह्मचर्य का महत्त्व

एक दिन स्वामीजी ने ब्रह्मचर्य का महत्त्व वर्णन करते हुए कहा—"सरदार हरिसिंहजी इतने वीर हुए हैं, इसका प्रबल कारण यही था कि वे पच्चीस वर्ष तक ब्रह्मचारी रहे थे। यद्यपि मेरी आयु

इस समय पचास वर्ष से ऊपर है, परन्तु कोई भी बलिष्ठ व्यक्ति सामने आये, मैं उसका हाथ पकड़ता हूँ, वह छुड़ाकर दिखलावे, अथवा मैं भुजा अकड़ाता हूँ, कोई उसे झुकाकर दिखाये।'' उस बड़ी सभा में अनेक महा-मल्ल भी उपस्थित थे, परन्तु आगे आने का साहस किसी ने भी न किया।

मुसलमान की कोठी पर इस्लाम की आलोचना

गुजराँवाला में अनेक सज्जनों के भ्रम दूर करने, संशय मिटाने और आर्यसमाज की स्थापना करने के पश्चात् महाराज फाल्गुन बदी १४ संवत् १९३४ को लाहौर पधारे और नवाब निवाज़िश अली खाँ की कोठी में ठहरे। इसी कोठी में एक दिन महाराज व्याख्यान करते हुए इस्लाम मत की समालोचना कर रहे थे। उस समय नवाब महाशय उसी उद्यान में आये हुए थे। व्याख्यान हो चुकने पर एक सज्जन ने उनसे निवेदन किया—''आपको कोई आर्य, ईसाई और मुसलमान ठहरने के लिए मकान नहीं देता। नवाब महाशय का यह बड़ा भारी अनुग्रह है कि उन्होंने कोठी दे दी है। आप यहीं इस्लाम मत पर समालोचना करने लग गये हैं। आज तो नवाब महाशय भी सुन रहे थे। कहीं ऐसा न हो कि वे भी रुष्ट हो जाएँ।''

महाराज ने उत्तर दिया—''मैं यहाँ वैदिक धर्म का प्रचार करने आया हूँ, जहाँ भी रहूँगा उसी का उपदेश करूँगा। मेरे यहाँ आने का प्रयोजन इस्लाम मत अथवा किसी अन्य पन्थ का यश गाना नहीं है। जब नवाब महाशय व्याख्यान सुन रहे थे तब मैंने उन्हें देख लिया था। मैंने जान-बूझकर उनको आर्य-धर्म का महत्त्व सुनाया है। मुझे एक नारायण के सिवाय किसी नर-नारी का डर नहीं है।''

मुलतान में धर्मोपदेश

मुलतान छावनी के प्रेमीजनों ने प्रार्थनापूर्वक महाराज को आमन्त्रित किया था। उनके आग्रहवश वे फाल्गुन सुदी ८ संवत् १९३४ को मुलतान छावनी में पहुँचे। स्वागत के लिए अनेक भद्र पुरुष रेलवे स्टेशन पर उपस्थित थे। उन्होंने स्वामीजी को सम्मानपूर्वक ले-जाकर, वेगी के उद्यान में ठहराया। उसी दिन सायं समय से उनके व्याख्यानों का आरम्भ हो गया। उनके भाषणों से नगर और छावनी के लोग प्रभावित होने लगे। धर्म-कार्यों में विघ्न डालनेवालों का भी वहाँ अभाव न था। ऐसे लोग गली-गली और कूचे-कूचे में चक्कर लगाते कहते फिरते थे कि यह ईसाइयों का नौकर है। उन्होंने

इसे कह रक्खा है कि जब सारे भारतवासियों को ईसाई बना दोगे तो तुम्हें एक लाख रुपया दिया जाएगा।

यहाँ गोसाँइयों ने सबसे अधिक ऊधम मचाया। एक दिन का वर्णन है कि स्वामीजी व्याख्यान दे रहे थे। गोसाईं लोग अपने-अपने सेवक-समूह-सहित वहाँ आ पहुँचे और लगे शंख और घड़ियाल बजाने! जय-जयकार का भी उन्होंने तार बाँध दिया। महाराज ने उनकी कलह-जनक कलुषित क्रीड़ा पर कुछ भी ध्यान न दिया और गम्भीरता से उपदेश देने में परायण रहे। अन्त में पुलिस के कान्स्टेबलों ने उन्हें खदेड़ दिया।

एक-साथ उत्तर

एक दिन मुसलमान और ईसाई सब मिलकर आये। उन्होंने महाराज पर एक बार ही नाना विषयों के अनेक प्रश्न कर डाले। उन लोगों की ऐसी धारणा थी कि एक बार ही अनेक विषयों के प्रश्न आ पड़ने पर स्वामीजी घबरा जाएँगे, वे सबका उत्तर न दे सकेंगे, परन्तु स्वामीजी ने उनके एक-एक प्रश्न का उत्तर ऐसी उत्तमता से दिया कि वे अतीव आश्चर्यमग्न हो गये और उनके योग-बल का माहात्म्य मुक्त-कण्ठ से वर्णन करने लगे।

वेदभाष्य की आलोचनाओं का उत्तर

मुलतान छावनी और नगर-निवासियों को कृतार्थ कर स्वामीजी पुनः लाहौर पधारे। यहाँ प्रतिदिन उनके प्रभावपूर्ण व्याख्यान होने लगे। स्वामीजी का विचार था कि उनका वेदभाष्य विद्यालयों और महाविद्यालयों में पढ़ाया जाए। इसके लिए स्वामीजी पंजाब के लाट महोदय सर राबर्ट आजर्टन से भी मिले। उन्होंने राज्य की ओर से कुछ प्रतियाँ क्रय कर उन्हें स्वदेशी और विदेशी पण्डितों के पास भेजकर उनकी सम्मतियाँ मँगवाईं। वे सम्मतियाँ प्रायः स्वामीजी के विरुद्ध थीं। जब वे राज्य की ओर से मुद्रित होकर प्रकाशित हुईं तब स्वामीजी ने भी उनका सन्तोषजनक उत्तर प्रकाशित कराया।

आपकी चिन्ता से दुबला हो गया हूँ

एक दिन भक्तों के साथ वार्तालाप करते हुए महाराज ने प्रसंगवश कहा—"आप मुझे इस समय अच्छा हृष्ट-पुष्ट समझते हैं, परन्तु मैं तो गङ्गातीर-वास की अपेक्षा अब कृश हो गया हूँ। आप लोगों की हित-चिन्ता ने मुझे दुर्बल बना दिया है।"

सत्संग में नींद क्यों आती है ?

एक दिन एक भक्त ने पूछा—"भगवन्! इसका क्या कारण है कि जहाँ नाच होता है, राग-रंग होता है, हास-विलास होता है, वहाँ तो सारी-सारी रात बैठे हुए बीत जाती है, नींद नहीं आती, परन्तु जहाँ सत्संग हो, धर्मोपदेश हो, वहाँ लोग थोड़ी देर में ही ऊँघने लग जाते हैं।" स्वामीजी ने उत्तर दिया—"प्रभु-कीर्तन और सत्संग-स्थल तो पुष्पों की सुकोमल शय्या है, यदि उसपर नींद नहीं आये तो और कहाँ आये ? नृत्य-गीतादि उत्तेजक भाव आत्मा के लिए काँटों का बिछौना है, उसपर निद्रा कैसे आ सकती है ?"

ईंट बरसानेवाले पुष्प-वर्षा करेंगे

लाहौर से महाराज अमृतसर पधारे और सरदार भगवान्सिंह के मकान में ठहरे। पण्डितों ने इस बार भी विरोध किया। एक दिन सात-आठ पण्डित तिलक लगाये हुए अपने चेलोंसहित शास्त्रार्थ करने के लिए आये और अकड़कर स्वामीजी के सम्मुख बैठ गये। शास्त्रार्थ तो उन्हें क्या करना था, उनके चेलों ने ईंट-पत्थर फेंकने आरम्भ कर दिये। सभा-स्थान को धूलि-वर्षा से धूसरित कर दिया। महाराज के इस अपमान को देखर भक्तजन कुपित हो उठे। उन्हें शान्त करते हुए स्वामीजी ने कहा—"मद-मदिरा से उन्मत्त जनों पर कोप नहीं करना चाहिए। हमारा काम एक वैद्य का है। उन्मत्त मनुष्य को वैद्य औषध देता है। निश्चय जानिए आज जो लोग मुझपर ईंट, पत्थर और धूल बरसाते हैं, वही लोग पछताकर कभी पुष्प-वर्षा करने लग जाएँगे।"

जब महाराज अपने डेरे पर पधारे तो एक भक्त ने कहा—"महाराज! आज दुष्ट लोगों ने आपपर बहुत धूल-राख फेंकी और आपका घोर अपमान किया।" महाराज ने कहा—"परोपकार और परहित करते समय अपना मानापमान और पराई निन्दा का परित्याग करना ही पड़ता है। इसके बिना सुधार नहीं हो सकता। मैंने आर्यसमाज रूपी उद्यान लगाया है। इससे मेरी अवस्था एक माली की है। पौधों में खाद डालते समय, राख और मिट्टी माली के सिर पर भी पड़ जाया करती है। मुझपर धूल-राख चाहे जितनी पड़े मुझे इसकी कुछ भी चिन्ता नहीं, परन्तु वाटिका हरी-भरी बनी रहे और निर्विघ्न फूले-फले।"

मैं अकेला था

पण्डित पोलोरामजी का महाराज से बड़ा प्रेम था। उन्होंने एक दिन हाथ जोड़कर विनय की, "भगवन्! आर्यसमाज में केवल थोड़े-से मनुष्य ही सम्मिलित हुए हैं। इतनी तुच्छ संख्या कोई महान् कार्य तो क्या ही कर सकेगी।" स्वामीजी ने उत्तर दिया—"आप तो बहुत हैं; सहस्त्रों मनुष्यों को अपना संगी बना सकते हैं, परन्तु तनिक मेरी ओर तो देखिए। जब मैंने कार्य का आरम्भ किया तब एकाकी और निस्सहाय था। आज परमात्मा की यह कृपा है कि आप-जैसे सहस्त्रों सज्जन सच्चे हृदय से मेरे साथ हैं और आर्य-धर्म पर न्यौछावर होने को समुद्यत हैं। पोलोराम! शुभ सबका चाहो और परिणाम परमात्मा पर छोड़ दो, निश्चय ही सफल हो जाओगे।"

परमात्मा ही रक्षक है

महाराज पूर्व की यात्रा के लिए समुद्यत थे, इसलिए पंजाबी भक्त उनके प्रस्थान-दिवस पर दुःख का अनुभव कर रहे थे। एक प्रेमी ने विनय की—"भगवन्! आपने इस प्रान्त में आर्यसमाजरूपी उद्यान तो स्थान-स्थान पर लगा दिये हैं, परन्तु आपके चले जाने के पश्चात् इनकी रक्षा कौन करेगा?" महाराज ने उत्तर दिया कि—"इस प्रान्त के लोग उत्साह और साहसवाले हैं, श्रद्धालु और वीर हैं, मुझे इनपर बड़ी आशा है। मैंने अपने सकल सामर्थ्य से भूमि को स्वच्छ बनाकर उद्यान लगाया है। खाद भी इसमें पड़ गया है। जल भी सींचा जा चुका है। अब इसके मुरझाने और कुम्हलाने की कुछ भी चिन्ता नहीं है। यह सब-कुछ होते हुए भी, ऐसे सब कार्य भगवान्-भरोसे ही किये जाते हैं, इसलिए आर्यसमाज का भी वही रक्षक है, जो इन्द्र और सूर्य को चलाता है और उनकी रक्षा करता है।"

पंजाब भ्रमण—एक सिंहावलोकन

पंजाब में ऋषि की यात्रा बहुत सफल रही। जिस समय स्वामीजी पंजाब में आये उस समय ईसाई पादरी पकी खेती को दोनों हाथों से काट रहे थे। पंजाब का शिक्षित समाज सम्मानपूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिए धड़ा-धड़ ईसाईमत में प्रविष्ट हो रहा था। स्वामीजी ने ईसाइयों से डटकर लोहा लिया और आर्ययुवकों को ईसाई होने से बचाया।

पंजाब की जनता स्वभावतः श्रद्धालु और सहृदय है। स्नेह और

विवेकपूर्ण युक्तिवाद के द्वारा उनके मस्तिष्क पर विजय पाई जा सकती है। पंजाबी यदि सोच-समझकर निश्चय कर ले तो वह काम के करने में विलम्ब नहीं करता। अन्य प्रान्त के लोग समझ ही नहीं सकते कि एक पंजाबी ने कब सोचा, कब कहा और कब किया। जितनी देर में उनका सोचना समाप्त होता है, इतनी देर में पंजाबी कर डालता है।

दयानन्द सरस्वती का ऊँचा कद, सुसंगठित मांसपेशियाँ, तेजोमय मुखमण्डल और गेरुए वस्त्रों की आभा देखते ही जन-साधारण श्रद्धा से नतमस्तक हो जाता था। वे सत्य के निर्भय वक्ता थे। स्वार्थ और लोभ का उनमें लेश भी न था। जन-कल्याण की कामना थी। वैदिक धर्म के पुनरुत्थान की भावना थी। भारत के प्राचीन गौरव को जाग्रत् करने की लालसा थी। वेद और प्राचीन शास्त्रों के वे प्रकाण्ड पण्डित थे। उनकी सूझ अनुपम थी। वे प्रतिभाशाली तथा महान् तार्किक थे।

पंजाब की जनता ने वैदिक धर्म के सत्यस्वरूप को दयानन्द सरस्वती की ओजस्विनी वाणी द्वारा सुना। उसे हृदयंगम किया। ईसाईमत की ओर बहती हुई धारा सहसा रुक गई। हिन्दूधर्म की पाखण्डलीला और कुरीतियों से विरक्त जन-समुदाय दयानन्द सरस्वती की शरण में आया, उत्साहभरे हृदय से दयानन्द सरस्वती का स्वागत किया। प्रत्येक नगर में आर्यसमाज की स्थापना होने लगी। वेदों का डंका बजने लगा। सारे भारत में पंजाब महर्षि दयानन्द सरस्वती के भक्तों में अग्रगण्य हो गया। पंजाब में स्वामी दयानन्द के आने और सफलता पाने के विषय में सबसे उत्तम यही वाक्य प्रयुक्त किये जा सकते हैं—He came, he saw and conquered. अर्थात् वे आये, उन्होंने देखा और जीत लिया।

१०

आर्यसमाज का विस्तार

रुड़की में

पंजाब-वासियों में प्राण फूँककर, ईसाई और मुसलमानों की आशाओं पर तुषारापात कर, पंजाब के प्रमुख नगरों में वैदिक धर्म का डंका बजाकर ऋषिराज जुलाई १८७८ में रुड़की में आ विराजे।

जिस दिन स्वामीजी रुड़की पधारे उसी दिन से उनके व्याख्यान आरम्भ हो गये। पहले दिन उन्होंने 'ईश्वरोक्त-ज्ञान' विषय पर व्याख्यान दिया। उनका व्याख्यान इतना हृदयग्राही था कि मुसलमानों ने भी उनकी योग्यता की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की। स्वामीजी के व्याख्यानों में इंजीनियरिंग कॉलेज के विद्यार्थी और प्रोफेसर भी आया करते थे। वे लोग प्राय: विज्ञान-विषय पर वार्तालाप करते थे और अपने प्रश्नों का उत्तर पाकर सन्तोष-लाभ करते थे। एक दिन स्वामीजी ने 'प्राचीन भारत में विज्ञान' विषय पर ही व्याख्यान दिया, जिसमें उन्होंने वेदों तथा आर्ष-ग्रन्थों के अनेक प्रमाण देकर सिद्ध किया कि प्राय: सभी मुख्य-मुख्य वैज्ञानिक सिद्धान्त जिनपर नये विज्ञान को गर्व है, हमारे साहित्य में विद्यमान हैं। एक दिन स्वामीजी ने डारविन के विकासवाद की भी युक्तियुक्त समालोचना की।

नियमपालन में दृढ़ता

स्वामीजी नियत समय पर व्याख्यान आरम्भ कर दिया करते थे। उपस्थिति की प्रतीक्षा नहीं करते थे। मनुष्य थोड़े हों अथवा अधिक, वे समय के परिपालन में नहीं चूकते थे। एक दिन दैवयोग से व्याख्यान के आरम्भ के समय पण्डित बलदेवसहाय और उमरावसिंहजी—ये ही दो श्रोता उपस्थित थे। इन्होंने श्रीचरणों से बहुतेरी विनय की कि भगवन्! दस-बारह पल-पर्यन्त प्रतीक्षा कर लीजिए। लोग अभी आ जाते हैं, परन्तु स्वामीजी ने नहीं माना। ठीक समय पर भाषण आरम्भ कर दिया। उस दिन से लोग इतने समय-पालक हो गये कि व्याख्यान के नियत समय से बहुत पहले ही आकर बैठ जाते थे।

अद्वैतवाद का खण्डन

भोटूसिंह नाम का एक वेदान्ती सज्जन स्वामीजी के पास आकर

कहने लगा कि आप परा-विद्या नहीं जानते। यदि आपको परा-विद्या आती होती तो आप द्वैतवाद का प्रचार कभी न करते। उस समय उसने अनेक उपनिषद् वाक्य बोलकर बताया कि यह जीवात्मा ही ब्रह्म है। महाराज ने कहा कि भोटूसिंह! क्या आप भी ब्रह्म हैं? उसने उत्तर दिया कि निस्सन्देह मैं ब्रह्म हूँ। फिर स्वामीजी ने उनसे पूछा कि इस चराचर सृष्टि को किसने रचा है? भोटूसिंह ने कहा कि ब्रह्म ने।

तब स्वामीजी ने पास ही मरी पड़ी मक्खी को उठाकर आगे रक्खा और कहा कि यदि आप ईश्वर हैं तो इसमें जीवन डाल दीजिए, जिससे आपके ईश्वरत्व का पूरा परिचय प्राप्त हो जाए। इस पर भोटूसिंह मूक और लज्जित हो गया।

अन्तरंग सभा में उपदेश

एक दिन अन्तरंग सभा के सदस्यों के आग्रह पर स्वामीजी ने उन्हें उपदेश देते हुए कहा—"सभा में हठ और दुराग्रह नहीं करना चाहिए। अपने पक्ष की पुष्टि में चाहे जितनी युक्तियाँ दो, परन्तु प्रकृति और हृदय में ऐंठन न आने दो। किसी बात को पकड़कर इतना नहीं खींचना चाहिए कि परस्पर के भ्रातृ-भाव का तार ही टूट जाए। बहुमतानुसार जो मत उत्तीर्ण हो जाए, उसपर फिर हठ नहीं करना चाहिए। अन्तरंग सभा के कार्यों को प्रकाशित करना उचित नहीं है। वह मनुष्य अतीव तुच्छ और ओछा होता है जो किसी गुप्त सम्मति को गुप्त नहीं रख सकता। ऐसा मनुष्य विश्वासपात्र भी नहीं रहता।"

मेरठ में धर्म-प्रचार

रुड़की से प्रस्थान कर महाराज अलीगढ़ होते हुए मेरठ पधारे और ला० दामोदरदास की कोठी में सुशोभित हुए। उसी दिन से स्वामीजी के व्याख्यान आरम्भ हो गये। महाराज ने अपने प्रभावशाली व्याख्यानों में मत-मतान्तरों की पोल खोली, उनकी काल्पनिक कथाओं के चित्र खींच, उनकी असम्भव बातों पर मनोरम टीका-टिप्पणी की। इससे पौराणिक दल में हलचल मच गई, परन्तु शास्त्रार्थ-समर में आने का साहस किसी को नहीं हुआ।

मेरा पाँव उठा दो

महाशय बेनीप्रसादजी प्रतिदिन श्री-सत्संग में जाया करते थे। उन दिनों वे तरुण थे। एक दिन वे अपने छह-सात मित्रोंसहित

श्रीसेवा में गये। रात के नौ बजे का समय था। उन्होंने महाराज से निवेदन किया कि भगवन्! आज हम आपके पाँव दबाना चाहते हैं। स्वामीजी ताड़ गये कि ये लोग पैर दबाने के बहाने मेरा बल देखना चाहते हैं। मुस्कराते हुए बोले कि पाँव पीछे दबाना, पहले आप सब मिलकर हमारे पाँव को भूमि पर से तो उठाओ। स्वामीजी ने पाँव पसार दिया और वे सात-आठ युवक, सारा बल लगाकर भी, उसे न उठा सके। अन्त को पानी-पानी होकर हाँपने लगे।

ज्योतिषजी अवाक् रह गये

पण्डित गौरीशंकरजी ज्योतिषी एक दिन अपने मित्रोंसहित स्वामीजी की सेवा में उपस्थित हुए। उस समय मध्याह्नकाल था। स्वामीजी ने उनसे कहा—"मैं पच्चीस मिनट तक नींद लेने के पश्चात् आपसे वार्तालाप करूँगा। इतनी देर आप सुखपूर्वक बाहर विराजिए।" थोड़ी देर में स्वामीजी का प्रेमी एक तहसीलदार दर्शनार्थ आया। गौरीशंकर ने उससे कहा—"महाराज को पच्चीस मिनट तक सोना है। उन्हें सोये पन्द्रह मिनट हुए हैं। दस मिनट और बीतने पर वे अवश्य जाग उठेंगे, इसलिए आप भी बैठ जाइए। ठीक पच्चीस मिनट बीतने पर महाराज की निद्रा भंग हो गई और वे जाग उठे। इससे उन महाशयों को बड़ा ही आश्चर्य हुआ।" गौरीशंकर से महाराज ने वार्ता-विनोद में पूछा—"आप किस प्रयोजन के लिए यहाँ आये हैं?" उसने निवेदन किया—"भगवन्! मैं ज्योतिषी हूँ। कुछ प्राप्ति की लालसा से ही यहाँ आया हूँ।" महाराज ने हँसते-हँसते कहा—"यहाँ आते समय यदि आपको यह ज्ञान था कि कुछ प्राप्ति हो जाएगी तो आपका ज्योतिष्-ज्ञान मिथ्या है, क्योंकि मैं आपको कुछ भी नहीं दूँगा और यदि आपका ज्योतिष् यह बताता था कि कुछ प्राप्ति नहीं होगी तो आप व्यर्थ-कार्यकर्त्ता सिद्ध हो गये। तब इस बात का क्या प्रमाण है कि आप ज्योतिष्-विद्या की व्यर्थ की बातें नहीं बताते फिरते?" गौरीशंकरजी को इसका कुछ भी उत्तर नहीं सूझा।

स्वामीजी का योगबल

एक दिन महाराज की सेवा में नहर के जिलेदार श्री सेवारामजी आये। जब वे जाने लगे तब उन्होंने स्वामीजी से निवेदन किया—"भगवन्! यदि मैं नहर-विभाग में डिप्टी हो गया तो पहले मास का वेतन वेदभाष्य के लिए अर्पण करूँगा।" कुछ कालान्तर में उनकी

मन:कामना पूरी हो गई। अभी उन्होंने अपने इष्ट-मित्रों को भी इसका समाचार नहीं दिया था कि स्वामीजी का पत्र उन्हें प्राप्त हुआ, जिसमें महाराज ने उन्हें नवीन पद-प्राप्ति की बधाई देते हुए उनका प्रण भी स्मरण कराया था। इसपर सेवारामजी को बड़ा आश्चर्य हुआ कि स्वामीजी को इस बात का पता कैसे लग गया?

हमें कुशल कहाँ

एक दिन अनेक तिलक-मालाधारी ब्राह्मण स्वामीजी के निकट बैठे थे। उसी समय एक भद्र पुरुष ने आकर उन्हें नमस्कार किया और कुशल पूछा। महाराज ने उत्तर दिया कि—"हमें कुशल कहाँ?" भक्तों ने पूछा—"भगवन्! क्या कोई मानस खेद है?"

उस समय महाराज ने लम्बी साँस भरकर कहा—"इससे बढ़कर खेद और क्या हो सकता है कि ये ब्राह्मण, जो पास बैठे हैं अपने कर्त्तव्य कर्म से कोसों दूर है! बाहरी आडम्बर और पाखण्ड से अधिक प्यार करते हैं। धर्म के प्रचार का इन्हें ध्यान तक नहीं। आर्य-सन्तान की दीन-हीन दशा पर इन्हें तनिक भी दया नहीं आती।" महाराज की प्रकृति कोमल थी। उनका हृदय इतना मृदु था कि आर्यजाति तथा आर्य-धर्म की दु:ख-कथा और दुर्दशा का वर्णन करते समय उनका जी भर आता था और नेत्र अश्रुविमोचन करने लग जाते थे।

महाराज के मेरठ पधारने से नगर में बड़ा धर्मान्दोलन हुआ, लोगों में सत्य की जिज्ञासा उत्पन्न हो गई। अनेक व्यक्तियों ने अपने जीवन का निर्माण किया। वहाँ आर्यसमाज की स्थापना भी हो गई।

मेरठ से प्रस्थान कर स्वामीजी दिल्ली आये। यहाँ की जनता को अपने अमृतमय उपदेशों से तृप्त कर और आर्यसमाज की स्थापना कर स्वामीजी जयपुर होते हुए अजमेर जा विराजे और व्याख्यान-वारि-वर्षा करने लगे। यहाँ विविध विषयों पर उनके अनेक उत्तमोत्तम उपदेश हुए।

स्वामीजी ने यहाँ एक व्याख्यान ईसाईमत पर भी दिया। एक ईसाई पादरी से प्रश्नोत्तर भी हुए, जिससे जनता पर अत्युत्तम प्रभाव पड़ा और ईसाईमत की वास्तविकता की पोल खुल गई।

धनुर्वेद के ढाई पन्ने

अजमेर में एक दिन व्यख्यान देते समय स्वामीजी ने पुराने ढाई पन्ने उठाकर दिखाये और कहा कि मैंने अखिल आर्यावर्त्त में धनुर्वेद

को खोजा, परन्तु केवल ढाई पत्रे ही मिले। यदि मेरे जीवन की लड़ी बनी रही तो मैं वेदों से धनुर्वेद का प्रकाश अवश्यमेव कर दूँगा।

दयालु दयानन्द

स्वामीजी के हृदय में भारत के निर्धनों के लिए अपार दया निवास करती थी। एक दिन वे व्याख्यान दे रहे थे। उसी समय समाचार मिला कि भरतपुरिये चमारों के गंज में आग लग गई है और उनके घास-फूस के मकान जलकर राख का ढेर हो गये हैं। यह सुनते ही, उनके दयालु हृदय में दया उमड़ आई। उनके त्राण तथा सहायता के लिए उन्होंने अपने पास से कुछ द्रव्य दिया और दूसरे लोगों को भी इसके लिए प्रबल प्रेरणा की। उनके उपदेश से तत्काल पर्याप्त रुपया एकत्र हो गया।

निर्भीक दयानन्द

अजमेर के पश्चात् मसूदा और नसीराबाद के निवासियों को अपने अमृतमय उपदेशों से कृतार्थ कर स्वामीजी जयपुर जा विराजे। स्वामीजी के खण्डनात्मक व्याख्यानों से जयपुराधीश अप्रसन्न हो गये। उनकी अप्रसन्नता से भयभीत होकर ठाकुर लक्ष्मणसिंह ने कहा—"भगवन्! ऐसी अवस्था में आपका यहाँ रहना उचित नहीं है, श्रीचरणों को कहीं कोई कष्ट-क्लेश न भोगना पड़े।" स्वामीजी ने उत्तर दिया—"ठाकुर महाशय! आप हमारे विषय में सर्वथा निश्चिन्त रहिए। मैं विपत्ति और बाधाओं के कारण अपने लक्ष्य से विचलित नहीं हो सकता। मुझे इन बातों का भय भी नहीं है।"

प्रथम गोशाला की स्थापना

जयपुर से प्रस्थान कर स्वामीजी रिवाड़ी पधारे और नगर से दूर एक उद्यान में डेरा डाला। यहाँ स्वामीजी के ग्यारह व्याख्यान हुए। इन व्याख्यानों में स्वामीजी ने कुरीतियों का प्रबल खण्डन किया। गायत्री के महत्त्व पर भी एक अत्युत्तम उपदेश हुआ। स्वामीजी के उपदेशों से आर्यसमाज स्थापित हो गया। राव युधिष्ठिर को प्रेरणा देकर एक गोशाला भी आरम्भ की। इससे पूर्व समस्त भारत में कहीं गोशाला नहीं थी।

हरद्वार कुम्भ मेले में

रिवाड़ी से स्वामीजी दिल्ली आये। इस बार केवल तीन व्याख्यान देकर हरद्वार के कुम्भ मेले के लिए प्रस्थान किया। मेरठ में उतरकर उन्होंने विज्ञापन मुद्रित कराकर साथ लिये और मार्ग में सहारनपुर

और रुड़की ठहरते हुए फाल्गुन कृष्ण १४ सं० १९३५ को स्वामीजी ज्वालापुर पहुँचे। वहाँ वे मूला मिस्त्री के बंगले में विराजमान हुए और प्रतिदिन धर्मोपदेश करने लगे।

मुसलमान ने मांस खाना छोड़ा

ज्वालापुर में राव ओजखाँ नाम के एक सम्भ्रान्त व्यक्ति निवास करते थे। वे स्वामीजी के सत्संग में आया करते थे। एक दिन उन्होंने पूछा कि—"भगवन्! क्या गो-रक्षा अन्य सब जीवों की रक्षा से अच्छी है?" स्वामीजी ने उत्तर दिया—"हाँ, गो-रक्षा सर्वोत्तम है और इसमें सबसे अधिक लाभ है। गो-रक्षा करना सब मनुष्यों का कर्त्तव्य है।"

ओजखाँ महाशय ने यह भी पूछा—"आर्यों में नित्य नहाने का नियम किस नींव पर रक्खा गया है?" स्वामीजी ने उत्तर दिया—"आयुर्वेद विद्या के अनुसार प्रतिदिन स्नान करना बल-पुष्टि का वर्धक, आरोग्यदाता तथा स्वास्थ्य-प्रदाता है। इससे देह में स्वच्छता और स्फूर्ति बनी रहती है।" राव महाशय ने स्वामीजी का कथन स्वीकार कर लिया और प्रभावित होकर मांस खाना छोड़ दिया।

हरद्वार कुम्भ में स्वामीजी की धूम

विज्ञापनों द्वारा सर्वसाधारण को सूचित कर दिया गया कि स्वामीजी हरद्वार में पधारकर मूला मिस्त्री के खेतों में ठहरे हैं। जो महाशय उनसे लाभ उठाना चाहें, वे उपर्युक्त स्थान पर उन्हें मिलें।

विज्ञापन के निकलते ही, सारे मेले में स्वामीजी का नाम गूँज गया। सहस्रों नर-नारी उनके उपदेशों में आने लगे। साधु लोग भी टोलियाँ और मण्डलियाँ बनाकर आते थे। महाराज ने जब तत्कालीन कुरीतियों पर टीका-टिप्पणी चढ़ाई, कुप्रथाओं पर कठोर कुठाराघात किया और वेषमात्रोपजीवी जनों की समालोचना की तब सारा साधु-सागर संक्षुब्ध हो गया। महन्तों के आसन डोलने लगे। मण्डलेश्वर अपनी मण्डलियों-सहित घबरा उठे। उन दिनों में जहाँ जाओ, जिधर देखो, लोग स्वामी दयानन्दजी का ही कथोपकथन करते मिलते। कई पौराणिक पण्डित विरोध करने के लिए कटि-बद्ध हुए, परन्तु जब सारा सामर्थ्य लगाकर भी वे कुछ न कर सके तो अन्त में जी छोड़ बैठे।

आनन्दवनजी परास्त

एक दिन तम्बू के द्वार खुले हुए थे। महाराज उसमें बैठे कार्य

कर रहे थे। उसी समय एक आनन्दवन नामक परमहंस वहाँ पधारे। उनके एक हाथ में कमण्डलु, दूसरे में दण्ड और तन पर एक लम्बा, उज्ज्वल चोला शोभायमान था। उनके साथ कोई दस शिष्य थे। ज्यों ही स्वामीजी ने आनन्दवनजी को भीतर पदार्पण करते देखा, वे तत्काल आसन से उठ खड़े हुए और तम्बू-द्वार पर जाकर उनका स्वागत किया। उनको उचित आसन पर बैठाया। उसी समय दोनों में शास्त्रार्थ आरम्भ हो गया। जब दिन के ग्यारह बजे तो स्वामीजी के सेवक ने आकर निवेदन किया—"भगवन्! भोजन प्रस्तुत है।" स्वामीजी ने अतिथि से भोजन के लिए कहा तो वे बोले कि जब तक इस प्रश्न का निर्णय न हो ले, हम भोजन नहीं करेंगे। शास्त्रार्थ द्वैत-अद्वैत पर था। स्वामीजी चारों वेद और पचास-साठ अन्य पुस्तकों को पास रखकर, प्रमाणों के प्रबल अस्त्रपात से परमहंस आनन्दवनजी के सघन-संशय-वन का उच्छेद करने लगे। जब द्वन्द्व-युद्ध होते-होते दिन के दो बज गये तब वे दोनों महात्मा उठ खड़े हुए। थोड़े-से वार्तालाप के उपरान्त आनन्दवनजी ने अपने शिष्यों को सम्बोधित करके कहा—"मैंने स्वामीजी के द्वैत-सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया है। आज इनकी युक्तियों की वायु ने मेरे अहं ब्रह्मवाद के घमण्डरूप घोर घनघटाटोप को उड़ा दिया है। अब आपको भी ऐसा ही करना उचित है।"

फिर तो महात्मा श्री-उपदेशों में प्राय: आया करते और दत्तचित होकर सुना करते। वे संस्कृत के धुरन्धर पण्डित थे और उनकी आयु लगभग अस्सी वर्ष होगी।

आओ भाई लक्कड़-पूजको!

स्वामीजी के व्याख्यानों में निर्मले साधु बड़ी भारी संख्या में आया करते थे। उनमें से बहुतों का महाराज से प्रेम भी हो गया था। निर्मलों के अखाड़े में ये साधु झण्डे को नमस्कार किया करते हैं। जब एक दिन व्याख्यान में निर्मलों का एक दल आया तो महाराज ने मुस्कराकर कहा—"आओ भाई लक्कड़-पूजको! बैठ जाओ।" यह सुनकर सारे साधु खिलखिलाकर हँस पड़े। इसके उपरान्त स्वामीजी ने उन्हें उपदेश दिया—"आप लोग रात-दिन तो आत्मवाद छाँटते रहते हो, उपनिषद्-वचनों के घोटे लगाते हो; वेदान्त-सूत्रों की छानबीन में प्रवीणता प्रकट करते हो, कर्मकाण्ड की कतरब्योंत में कौशल दिखाते हो, परन्तु भ्रम में इतने ग्रस्त हो कि जड़-वस्तुओं को भी नमस्कार

करते हो।'' स्वामीजी के कथन का उनपर बड़ा प्रभाव पड़ा।

इससे अधिक वेदना क्या होगी!

महाराज को सम्प्रदायों के आडम्बर देखकर देश की अधोगति पर अति दया आती थी। वे कहा करते थे कि इन पन्थाई लोगों ने सन्मार्ग का लोप कर दिया है। ये लोग अपनी प्रतिष्ठा की लालसा में अपनी-अपनी खिचड़ी पृथक् ही पकाते हैं। जनता में एकमत होने ही नहीं देते। वे भारत के सामाजिक बिगाड़ पर भी भारी मार्मिक वेदना का अनुभव करते थे। एक दिन का वर्णन है कि स्वामीजी बैठे-बैठे लेट गये और फिर उठकर टहलने लगे। एक भक्त ने विनयपूर्वक पूछा—''महाराज को आज क्या कोई वेदना हो रही है?'' उन्होंने एक लम्बी साँस भरकर कहा—''भाई! इससे अधिक हृदय-विदारक दारुण वेदना और क्या हो सकती है कि विधवाओं की दु:खभरी आहों से, अनाथों के निरन्तर आर्त्तनाद से और गो-वध के जघन्य पाप से इस देश का सर्वनाश हो रहा है।'' एक कवि के शब्दों में स्वामीजी की स्थिति कुछ ऐसी थी—

काँटा लगे किसी को तड़पते हैं हम ए 'मीर'।
सारे जहाँ का दर्द हमारे जिगर में है॥

रुड़की के तहसीलदार नज़फ़अली तो स्वामीजी का उपदेश सुनकर मोहित हो गये थे। वे उन्हें सिद्ध पुरुष मानने लगे थे। उनको निश्चय हो गया था कि जैसा आत्मिक ज्ञान संस्कृत-पुस्तकों में पाया जाता है, वैसा दूसरे मतों की पुस्तकों में नहीं मिलता।

आर्यभाषा को राष्ट्रभाषा का रूप देनेवाले प्रथम पुरुष

आर्यभाषा (हिन्दी) के प्रचार में सबसे पहले यदि किसी ने प्रयत्न किया तो वे स्वामी दयानन्दजी थे। गुर्जर देश में उत्पन्न होकर, देश-देशान्तरों में आर्यसमाज स्थापित करने के अनन्तर भी उन्होंने आर्यभाषा को अपनाया, यह उनका एक तुलनातीत कर्म है।

स्वामी दयानन्द गुर्जरभाषा के पूर्ण पण्डित थे। अपने मुम्बईवास में उन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे, परन्तु वे सब आर्यभाषा में ही लिखे; गुर्जरभाषा में एक भी नहीं लिखा। अपने जन्म-प्रान्त में भी अपनी मातृ-भाषा को छोड़कर, मौलिक आर्यभाषा की जड़ में जीवन डालनेवाले श्रीदयानन्दजी ही थे। निम्नलिखित प्रश्नोत्तर से उनका आर्यभाषा के प्रति असीम स्नेह प्रकट होता है—

हरद्वार में एक दिन महाराज अपने आसन पर बैठे सत्संगियों

को समझा रहे थे। बीच में एक सज्जन ने निवेदन किया—"यदि आप अपनी पुस्तकों का अनुवाद कराकर फ़ारसी अक्षरों में छपवा दें, तो पञ्जाबादि प्रान्तों में जो लोग नागरी अक्षर नहीं जानते उन्हें आर्यधर्म के जानने में बड़ी सुविधा हो जाए।"

महाराज ने उत्तर दिया—"अनुवाद तो विदेशियों के लिए हुआ करता है। नागरी के अक्षर थोड़े दिनों में सीखे जा सकते हैं। आर्यभाषा का सीखना भी कोई कठिन काम है? फ़ारसी और अरबी शब्दों को छोड़कर ब्रह्मावर्त्त की सभ्य भाषा ही आर्यभाषा है। यह अतिकोमल और सुगम है। जो इस देश में उत्पन्न होकर अपनी भाषा के सीखने में कुछ भी परिश्रम नहीं करता, उससे और क्या आशा की जा सकती है? उसमें धर्म-लगन है, इसका भी क्या प्रमाण है? आप तो अनुवाद की सम्मति देते हैं, परन्तु दयानन्द के नेत्र तो वह दिन देखना चाहते हैं कि जब काश्मीर से कन्याकुमारी तक और अटक से कटक तक नागरी अक्षरों का प्रचार होगा। मैंने आर्यावर्त्त-भर में भाषा का ऐक्य सम्पादन करने के लिए ही अपने सकल ग्रन्थ आर्यभाषा में लिखे और प्रकाशित किये हैं।"

देहरादून में वेदोपदेश

हरद्वार में प्रचार कर महाराज विश्राम लेने के लिए देहरादून चले गये। महाराज के पहुँचते ही सारे नगर में उनके शुभागमन का समाचार फैल गया और सत्संगियों की टोलियाँ आने लगीं। यद्यपि स्वामीजी स्वस्थ नहीं थे, फिर भी अतिप्रसन्नतापूर्वक वे आगन्तुकों से वार्तालाप करते रहे। कुछ दिन विश्राम करने के पश्चात् स्वामीजी ने व्याख्यान देना आरम्भ कर दिया। स्वामीजी के व्याख्यानों को सुनकर अनेक सज्जन उनके अनुयायी बन गये और आर्यसमाज की स्थापना का उद्योग करने लगे।

राजनीति पर मार्मिक व्याख्यान

देहरादून से प्रस्थान कर स्वामीजी सहारनपुर और मेरठ होते हुए मुरादाबाद आये और जयकृष्णजी के बँगले में सुशोभित हुए। वे अभी तक पूर्ण नीरोग नहीं हुए थे, अतः इस बार उनके तीन ही व्याख्यान हुए।

स्वामीजी जहाँ अद्वितीय दार्शनिक थे, परम योगी थे, धर्म के मर्म के अनुपम ज्ञाता थे, अपने समय के महान् सुधारक थे और भारत-भर में एक ही विख्यात वक्ता थे, वहाँ वे राजनीति और

राजधर्म के भी एक धुरन्धर पण्डित थे। महाराज का समय, राजतन्त्र-शासन और दमन-नीति के यौवन का युग था। निर्भय परिव्राजकाचार्य समयानुसार तीव्र समालोचना और टीका-टिप्पणी भी किया करते थे, परन्तु उनके कथन इतने दार्शनिक, इतने निर्मल और इतने व्यापी होते थे कि उन्हें सुनकर राज-कर्मचारी भी प्रसन्नता प्रदर्शित करते थे।

मुरादाबाद के कलेक्टर स्पेडिंग महाशय ने एक दिन श्री-सेवा में निवेदन किया कि आप राष्ट्र-नीति पर एक व्याख्यान देना स्वीकार कीजिए। उसका सारा प्रबन्ध मैं स्वयं करूँगा। महाराज ने उनकी प्रार्थना को स्वीकार कर लिया। कलेक्टर महाशय ने छावनी में व्याख्यान का प्रबन्ध किया और लोगों के प्रवेश के लिए टिकट वितरण कर दिये। नगर के सज्जनों और सब आर्यजनों को टिकट मिल गये। नियत समय पर महाराज ने भारतीय और यूरोपियन सज्जनों को सम्बोधित करते हुए राष्ट्र-नीति के उदात्त सिद्धान्तों का निरूपण किया। शासकों और शासितों के सम्बन्ध बताये, शासन-नीति के पक्षपात आदि दोषों का वर्णन किया। उनका यह व्याख्यान, कई घण्टों तक होता रहा और देशी-विदेशी सभी दत्तचित होकर सुनते रहे। समाप्ति पर स्पेडिंग महाशय ने खड़े होकर धन्यवादपूर्वक स्वामीजी की प्रशंसा की और कहा—"महाराज ने जो कुछ वर्णन किया है वह सर्वथा सत्य है। यदि इस नीति के अनुसार राजा-प्रजा के सम्बन्ध होते तो जो कष्ट सिपाही विद्रोह (प्रथम स्वातन्त्र्य संग्राम) में उठाने पड़े हैं, वे कभी सामने न आते।"

अपनी भाषा में वार्तालाप उत्तम

उसी स्थान में, कालीप्रसन्न नामक एक वकील स्वामीजी के निकट बैठा, अंग्रेज़ी में बातचीत कर रहा था। उन्होंने उसे कहा—"महाशय! अपनी भाषा में वार्तालाप करना ही उत्तम है। स्वदेशियों में बैठकर विदेशी भाषा में बोलने लग जाना भला प्रतीत नहीं होता, प्रत्युत ऐसा करना भद्दा लगता है और इससे घमण्ड भी प्रकट होता है। यदि छिपाकर बात करने का प्रयोजन हो तो भी ठीक नहीं। यहाँ अंग्रेज़ी समझनेवाले अनेक बैठे हैं। किसी से छिपाकर काना-फूँसी करना धर्मविरुद्ध, चोरकर्म है।"

'नमस्ते' अभिवादन ही उचित एवं सर्वश्रेष्ठ

श्रीइन्द्रमणिजी ने स्वामीजी से निवेदन किया—"आप परस्पर

'नमस्ते' कहने का आदेश करते हैं, परन्तु हमने पहले 'जयगोपाल' शब्द चलाया था फिर 'परमात्मा जयते' कहना आरम्भ कर दिया। पहले शब्दों पर ही लोगों ने बहुतेरे कटाक्ष किये थे अब यदि नया 'नमस्ते' शब्द चलाया तो लोग हमारी खिल्ली उड़ाने लग जाएँगे। वैसे भी देखें तो मेल-मिलाप में 'परमात्मा जयते' ऐसा कहना बहुत ही उचित है। छोटा तो बड़े को 'नमस्ते' करता अच्छा लगता है, परन्तु पिता पुत्र को, स्वामी नौकर को और राजा अपने एक चपरासी को 'नमस्ते' कहे यह बात शोभा नहीं देती।'' स्वामीजी ने कहा—''इन्द्रमणिजी! अभिमानी पुरुष बड़ा नहीं होता। बड़ा वही है जिसने अपने अहंकार को जीता है। जो वास्तव में बड़े हैं वे अपने बड़प्पन को आप प्रकट नहीं किया करते। हमारे पूर्वजों में जितने भी ऋषि-महर्षि और राजे-महाराजे हुए हैं उनमें से एक ने भी अपने मुख से अपनी बड़ाई नहीं की। 'नमस्ते' का अर्थ पाँव पकड़ना नहीं है, इसका अर्थ है—सम्मान-सत्कार। सभी ऊँचे-नीचे और छोटे-बड़े मेल-मिलाप में सम्मान-सत्कार के भागी हैं। सर्वत्र होता भी ऐसा ही है। अच्छा, आप ही अपने अन्तःकरण से कहें कि जब कोई मनुष्य आपके आवास पर आता है तब उस समय आपके हृदय में क्या भाव उत्पन्न होता है?''

इन्द्रमणिजी इसपर मौन साधे रहे। तब स्वामीजी ने फिर कहा—''महाशय! इस बात को सभी जानते हैं कि जब कोई पूज्य और प्रतिष्ठित मनुष्य घर पर आता है तब उसे देख अभ्युत्थान और झुककर सम्मान देने को जी चाहता है। पुत्र से प्यार करने का भाव उत्पन्न होता है। नौकर-चाकरों को अन्न-जल और आइए, बैठिए आदि शब्दों से सत्कृत करने की हृदय प्रेरणा करता है। ऊपर कहे सारे भावों का प्रकाश 'नमस्ते' से तो हो जाता है, परन्तु उस समय परमेश्वर का नाम लेना असंगत है, आत्मगत-भावों के विपरीत है। जो भाव भीतर हो उसी को प्रकट करना शोभा देता है। पुरातनकाल में आर्यलोग 'नमस्ते' ही कहा करते थे। यह शब्द वेदों में भी अनेक बार आया है। आर्यजनों में इसी का प्रचार होना चाहिए।''

कायमगंज के निवासी श्रीरामलालजी वर्षा-ऋतु के कष्ट झेलते हुए मुरादाबाद में इसलिए आकर ठहरे थे कि स्वामीजी से यज्ञोपवीत धारण करें। वे महाशय इन्द्रमणिजी के पास टिके हुए थे। एक दिन इन्द्रमणिजी ने रामलालजी को साथ ले-जाकर महाराज की सेवा में विनय की—''भगवन्! ये महाशय बड़े श्रद्धालु भक्त हैं। आपसे

धर्म-शिक्षा ग्रहण करना चाहते हैं। इसी लगन में बड़े कष्ट सहते हुए यहाँ आये हैं।'' महाराज ने रामलाल के धर्मभाव और दृढ़ धारणा को देखकर, शुभ समय पर विधिपूर्वक, उसे यज्ञोपवीत प्रदान किया। गायत्री का उपदेश करके शुभ शिक्षा दी। जब उसने गायत्री का शुद्ध उच्चारण स्वामीजी को सुनाया तब उन्होंने बड़े वत्सलभाव से उसे आशीर्वचन कहा। अपना परम पुनीत हाथ उसकी पीठ पर प्रेम से फेरते हुए कहा—''वत्स! हमारा शरीर बहुत देर तक नहीं रहेगा। आप आजीवन हमारी पुस्तकों से उपदेश लेते रहना। जहाँ तक बन पड़े अपने भूले-भटके भाइयों को भी सन्मार्ग दिखलाते रहना।''

महाशय रामलाल ने गुरुदेव के उपदेशामृत को सिर-आँखों पर स्वीकार कर अन्तःकरण में बसा लिया। रामलालजी दस दिनपर्यन्त श्री-चरण-शरण में सत्संग लाभ करते रहे। एक दिन उन्होंने बद्धाञ्जलि होकर विनय की—''भगवन्! आपके आरोग्य पर कोई आघात हुआ जान पड़ता है।'' महाराज ने कहा—''इस देह को कई बार विकट तथा विषम विष दिया गया है, ऐसे कालकूट विषों को योग-क्रियाओं से वमन तथा वस्ति कर्म द्वारा कितना ही निकाल दिया जाए, परन्तु रक्त में मिश्रित हुआ हलाहल विष सर्वांश में नहीं निकलता। उसका प्रभाव कुछ-न-कुछ बना ही रहता है। यही कारण है कि मेरे स्वास्थ्य की आधारशिला हिल गई है। यदि मुझपर ऐसे भीषण विष-प्रयोग न किये जाते तो इस शरीर पर शिथिलता का चिह्न एक शताब्दी में तो कदापि न दीख पड़ता और न ही इतनी देर तक जरा-रोग इसके पास फटकने पाता।''

आप शिष्य क्यों नहीं बना लेते ?

रामलालजी ने फिर प्रार्थना की—''गुरुदेव! जब आप अपने जनों को नैराश्य निशा दिखानेवाला शब्द कहने लग गये हैं तब आप ऐसे सुयोग्य शिष्य क्यों नहीं बनाते जो नौका के निपुण नाविक बन सकें, जो सर्वस्व स्वाहा करके भी आपके उद्देश्य की पालना करें ?''

महाराज ने गम्भीरभाव से कहा—''वत्स! मैंने पहले-पहल पाठशालाएँ चलाकर अनेक पण्डित शिष्य बनाये। वे लोग मेरे सम्मुख तो बहुतेरी अनुनय-विनय प्रदर्शित करते, परन्तु मुझसे पृथक् होकर वैसे-के-वैसे पौराणिक बने रहते। कई एक तो मेरे प्रतिकूल अपनी चालों का ताना-बाना बुनने लग जाते। अब तो मुझे पूर्ण निश्चय हो गया है कि इस जन्म में मुझे सुयोग्य शिष्य नहीं मिलेगा। इसका

प्रबल कारण भी है। मैं तीव्र वैराग्य-वश यौवन-काल ही में अपने पूज्य माता-पितादि परिवार-परिजनों का परित्याग कर मृत्यु को जीतने के लिए योगाभ्यास करता रहा हूँ। मैंने घर छोड़ते समय माता पिता की ममता का कोई ध्यान नहीं किया। पितृ-ऋण भी नहीं उतारा। ये ऐसे कर्म हैं जो मुझे सुयोग्य शिष्य मिलने के मार्ग में प्रबल-प्रतिबन्धक हैं, परन्तु निराशा की कोई बात नहीं है। आर्यसमाज में ऐसे जन अवश्य प्रकट होंगे, जो मेरे परमलक्ष्य का पूर्णता से पालन करेंगे।''

पादरी स्काट से संवाद

मुरादाबाद से प्रस्थान कर स्वामीजी बदायूँ होते हुए भाद्रपद कृष्ण १२ संवत् १९३६ (१४ अगस्त १८७९) को बरेली में ला० लक्ष्मीनारायण की कोठी में सुशोभित हुए।

चाँदापुर में महर्षि का पादरी स्काट के साथ संवाद हुआ था। उसी समय से स्काट महाशय स्वामीजी के श्रद्धालु भक्त बन गये थे। बरेली में भी स्काट महोदय का स्वामीजी के साथ—१. आवागमन, २. ईश्वर देहधारण करता है और ३. ईश्वर पापों को क्षमा करता है—इन तीन विषयों पर तीन दिन तक शान्तिपूर्वक शास्त्रार्थ हुआ। जनता पर उत्तम प्रभाव पड़ा।

दोष बच्चों-के-बच्चों का है

स्वामीजी अपने प्रण-पालन पर बड़ा ध्यान दिया करते थे। एक शनिवार को लोगों ने कहा—''महाराज! कल छुट्टी का दिन है, इसलिए नियत समय से एक घण्टा पहले व्याख्यान आरम्भ कीजिएगा।'' उन्होंने उत्तर में कहा—''मैं नगर से डेढ़ कोस के अन्तर पर ठहरा हूँ, यदि गाड़ी समय पर पहुँच गई तो समय पर अवश्य आ जाऊँगा।'' ला० लक्ष्मीनारायण ने निवेदन किया कि गाड़ी का प्रबन्ध मैं कर दूँगा। अगले दिन लोग तो समय पर पहुँच गये, परन्तु स्वामी जी पौन घण्टा पीछे सार्वजनिक सभाभवन में प्रविष्ट हुए। व्याख्यान के आरम्भ में उन्होंने कहा—''मैं समय पर समुद्यत था, परन्तु गाड़ी नहीं पहुँच सकी। अन्त में पैदल चलकर आ रहा था कि मार्ग में गाड़ी मिली। समय अतिक्रम करने में मेरा दोष नहीं, किन्तु बच्चों-के-बच्चों का दोष है, अर्थात् बाल-विवाह की सन्तान में ऐसी निर्बलता का होना आश्चर्य नहीं हैं।''

निर्भीक दयानन्द—हम तो सत्य ही कहेंगे

एक दिन महाराज पुराणों की कथाओं की समालोचना करते

हुए कहने लगे कि इन ग्रन्थों के कर्त्ताओं ने कुन्ती आदि कन्याओं पर कितने कपोलकल्पित कलंक मढ़े हैं! तारा और मन्दोदरी पर कैसे मिथ्या आरोप लगाये हैं। स्वामीजी के कथन में हास्य-रस इतना रहता था कि व्याख्यान चाहे जितना लम्बा हो, किसी को खलता न था। किसी का भी जी ऊबता न था। कभी-कभी तो सारा सभा-समुद्र हँसी से झकझोरा खाने लग जाता था। पुराणों की समाचोलना पर पादरी महाशय, कलेक्टर और कमिश्नर महाशय तथा अन्य यूरोपीय सज्जन जी खोलकर हँसते रहे। उनकी कुटिल हँसी को भाँप थोड़ी देर में ही स्वामीजी ने पेंतरा बदलकर कहा—"यह तो हुई पौराणिकों की लीला, अब किरानियों की सुनिए। ये ऐसे हैं कि कुमारी के पुत्र होना बताते हैं और उसका दोष सर्वज्ञ, शुद्धस्वरूप परमेश्वर पर लगाते हैं। यह घोर पाप कर्म करते, ये लोग तनिक भी लज्जित नहीं होते।" यह सुनकर कमिश्नर महाशय का चेहरा कोपावेश से तमतमा उठा। स्वामीजी उसी वेग में व्याख्यान देते चले गये और अन्त तक ईसाईमत पर ही बोलते रहे।

अगले दिन कमिश्नर महोदय ने लाला लक्ष्मीनारायण को बुलाकर कहा—"आप पण्डितजी को कह दीजिए कि अधिक कठोर खण्डन से काम न लिया करें। हम ईसाई पुरुष तो सभ्य और सहनशील हैं, परन्तु अशिक्षित हिन्दू और मुसलमानों में उत्तेजना फैल गई तो पण्डित दयानन्द के व्याख्यान बन्द हो जाएँगे।"

लक्ष्मीनारायणजी यह सन्देश स्वामीजी तक पहुँचाने का वचन देकर चले आये, परन्तु यह समाचार स्वामीजी तक पहुँचाए कौन? उन्होंने अपने अनेक मित्रों से प्रार्थना की। अन्त में एक नास्तिक ने बीड़ा उठाया। लक्ष्मीनारायण उस नास्तिक और कुछ अन्य सज्जनोंसहित श्री-सेवा में उपस्थित हुए। उस नास्तिक पर महाराज की तेजोमयी मूर्त्ति का ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह बड़ी कठिनता से इतना कह सका—"खजाञ्ची लक्ष्मीनारायण आपसे कुछ निवेदन करना चाहते हैं, क्योंकि इन्हें कमिश्नर साहब ने बुलाया था।"

लाला महाशय (खजाञ्ची) ने जब देखा कि घूम-घामकर विपत्ति उन्हीं के सिर पर आ पड़ी है तब वे बहुत घबराये। अन्त में सिर खुजलाते हुए, खाँसते और खखारते हुए बोले—"महाराज! यदि कठोरता से काम न लिया जाए तो क्या हर्ज है? इससे प्रभाव भी अच्छा पड़ता है और अंग्रेज़ों को नाराज़ करना भी अच्छा नहीं है,

इत्यादि।'' इसपर महाराज हँसे और बोले—''अरे बात क्या थी कि जिसके लिए इतना गिड़गिड़ाता है और इतना समय खराब किया, साहब ने कहा होगा तुम्हारा पण्डित सत्य बोलता है, व्याख्यान बन्द हो जाएँगे, यह होगा, वह होगा।'' अरे भाई! मैं हव्वा तो नहीं कि तुझे खा लूँगा। उसने तुझसे कहा, तू मुझसे सीधा कह देता। व्यर्थ इतना समय क्यों गँवाया? कोई विश्वासी पौराणिक हिन्दू बैठा था, बोला—'देखा! यह तो कोई अवतार हैं, दिल की बात जान लेते हैं।'

उस दिन व्याख्यान आत्मा के स्वरूप पर था। जब स्वामीजी नागरिक भवन में पधारे तो वह श्रोताओं से खचाखच भरा हुआ था। पादरी स्काट को छोड़कर पहले दिनवाले सभी यूरोपीय सज्जन उपस्थित थे। महाराज ने व्याख्यान में आत्मा के गुणों का वर्णन करते हुए सत्य पर बल देते हुए कहा—''लोग कहते हैं कि सत्य को प्रकट न करो, कलेक्टर क्रोधित होगा, कमिश्नर अप्रसन्न होगा, गवर्नर पीड़ा देगा। अरे चक्रवर्ती राजा क्यों न अप्रसन्न हो, हम तो सत्य ही कहेंगे।'' इसके बाद उस उपनिषद् वाक्य को पढ़कर जिसमें लिखा है कि न आत्मा का कोई हथियार छेदन कर सकता है, और न उसे आग जला सकती है, गर्जती हुई आवाज़ में बोले ''यह शरीर तो अनित्य है। इसकी रक्षा में प्रवृत्त होकर अधर्म करना व्यर्थ है। इसे जिस मनुष्य का जी चाहे नष्ट कर दे।'' फिर चारों ओर अपनी तीक्ष्ण ज्योति डालकर सिंहनाद करते हुए फरमाया, ''लेकिन वह शूर-वीर पुरुष मुझे दिखलाओ, जो यह दावा करता है कि वह मेरे आत्मा का नाश कर सकता है। जब तक ऐसा वीर इस संसार में दिखाई नहीं देता, मैं यह सोचने के लिए भी तैयार नहीं हूँ कि मैं सत्य को दबाऊँ या नहीं।''

ऋषि के सिंहनाद से सारा भवन निनादित हो गया। सब ओर से उन्हीं के शब्द प्रतिध्वनित होने लगे। सारी सभा पर सन्नाटा छा रहा था। महाराज ने भाषण समाप्त कर दिया, परन्तु लोगों के कानों में उनका नाद गूँजता ही रहा।

मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) का जीवन बदला

जिन दिनों ऋषिराज बरेली में धर्म-प्रचार कर रहे थे, उन्हीं दिनों मुंशीरामजी के पिता वहाँ नगर के कोतवाल थे। मुंशीराम अपने पिता के पास ही आये हुए थे। उस समय वे राजकीय महाविद्यालय में अध्ययन करते थे। ईश्वर, वेद और धर्म-कर्म में उनकी कोई आस्था नहीं थी।

स्वामीजी के व्याख्यानों का प्रबन्ध मुंशीरामजी के पिताजी ही करते थे। उन्होंने स्वामीजी का पहला व्याख्यान श्रवण किया तो घर आकर अपने पुत्र से कहा—"मुंशीराम! यहाँ एक दण्डी स्वामी आये हैं, बड़े विद्वान् और योगी हैं। उनके उपदेश सुनने से तुम्हारे सारे संशय अवश्य दूर हो जाएँगे।" पुत्र ने विनीतभाव से पिता के सम्मुख निवेदन किया कि 'बहुत अच्छा', कल मैं आपके साथ अवश्य चलूँगा, परन्तु उनके मन में यही धारणा बनी रही कि वह संस्कृतमात्र जाननेवाला साधु कोई बुद्धि की बात क्या बता सकेगा? आगामी दिन जब वे सत्संग में गये तो महाराज के दर्शन से ही प्रभावित हो गये। स्काट महाशय आदि यूरोपीय सज्जनों के हृदय में स्वामीजी का महत्त्व देख, उनमें और भी लगन बढ़ी, परन्तु जब पाव घड़ीपर्यन्त उपदेश सुन लिया तो महात्मा मुंशीराम की विचार-परम्परा में बड़ा भारी पलटा आ गया। वे महर्षि दयानन्द के यौक्तिक कथनों पर आश्चर्यचकित हो गये। दैवयोग से उस दिन उपदेश भी परमात्मदेव के "ओम्" नाम पर था। वह व्याख्यान उनके लिए अश्रुतपूर्व था, इसलिए उनको अपार प्रसन्नता प्राप्त हुई। उस दिन से वे प्रायः श्री उपदेशों को सुनते रहे।

अब मुंशीराम को यह धुन समाई कि महाराज की जीवनचर्य्या को देखना चाहिए। इस लग्न में मग्न वे पहली बार तो रात के ढाई बजे ही गाड़ी में बैठकर उस उद्यान के निकट जा पहुँचे, जहाँ महाराज का निवास था। कौपीन-मात्र धारण किये जब महामुनि उद्यान-द्वार से बाहर भ्रमणार्थ जाने लगे तब ये भी पीछे-पीछे हो लिये। महाराज की गति का वेग इतना तीव्र था कि मुंशीरामजी थोड़ी दूर चलकर ही हाँपने लगे और गाड़ी में बैठकर घर चले आये, परन्तु अगले दिन उनकी लगन की मात्रा इतनी बढ़ गई कि वे रात के बारह बजे उठ बैठे और उद्यान के समीप जा खड़े हुए। इस बार वे बहुत दूर तक उनके पीछे गये। वे महाराज को कुछ काल तक ध्यानावस्थित भी अवलोकन कर सके।

मुंशीरामजी ने अपनी तर्क-शक्ति के अभिमान में महाराज के साथ ईश्वरविषय में प्रश्न किये, परन्तु स्वामीजी की युक्तियों ने उन्हें कुछ पल में ही अवाक् बना दिया। मुंशीरामजी ने तीन बार वाक्य दुहराए—"महाराज! आपने मेरा मुँह तो बन्द कर दिया, परन्तु अभी तक मुझमें विश्वास का अंकुर उत्पन्न नहीं हुआ।" स्वामीजी ने उत्तर

दिया—''महाशय! आपकी युक्तियों का मैंने युक्तियों से खण्डन कर दिया है। विश्वास तो परमात्मा की कृपा से ही हुआ करता है।''

ऋषि-उपदेश से वेश्या त्याग दी

महाशय लक्ष्मीनारायण ने एक वेश्या रक्खी हुई थी। इसका ज्ञान महाराज को भी हो गया। एक दिन लक्ष्मीनारायणजी उनके निकट आये तो महाराज ने पूछा—''लाला महाशय! आपका वर्ण क्या है?'' उन्होंने उत्तर दिया—''महाराज! आप तो गुण-कर्मानुसार वर्ण मानते हैं, इसलिए मैं उत्तर दूँ तो क्या दूँ?''

स्वामीजी ने कहा—''आपका जो वर्ण लोग कहते हैं, वही बतलाइए।'' लाला महाशय ने निवेदन किया कि ''लोग तो मुझे क्षत्रिय कहते हैं।'' तब महाराज ने गम्भीरस्वभाव से कहा—''लाला महोदय! आप हमारे यजमान हैं सही, परन्तु हम सत्य के कहने में कुछ भी संकोच नहीं करेंगे। भला, यह तो बताइए कि क्षत्रिय से वेश्या में पुत्र उत्पन्न हो तो उसे आप क्या कहेंगे?''

महाराज के वचन सुनकर लाला महाशय के सिर पर घड़ों पानी पड़ गया। वे लज्जा के मारे भूमि ताकने लगे। भवन में जाकर उन्होंने तत्काल वेश्या को निकाल दिया।

वेद को शंखासुर ले-गया

बरेली-वासियों को कृतार्थ कर स्वामीजी शाहजहाँपुर में आ विराजे और धर्म-पिपासुओं की प्यास बुझाने लगे।

एक दिन लक्ष्मणशास्त्री स्वामीजी के निकट जाकर शास्त्रार्थ करने लगे। शास्त्रार्थ का विषय मूर्त्तिपूजन था। स्वामीजी ने कहा कि अपने पक्ष के पोषण में आप कोई वेद का प्रमाण उपस्थित कीजिए। शास्त्री महाशय ने कहा कि वेद का प्रमाण कहाँ से दूँ? वेद तो शंखासुर ने हरण कर लिये हैं। स्वामीजी ने तत्काल वेद हाथ में उठाकर कहा—''पण्डितजी! आपके आलस्य और प्रमाद रूपी शंखासुर का वध करके ये वेद मैंने जर्मनी से मँगाये हैं। लीजिए, इनमें से खोजकर कोई प्रमाण निकालिए।'' उस समय सारी सभा हास्य-रस में लोट-पोट हो गई। पण्डितजी ने भी मौन साधना ही अच्छा समझा।

अब राज्य अंग्रेज़ी है औरंगजेबी नहीं

कोई मनुष्य कितना भी बड़ा क्यों न होता यदि वह कोई दबाव की बात कह बैठता तो महाराज तुरन्त करारा उत्तर देकर, उसका मुँह

बन्द कर देते थे। एक दिन डिप्टी कलेक्टर आलीजान महाशय उस मार्ग से निकले, जहाँ स्वामीजी व्याख्यान दिया करते थे। डिप्टी महाशय ने कहा कि—पण्डितजी! अपने व्याख्यान में कुछ सँभलकर बोला कीजिए। महाराज ने तत्काल उत्तर दिया कि—"हमारे लिए भय की कोई बात नहीं है; अब राज्य अंग्रेज़ी है, औरंगज़ेबी नहीं।"

दान का सच्चा स्वरूप

शाहजहाँपुर में अमृत-वर्षा कर स्वामीजी लखनऊ होते हुए फर्रुखाबाद में लाला कालीचरण के उद्यान में आ विराजे। प्रतिदिन महाराज के भाषण होने लगे। सहस्रों मनुष्य सुनने आते और प्रभावित होकर जाते।

एक दिन दान पर बोलते हुए महाराज ने कहा—"अन्न-जल का दान कोई भी भूखा-प्यासा मिले, उसे दे देना चाहिए। ऐसा दान पहले अपने दीन-दुःखी पड़ौसी को देना चाहिए। पास के रहनेवाले की दरिद्रता दूर करने में सच्ची अनुकम्पा और उदारता का प्रकाश होता है। इससे वाह-वाह नहीं मिलती, इसलिए अभिमान को भी अवकाश नहीं मिलता। समीपस्थ दुःखी को देखकर और पीड़ित का अवलोकन करके ही दया, अनुकम्पा और सहानुभूति आदि हार्दिक भाव प्रकट होते हैं। जो समीपवर्ती दीन-दुःखी जनों पर तो दयादि भावों को नहीं दिखलाता किन्तु दूरस्थ मनुष्यों के लिए उनका प्रकाश करता है उसे दयावान्, अनुकम्पाकर्त्ता और सहानुभूति-प्रकाशक नहीं कह सकते। ऐसे मनुष्य का दान बाहर का दिखावा और ऊपर का आडम्बर है। दान आदि वृत्तियों का विकास, दीपक की ज्योति की भाँति, समीप से दूर तक फैलाना उचित है।"

यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि "जो निर्धन जन अन्नादिक दान नहीं कर सकते दूसरों को क्या दें?" उत्तर स्पष्ट है कि "जो अन्नादि का दान करने में असमर्थ हैं वे अपने पड़ोसी आदि को कष्ट और क्लेश में सहायता दें। निर्बलों का पक्ष करें। विपत्ति और आधि-व्याधि से ग्रस्त जनों की सेवा करें। पर-पीड़ितों और व्याकुल मनुष्यों से प्रेम करें। उन्हें मीठे वचनों से शान्ति दें। ये सब दान हैं और आत्मा से सम्बन्ध रखनेवाले दान हैं। ऐसे दान नित्यप्रति, निर्धनजन भी कर सकते हैं।"

यहाँ पौराणिकों ने स्वामी के पास पच्चीस प्रश्न भेजे। महाराज ने उनका युक्तियुक्त उत्तर भेज दिया।

कर्म-फल का पता कैसे लगे ?

स्काट महाशय फर्रुखाबाद में मजिस्ट्रेट थे। वे बड़े सज्जन और उदारचेता थे। महाराज के व्याख्यानों में निरन्तर आया करते थे। जिस दिन व्याख्यान न होता उस दिन दर्शनार्थ अवश्य आ जाते। श्री चरणों में वे अतिप्रीति रखते थे। उनके पाँव में कोई दोष था। इस कारण वे लँगड़ाकर चलते थे। एक दिन स्काट महाशय ने स्वामीजी से पूछा कि कर्म-फल का पता हमें कैसे लगे ? स्वामीजी ने उनसे पूछा कि आपके पाँव में लँगड़ापन क्यों है ? उन्होंने उत्तर दिया कि ईश्वर की इच्छा। इसपर महाराज ने कहा—"इसे ईश्वर-इच्छा न कहिए। यह कर्म-फल है। सुख-दुःख के भोग का नाम कर्मफल है। जिस भोग का यहाँ कोई कारण दिखाई न दे, उसे पूर्वजन्म के कर्मों का परिणाम कहते हैं।"

मेरा काम मनुष्यों के मन-मन्दिरों से मूर्त्तियाँ निकालना है

फर्रुखाबाद के बाजार की नाप हो रही थी। उसी सड़क में एक छोटी-सी मढ़िया थी। उसमें लोग धूप-दीप किया करते थे। श्री मनमोहनलाल ने आकर स्वामीजी से कहा—"महाराज! स्काट महाशय आपको बहुत मानते हैं। यदि आप उन्हें संकेत भी कर दें तो यह मढ़िया मार्ग में से मार्जित हो सकती है। भ्रम का स्थान दूर हो सकता है।" स्वामीजी ने कहा—"ऐसी उलटी पट्टी मुझे न पढ़ाइए। ऐसे टेढ़े, तिरछे और तीखे मार्गों से किसी मत को हानि पहुँचाना अधर्म है; द्रोह, नीचता और अन्याय है। मुसलमान बादशाहों ने सैकड़ों मन्दिरों को मूर्त्तियोंसहित मटियामेट कर दिया, परन्तु मूर्त्ति-पूजा बन्द करने में सफल न हो सके। हमारा काम तो मनुष्यों के मन-मन्दिरों से मूर्त्तियाँ निकालना है, न कि ईंट-पत्थर के बने देवालयों को तोड़ना-फोड़ना।"

मत-मतान्तरों की पोल खोलने से कैसे रुक सकता हूँ ?

फर्रुखाबाद में धर्मोपदेश कर ऋषिवर पर्यटन करते हुए दानापुर पहुँचे। स्टेशन पर उनका भव्य स्वागत हुआ और समारोहपूर्वक लोग उन्हें नगर में लाये। ईश्वर आदि अनेक विषयों पर महाराज के सारगर्भित और चित्ताकर्षक भाषण होते थे। इन व्याख्यानों में बीच-बीच में पन्थों की समालोचना भी होती थी।

महाशय गुलाबचन्द लालजी स्वामीजी के भक्तों में से थे। उन्होंने एक दिन निवेदन किया—"महाराज! मुसलमानों के विरुद्ध कुछ भी

न कहिएगा। ये लोग चटपट बिगड़ बैठते हैं, और लड़ाई-झगड़े पर उतर आते हैं।'' स्वामीजी उस समय तो मौन रहे, परन्तु व्याख्यान में इस्लाम मत पर तीक्ष्ण तर्क-तीर वर्षाकर बोले—''छोकरे मुझे कहते हैं कि मुसलमान मत का खण्डन न कीजिए। मैं सत्य को कैसे छिपा सकता हूँ? जब मुसलमानों की चलती थी, उन्होंने हमारा खण्डन खड्ग से किया, परन्तु अन्धेर की बात है कि आज मुझे वचनों द्वारा खण्डन करने से भी रोका जाता है। भला, मतमतान्तरों की पोल खोलने से मैं कैसे रुक सकता हूँ?''

योगासन से रोग-निवृत्ति

ठाकुरदास नामक एक सज्जन उलटे-सीधे प्राणायम करने से रोगी हो गये। उन्हें सदा नाभि-कमल के पास पीड़ा बनी रहती थी, इससे वे दुर्बल और कृश हो गये। एक दिन उन्होंने योगिराज दयानन्द के समक्ष अपने रोग का वर्णन किया। महाराज ने उनको आश्वासन देते हुए कहा—''योगासन से हम आपका तीन वर्षों का रोग दो-ढाई पल में दूर कर देंगे।'' महाराज ने ठाकुरदास को एक कोठरी में ले-जाकर पीठ के बल लिटा दिया और घुटने खड़े रखवाये। उनके पाँव पर अपने पाँव रखकर दबाव डाला और उनका सिर ऊपर को उठवाया। इस क्रिया से वे तत्काल स्वस्थ हो गये और उनकी व्याधि दूर हो गई।

जोन्स का मांस-परित्याग

एक दिन कई पादरी महाशय स्वामीजी के निवास-स्थान पर पधारे। गो-रक्षा पर बातचीत चल पड़ी। महाराज ने जोन्स महाशय से पूछा—''भलाई क्या है?'' उसने कहा—''आप ही बताने की कृपा कीजिए।'' तब स्वामीजी ने कहा—''जिस कर्म से अधिकांश मनुष्यों का अधिक उपकार हो उस कर्म को मैं भलाई मानता हूँ।'' इस सिद्धान्त को जोन्स महाशय ने भी स्वीकार कर लिया। तब फिर, महाराज ने बड़ी उत्तमता से सिद्ध कर दिखलाया कि गो-रक्षा से अधिकांश मनुष्यों को अत्यन्त लाभ होता है।

उनके उपदेशों को सुनकर जोन्स महाशय ने गो-मांस-भक्षण के परित्याग का प्रण वहीं धारण कर लिया।

हम रात को उठकर रोते हैं

एक रात का वर्णन है कि महाराज आधी रात के समय जाग पड़े और उठकर इधर-उधर चक्कर लगाने लगे। उनके पाँव की आहट सुनकर एक कर्मचारी की भी आँख खुल गई। उसे ऐसा प्रतीत हुआ

कि स्वामीजी किसी बड़ी व्याकुलता और घबराहट में घूम रहे हैं। उसने विनय की—"भगवन्! यदि कोई वेदना है तो आज्ञा कीजिए, सेवक औषधोपचार करने के लिए उपस्थित है। यदि आदेश हो तो वैद्य को भी बुला लाऊँ।" उस समय, स्वामीजी ने सुदीर्घ साँस लेकर कहा—"भाई! यह बड़े वेग से बढ़ती हुई वेदना, आपके औषधोपचार से शमन होनेवाली नहीं है। यह वेदना भारत के परिश्रमी लोगों की दुर्दशा के चिन्तन से चित्त में उत्पन्न हुई है। ईसाई लोग कोल-भील आदि भारतवासियों को ईसाई बनाने के लिए अपनी कल्पनाओं के ताने-बाने तान रहे हैं। रुपया भी पानी की तरह बहाने को कटिबद्ध हैं, परन्तु इधर आर्यजाति के पुरोहित हैं, जो कुम्भकर्ण की नींद पड़े सोते हैं। उनके कानों पर जूँ तक नहीं रेंगती। मैं अब यह चाहता हूँ कि राजों-महाराजों को सन्मार्ग पर लाकर सुधार करूँ। आर्यजाति को एक उद्देश्यरूपी सुदृढ़ सूत्र में आबद्ध करूँ।"

एक कवि के शब्दों में स्वामीजी की स्थिति यह थी—

इक हूक-सी दिल में उठती है, इक दर्द जिगर में होता है।
हम रात को उठकर रोते हैं, जब चैन से आलम सोता है॥

भंग भवानी का एक लोटा और चढ़ाया करो

ऋषिवर आगन्तुक जन के मनोगत भावों को जानने में अति निपुण थे। एक दिन एक प्रेमी पुरुष ने प्रार्थना की—"महाराज! अभ्यास में मन लगाने का बहुत ही यत्न करता हूँ, परन्तु इसके तरल तरंग अभंग ही बने रहते हैं, संकल्प-विकल्प शान्त ही नहीं होते।"

स्वामीजी ने व्यंग्यभाव से समझाया, "मन नहीं टिकता तो भंग-भवानी का एक लोटा और चढ़ा लिया करो।"

उत्तर को सुनकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। वह मन-ही-मन सोचने लगा कि स्वामीजी को तो 'स्थली-पुलाक-न्याय' से भी पता नहीं है कि मैं भाँग पीता हूँ। फिर ये जान कैसे गये? सच है सत्पुरुषों के सामर्थ्य की सीमा कोई नहीं पा सकता।

दानापुर में धर्मोपदेश कर स्वामीजी काशी, लखनऊ, फर्रुखाबाद, मैनपुरी, मेरठ, देहरादून आदि अनेक स्थानों पर भ्रमण करते हुए सर्वसाधारण में धर्म-भावना जाग्रत् करते हुए आगरा पधारे।

नास्तिक की बोलती बन्द

महाराज के उपदेशों में एक अद्भुत रस भरा होता था। तीन-तीन, चार-चार कोस तक से लोग उनके व्याख्यान सुनने आते।

उनकी मनोरंजक और अकाट्य युक्तियाँ सुनकर वे लट्टू हो जाते। उनके तर्क के सामने कोई चिरकाल तक ठहर नहीं सकता था। एक बंगाली डाक्टर आगरा में निवास करता था। वह कट्टर नास्तिक था। उसकी तर्क-शक्ति बड़ी प्रबल मानी जाती थी। उसने लोगों पर अपने ज्ञान-विज्ञान का सिक्का जमा रक्खा था। वह एक दिन बड़ा दल साथ लेकर स्वामीजी के व्याख्यान में गया। व्याख्यान के अनन्तर शंका-समाधान के लिए समय दिया जाता था। उस दिन सबसे पहले यह बंगाली महाशय ही उठे। उस समय लोगों ने एक-दूसरे से कहा कि आज स्वामीजी को एक विशाल वज्रशिला से टक्कर लेनी पड़ी है। डाक्टर महाशय को जीतना 'टेढ़ी खीर' है, परन्तु थोड़े ही समय में लोगों का आश्चर्य सीमा को पार कर गया। उन्होंने देखा किबंगाली महाशय दो-तीन बार बोलकर, मुँह से झाग उगलते हुए हारकर बैठ गये। उस दिन महाराज ने आगरा-निवासियों के हृदयों पर अपने तर्कनातीत तर्क का ठप्पा लगा दिया। सभी लोग धन्य-धन्य करते वहाँ से लौटे।

पाँव से जूता उतार सकते हैं

एक दिन महाराज ने आगरे के बिशप महाशय से मिलकर कहा कि "आओ, पहले सब आपस में मिलकर एक धर्म स्थिर कर लें फिर नास्तिकवाद को निर्मूल करें।" बिशप महाशय ने एकता के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ दिखाईं। उनके उत्तर में स्वामीजी ने कहा कि यदि सभी सज्जन वेद को आधार स्वीकार कर लें तो ये सब आपत्तियाँ तुरन्त दूर हो सकती हैं। वार्त्तालाप के पश्चात् महाराज उनका बड़ा गिर्जा देखने के लिए गये। जब वे उसके भीतर प्रवेश करने लगे तो एक ईसाई ने कहा—"महाशय! सिर पर से पगड़ी उतारकर भीतर प्रवेश कीजिए।" स्वामीजी आगे नहीं बढ़े और उससे बोले कि हमारे देश की रीति के अनुसार सिर पर पगड़ी धारण करके किसी जगह जाना प्रतिष्ठा का चिह्न है। अपने देश की सभ्यता के प्रतिकूल हम नहीं करेंगे। हाँ, यदि आप कहें तो हम पाँव से जूता उतार सकते हैं। उसने उत्तर दिया कि दोनों का उतारना उचित है। तब स्वामीजी भीतर नहीं गये, वराण्डे से ही उनकी मूर्त्तियाँ देखकर लौट आये।

सबसे बड़े तत्त्वदर्शी

ब्रह्मानन्दजी अपने युवाकाल में जब आगरा कॉलेज में अध्ययन करते थे तब उन्हीं दिनों, श्रीमहाराज के वहाँ धुँआधार व्याख्यान होते

थे। ब्रह्मानन्दजी एक दिन सत्संग प्राप्त करने के लिए महाराज के निवास-स्थान पर गये। उस समय स्वामीजी तो स्थान पर नहीं थे, परन्तु भीमसेनजी और ज्वालादत्तजी आदि पण्डित बैठे आत्म-चर्चा कर रहे थे। ब्रह्मानन्दजी ने उनसे पूछा—"आप कोई आत्म-ज्ञानी जन भी बता सकते हैं?" उत्तर में ज्वालादत्तजी ने कहा-"इस समय सबसे बड़े आत्मदर्शी हमारे स्वामीजी महाराज हैं। हमने उनको अनेक बार अचल ध्यान में लीन देखा है। उनको योग की सकल सिद्धियाँ सम्प्राप्त हैं। हमें वेद-भाष्य लिखाते समय, कोई कठिन विषय उपस्थित होने पर, वे कई बार बीच में से उठकर चले जाते हैं और कोठरी के किवाड़ लगाकर बड़ी देर तक अन्तर्ध्यान बैठे रहते हैं। फिर बाहर आकर पहले लिखे में से कई वाक्य और पंक्तियाँ तक कटवा देते हैं और उनके स्थान पर नवीन वाक्य की योजना लिखाते हैं। उनका अन्त:करण इतना विमल और इतना विशुद्ध है कि सातवीं कोठरी में भी की गई वार्त्ता का आभास उसमें पड़ जाता है। उन्होंने कई बार हमारे प्रच्छन्न मनोरथों का हमारे आगे वर्णन किया है। वे हमें उपदेश दिया करते हैं कि जब मनुष्य के हृदय की सकल ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं तब उसे आत्म-ज्ञान प्राप्त हो जाता है। तिलों में तेल की भाँति आत्मा में ही परमात्म देव रमे हुए हैं, इसलिए उनका भी उसी समय ज्ञान हो जाता है।"

आगरा-निवासियों के हृदय को, अपने अमृतोपदेश से तृप्त करके, महाराज इस देश के राजों-महाराजों को सुधारने के लिए राजस्थान को प्रस्थान कर गये।

११

थियोसोफिकल सोसायटी

१७ नवम्बर १८७५ को अमेरिका में मैडम ब्लैवट्स्की और कर्नल अल्काट ने थियोसोफिकल सोसायटी की स्थापना की। सोसायटी की स्थापना तो हो गई, परन्तु अपने कर्मों से ये वहाँ बदनाम हो चुके थे। रोटियों तक के लाले पड़े हुए थे। इनका वहाँ रहना तक असम्भव हो गया था। ऐसी स्थिति में इन्होंने भारत की ओर दृष्टि उठाई। भारत में पैर जमाने का यही उपाय था कि किसी शक्तिशाली व्यक्ति का आश्रय लिया जाए। श्रीयुत हरिश्चन्द्र चिन्तामणि से कर्नल अल्काट को ऋषि का परिचय प्राप्त हुआ। उस परिचय का लाभ उठाकर थियासोफी के प्रधान ने ऋषि दयानन्द को भक्तिभाव पूर्ण निम्न पत्र लिखा—

To the Most Honourable,
Pandit Dayanand Saraswati,
India

Venerated Teacher, a number of American and other students who earnestly seek after Spiritual Knowledge, place themselves at your feet and pray you to enlighten them. The boldness of their conduct naturally drew upon them public attention and reprobation of all influencial organs and persons whose worldly interests or private prejudices were linked with the established order.

We have been called atheists, infidels and pagans.

We need the assistance not only of the young and enthusiastic, but also of the wise and venerated. For this reason we come to your feet as children to a parent and say, 'look at us, our teacher, teach us what we ought to do. Give us your counsel, your aid.'

See that we approach you not in pride but with humility, that we are prepared to receive your counsel to do our duty as it may be shown to us.

(Sd.) Henry Olcott.
President of the Theosophical Society.

''सेवा में परम सम्मानित दयानन्द सरस्वती, भारतवर्ष।

सम्मानित गुरु!

आध्यात्मिक विद्या से प्रेम रखनेवाले कुछ अमेरिकन तथा अन्य विद्यार्थी, अपने को आपके चरणों में अर्पित करते हैं और आपसे प्रकाश की याचना करते हैं। उन लोगों के साहसिक व्यवहार ने स्वभावत: उनकी ओर सर्व-साधारण का ध्यान खींचा है और उन समाचारपत्रों तथा व्यक्तियों की ओर से, जिनके सांसारिक हित या व्यक्तिगत संस्कार पहले से विद्यमान स्थिति के साथ बँधे हुए हैं, उनका विरोध किया गया है।

हमें नास्तिक, अविश्वासी और धर्महीन कहा गया। हम केवल युवक और जोशीले लोगों की ही सहायता नहीं चाहते, अपितु बुद्धिमान् और सम्मानित लोगों की सहायता भी चाहते हैं। इस कारण हम आपके चरणों में इस प्रकार आते हैं जैसे पिता के चरणों में पुत्र आता है, और कहते हैं—हमारे गुरु महाराज! हमारी ओर देखिए और बताइए कि हमें क्या करना चाहिए!

देखिए, हम आपकी सेवा में अभिमान से नहीं अपितु नम्रता से आते हैं, और हम आपकी सलाह लेने और दिखाये हुए मार्ग पर चलकर कर्त्तव्य पालने के लिए उद्यत हैं।

(हस्ताक्षर) हैनरी अल्काट

२२ मई सन् १८७८ के पत्र का एक अंश, जो थियासोफिकल सोसायटी के रिकार्डिंग सेक्रेटरी अगस्टम गुस्टम ने आर्यसमाज के मुखिया के नाम लिथा था, निम्न है—

''निश्चय हुआ कि थियोसोफिकल सोसायटी अपने यूरोप तथा अमेरिका में विद्यमान शाखाओं के लिए आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती को नियमानुसार पथ-प्रदर्शक या मुखिया अंगीकार करे।''

इस प्रकार थियोसोफिकल सोसायटी ने आर्यसमाज से उस समय सम्बन्ध स्थापित किया, जिस समय अमेरिका के निवासी सोसायटी के सञ्चालकों को यह पता नहीं था कि 'कल का भोजन कहाँ मिलेगा!' वहाँ ये खूब बदनाम और तंग थे। ऊपर दिये पत्रों से स्पष्ट होता है कि उस समय सोसायटी के नेता स्वामीजी को गुरु मानने में अपना सौभाग्य समझते थे और सब प्रकार से आर्यसमाज में आने को तैयार थे। पर्याप्त पत्र-व्यवहार के पश्चात् यह थियोसोफिकल युगल

१८७९ के जनवरी मास में बम्बई पहुँच गया और ऋषि दयानन्द के चरणों में अपने श्रद्धा-सुमन रखने की उत्सुकता प्रकट करने लगा।

पहले पहल यह युगल स्वामीजी से सहारनपुर में मिला। वैशाख शुक्ल १२ संवत् १९३६ को स्वामीजी कर्नल तथा मैडमसहित मेरठ पधारे। आर्यसमाज के सभी सभासद् उनके स्वागत के लिए रेलवे स्टेशन पर उपस्थित थे। अपने पूज्यतम गुरुदेव को पश्चिमी शिष्योंसहित देखकर आर्यपुरुषों के तन हर्ष से पुलकित हो रहे थे। उन्होंने बड़े उत्साह से उन्हें ले-जाकर, एक कोठी में तो महाराज को और दूसरी में उन दोनों अतिथियों को ठहराया।

वैशाख सुदी १३ से ज्येष्ठ बदी २ तक स्वामीजी के तथा उनके शिष्यों के व्याख्यान बड़ी धूम से हुए। कर्नल महाशय और मैडम ने भाषणों में भली-भाँति वेद का महत्त्व गान किया और क्रिश्चियन धर्म की त्रुटियाँ प्रदर्शित कीं। इन व्याख्यानों में यूरोपियन भी बहुत आते थे। कर्नल अल्काट और मैडम ब्लैवट्स्की स्वामीजी के स्थान पर जाकर सत्संग में ज्ञान-चर्चा करते, आत्मा-सम्बन्धी प्रश्न पूछते और योगाभ्यास की विधियाँ सुनते थे। वे दोनों अपने को "आर्य" कहते। नीचे बैठकर भोजन पाते। उन्होंने 'ओ३म्' का पदक और यज्ञोपवीत धारण किया हुआ था। वे महाराज को गुरु मानते थे और उनके प्रति अति-विनय प्रदर्शित करते थे।

महाराज एक दिन श्रीयुत छेदीलाल की कोठी में आसनारूढ़ थे। सत्संगीजन ज्ञान-गङ्गा में गोते लगा रहे थे। उसी समय अल्काट महाशय ने विनय की—"भगवन्! सुना है शंकराचार्य अपने कलेवर से आत्मा को निकालकर परकाया में प्रवेश कर जाते थे। इसमें आपकी क्या सम्मति है?" स्वामीजी ने उत्तर दिया—"शंकराचार्य का परकाया-प्रवेश करना एक ऐतिहासिक विषय है। उसके सत्यासत्य में कुछ कहा नहीं जा सकता। हाँ, इतना तो मैं भी दिखा सकता हूँ कि चाहे जिस अंग में, अपनी सारी जीवनशक्ति को केन्द्रित कर दूँ। इसमें शेष सारा शरीर जीवन-शून्य हो जाएगा। परकाया-प्रवेश तो इससे आगे एक पाँव उठानामात्र ही है।" अल्काट महाशय अपने गुरु के ऐसे योग-बल को जानकर अतीव हर्षित हुए।

कुछ दिनों के पश्चात् अल्काट महाशय और ब्लैवट्स्की युगल स्वामीजी से आज्ञा लेकर मुम्बई चले गये।

स्वामीजी के शिष्य जहाँ ये जाते इनका आदर-सत्कार करते

और इनके व्याख्यान कराते। लगभग एक वर्ष तक अच्छा प्रेम-सम्बन्ध बना रहा और थियोसोफिस्टों की भक्ति उमड़ती रही। इतना समय भारत में पाँव जमाने और बहुत-से शिष्य इकट्ठे करने के लिए पर्याप्त था। अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे भारतवासी युगल की बातों को सुनने और पसन्द करने लगे। लगभग वर्षभर प्रेम-सम्बन्ध बने रहने के पश्चात नये रंग दिखाई देने लगे।

झगड़े के मुख्य कारण तीन हुए। भारतवर्ष में आकर थियोसोफिस्ट-युगल को ज्ञात हुआ कि जिस व्यक्ति को वे गुरु बनाकर आये हैं, वह गुरु ही रहेगा, शिष्य नहीं बन सकता। युगल समझता था कि यह पं० दयानन्द को अपनी वृद्धि का साधन बना सकेगा, परन्तु उसे शीघ्र ज्ञात हो गया कि यह भारतीय पण्डित ऐसा भोला नहीं कि हथियार बन सके।

दूसरी ओर युगल ने देखा कि भारतवर्ष में अज्ञान और श्रद्धा की मात्रा बहुत अधिक है। कोई भी आदमी आकर गुरु बनना चाहे तो सर्वथा निराश नहीं होगा, कुछ-न-कुछ शिष्य उसे मिल ही जाएँगे। ऐसी दशा में थियोसोफी के संस्थापकों ने यही उत्तम समझा कि अपनी दुकान पृथक् खड़ी की जाए। आने से पूर्व वे आर्यसमाजी थे, आकर शीघ्र ही उन्हें ज्ञात हुआ कि उनके सिद्धान्त आर्यसमाज की अपेक्षा बौद्धों के साथ अधिक मिलते हैं।

तीसरी शिकायत इन्हीं दो शिकायतों के परिणामस्वरूप थी। थियोसोफी आर्यसमाज की शाखा थी। जो लोग थियोसोफी के सदस्य थे, वे वस्तुतः आर्यसमाज के ही सदस्य समझे जा सकते थे। ऐसा दशा में यह सोचना भी असंगत था कि आर्यसमाज के सभासद् थियोसोफी के सभासद् बनाये जाएँ। जो मूल संस्था का सदस्य है उसे शाखा का सदस्य बनने की क्या आवश्यकता है ? परन्तु कर्नल अल्काट तथा मैडम ब्लैवट्स्की ने आर्यसमाज के सभासदों को अपने सभासद् बनाना प्रारम्भ किया। इस व्यवहार को स्वामीजी ने अनुचित समझा।

ये तीन बातें मूल में थीं। वे थियोसोफी के लीडर, जिन्हें अपने सिद्धान्त आर्यसमाज के ठीक अनुकूल दिखाई देते थे, शीघ्र ही संसार के कर्त्ता ईश्वर से इन्कार कर बौद्धों में नाम लिखाने लगे। अमरीका में मैडम ब्लैवट्स्की के अन्दर केवल किंग जान की आत्मा प्रवेश करती थी, परन्तु भारत में आते ही हिमालय-निवासी महात्मा

और उनके प्रतिनिधि महात्मा कूटहुमी से मैडम का परिचय हो गया, और हिमालय से सीधे सन्देश पहुँचने लगे।

सबसे बड़ा कारण जिससे मतभेद पैदा हो गया, यह था कि थियोसोफी के संस्थापक चमत्कारों को अपने धर्म का सिद्धान्त मानने और उद्घोषित करने लगे। चमत्कारों को वे योगसिद्धि नाम से पुकारते थे, परन्तु योग के बिना ही योगसिद्धि का दावा करते थे। सिद्धियाँ भी विचित्र थीं। किसी की गुम हुई वस्तु का पता दे दिया, और किसी के मन की बात बता दी।

दम्भ और धोखे के शत्रु ऋषि कैसे चुप रह सकते थे! उन्होंने आवश्यक समझा कि आर्यपुरुषों को सचेत कर दिया जाए।

आश्विन कृष्ण १४ संवत् १९३७ को मेरठ आर्यसमाज का दूसरा वार्षिकोत्सव था। इस उत्सव के अवसर पर स्वामीजी के दो व्याख्यान हुए। इन व्याख्यानों में उन्होंने उन कारणों पर प्रकाश डाला, जिनके कारण आर्यसमाज को थियोसोफिकल सोसायटी से पृथक् होने पर बाधित होना पड़ा और यह भी घोषणा की कि किसी आर्यसभासद् को थियोसोफी का सदस्य नहीं बनना चाहिए। दोनों में निम्न मौलिक मतभेद उत्पन्न हो गये थे—

१. थियोसोफिस्ट सृष्टिकर्त्ता ईश्वर को नहीं मानते थे।

२. वे अपने को बौद्ध कहते थे।

३. वे हिमालयवर्त्ती किन्हीं कल्पित महात्माओं के होने और उनके गुप्त सन्देशों पर विश्वास रखते थे।

४. वे सिद्धियों के नाम पर चमत्कारों को मानते और उनका दावा भी करते थे।

५. थियोसोफी में ईसाई, मुसलमान, बौद्ध-हिन्दू सब अपने-अपने एक-दूसरे के विरुद्ध सिद्धान्तों को मानते हुए भी प्रविष्ट हो सकते थे।

इस प्रकार थियोसोफी आर्यसमाज से कोसों दूर चली गई और महर्षि को थियोसोफी के साथ सम्बन्ध-विच्छेद की घोषणा करनी पड़ी। आर्यसमाज से पृथक् होकर थियोसोफी क्या बनी और किधर गई, इस सम्बन्ध में सोसायटी के पुराने सेवक श्री बी०पी० वाडिया के त्यागपत्र की निम्न पंक्तियाँ पठनीय हैं—

It (The Theosophical Society) is no more a society of seekers of the wisdom but an organisation where many believe in the few

and blind following has come to prevail; where shams pass for realities and the credulity of superstition gains encouragement and where the noble ideals of the Theosophical Ethics are exploited and dragged in the mire of Psychism and immorality.

थियोसोफिकल सोसायटी अब सच्चाई के पहचानने का यत्न करनेवालों की संस्था नहीं रही। यह एक ऐसी संस्था बन गई है जहाँ थोड़े व्यक्तियों पर अधिक व्यक्तियों का विश्वास है, जहाँ अन्धपरम्परा का राज्य है, और जहाँ थियोसोफिकल आचार-शास्त्र के उत्तम आदर्श भूतवाद और अनाचार के कीचड़ में घसीटे जाते हैं।

श्री वाडिया सोसायटी के स्तम्भों में से एक थे। उन्होंने सोसायटी के बारे में जो अन्तिम सम्मति दी है, वह सिद्ध करती है कि आर्यसमाज से सोसायटी का सम्बन्ध तोड़ने में ऋषि दयानन्द ने कोई भूल नहीं की थी।

१२

वीरभूमि राजस्थान की ओर

देशीय राज्यों में पर्यटन

राजस्थान से स्वामीजी को निरन्तर निमन्त्रण आ रहे थे। चिरकाल से उनका विचार था कि राजस्थान के राजाओं का सुधार किया जाए। कई अवसरों पर ऋषि ने यह विचार प्रकट किया था कि भारत का भला तभी होगा जब रजवाड़ों का उद्धार होगा। यदि राजा लोग सुधर जाएँ तो प्रजा के सुधरने में क्या विलम्ब हो सकता है? यह विश्वास ऋषि के हृदय में घर कर गया था। यही कारण था कि स्वामीजी ने अपने विस्तृत कार्यक्षेत्र उत्तर प्रदेश और पंजाब की ओर पीठ करके राजस्थान की ओर प्रस्थान किया।

फाल्गुन शुक्ल दशमी संवत् १९३७ (१० मार्च १८८१) को दयानन्द भास्कर भरतपुर में उदित हुए। यहाँ दस दिन तक वैदिक आदर्शों के विषय में उपदेश कर ऋषि जयपुर-निवासियों की ज्ञान-पिपासा को शान्त करते हुए वैशाख शुक्ल सप्तमी संवत् १९३८ को अजमेर में आ विराजे और धर्म-प्रचार आरम्भ किया। सायं ७ बजे से ९ बजे तक विभिन्न विषयों की व्याख्याएँ होती थीं। दो घण्टे तक श्रोताजन मधुलोभी भ्रमरों के समान उपदेशामृत पान करते थे। बाईस दिन में स्वामीजी ने छब्बीस व्याख्यान दिये।

पं० लेखराम : श्रीचरणों में

पण्डित श्री लेखरामजी के हृदय में महाराज के दर्शनों की तीव्र लालसा उत्पन्न हो आई। वे कुछ काल के लिए, अपने सारे कामकाज छोड़कर पंजाब से अजमेर जा पहुँचे। ज्येष्ठ बदी ४ सं० १९३८ की प्रातःकाल वे श्री-सेवा में उपस्थित हुए। उन्होंने भक्ति-भाव के भार से नम्रीभूत होकर, श्रीचरणों में विनीत 'नमस्ते' निवेदन किया। उनके प्रेम-रस से रसीले विमल लोचनों का, मधुर मुखमण्डल का, शोभाशाली विशाल ललाट का और पतित-पावनी परम पवित्र आकृति का अवलोकन कर पंजाब के सुवीर सपूत को अतिशय प्रसन्नता उपलब्ध हुई। वे मार्ग की सारी थकान को तत्काल भूल गये। वे अतृप्त लोचनों से स्वामीजी के सुन्दर स्वरूप को निहारने लगे।

पण्डितजी ने बद्धाञ्जलि होकर पूछा कि भगवन्! आकाश और ब्रह्म

दोनों पदार्थ व्यापक हैं। ये दोनों एक स्थान में एकत्र क्योंकर रह सकते हैं ? महाराज ने पास पड़ा एक पत्थर उठाकर पूछा कि इसमें अग्नि व्यापक है या नहीं ? उन्होंने कहा कि हाँ, अवश्यमेव है। फिर महाराज ने उसी पाषाण-खण्ड में वायु, जल, मृत्तिका, आकाश और परमात्मा की व्यापकता पूछी। पण्डितजी ने सबकी व्यापकता स्वीकार कर ली। तब स्वामीजी ने कहा—''भद्र''! आपने समझ लिया कि एक पत्थर में सब पदार्थ व्याप्त हो रहे हैं। इस व्यापकता का सरल सिद्धान्त यह है कि जो पदार्थ जिससे सूक्ष्म होता है वह उसमें व्याप्त हो सकता है। परमात्मदेव परम सूक्ष्म हैं, इसलिए वे सब पदार्थों में परिपूर्ण हो रहे हैं।

ऋषि ने ताड़ लिया कि भक्त की हृदय-भूमि उपजाऊ है। उसमें धर्म-कल्पतरु का बीज बोने की भावना से उन्होंने कहा कि आप यथेष्ट प्रश्न पूछकर अपने संशय निवारण कर लीजिए। उस समय पण्डितजी ने दश प्रश्न पूछे। उनमें से पीछे उन्हें ये थोड़े-से स्मरण रह गये।

प्रश्न—भगवन्! जीव और ब्रह्म के भिन्न-भिन्न होने में कोई प्रमाण दीजिए।

उत्तर—यजुर्वेद का सारा चालीसवाँ अध्याय जीव और ब्रह्म का भेद वर्णन करता है।

प्रश्न—मुसलमान और ईसाई आदि मतों के मनुष्यों को क्या शुद्ध कर लेना चाहिए ?

उत्तर—हाँ, अवश्यमेव शुद्ध कर लेना चाहिए।

प्रश्न—बिजली क्या वस्तु है और किस प्रकार उत्पन्न होती है ?

उत्तर-बिजली सर्वत्र है। रगड़ से अभिव्यक्त होती है। बादलों की विद्युत् भी वायु और बादलों के संघर्षण से प्रकट होती है।

महाराज ने पण्डितजी से कहा-''जब तक आपकी अवस्था पच्चीस वर्ष की न हो जाए तब तक विवाह कदापि न कराइएगा।'' लेखराम जब अपने परमधीर और कर्मवीर गुरु से विदा लेने लगे तो उनसे बोले—''गुरुदेव! कोई अपना स्मृति-चिह्न प्रदान कीजिए।'' महाराज ने निज अनन्य भक्त को अतिवत्सवलभाव से अष्टाध्यायी की एक प्रति प्रदान की। तत्पश्चात् होनहार आर्यपथिक उनके अरुणवर्ण चरण छूकर वहाँ से अपने प्रान्त को लौट आये।

पादरी शूलब्रेड से वार्तालाप

अजमेर से प्रस्थान कर ऋषि मसूदा-नरेश के अतिथि बने। व्याख्यानों का क्रम यहाँ भी अबाधगति से चलता रहा।

एक दिन पादरी शूलब्रेड एक देसी पादरी-सहित स्वामीजी से मिलने आये। शूलब्रेड महाशय से स्वामीजी ने अनेक प्रश्न पूछे, परन्तु वे उत्तर कुछ भी न दे सके। शूलब्रेड के पूछने पर महाराज ने कहा कि वेदों में गोमेध, अश्वमेध आदि का वर्णन नहीं है। एक देसी ईसाई ने कहा कि "स्वामीजी! आप राजों-महाराजों को ही उपदेश देते हैं, परन्तु निर्धनों में जाकर उन्हें नहीं समझाते।" इसपर उन्होंने कहा—"मैं सर्वत्र पर्यटन करता हूँ। मेरे व्याख्यान भी सर्वसाधारण के लिए होते हैं। इनमें छोटे-से-छोटा मनुष्य, किसी रुकावट और प्रतिबन्ध के बिना आ सकता है। वैसे तो कुएँ के पास प्यासे ही आया करते हैं, न कि कुआँ प्यासों के पास जाया करता है।"

भक्तों ने यज्ञोपवीत ग्रहण किये

उन्हीं दिनों वहाँ जैनियों का साधु सिद्धकरण भी आया हुआ था। महाराज ने उसके पास दो प्रश्न लिखकर भेजे-१. आप लोग मुख पर पट्टी क्यों बाँधते हैं? और २. गर्म जल क्यों पीते हैं?

स्वामीजी ने यह भी लिखा कि आपके मत में ऐसी ही अनेक अयुक्त बातें पाई जाती हैं। आप लोगों का यह मानना कि पैसा-भर कन्द में अनन्त जीव होते हैं सर्वथा युक्तिविरुद्ध है। भला, सान्त में अनन्त कैसे समा सकते हैं?

सिद्धकरणजी ने एक बार तो जैसे-तैसे उत्तर दे दिया, परन्तु जब स्वामीजी ने उस उत्तर पर भी आक्षेप किया और भक्त लोगों ने उनके पास जाकर प्रत्युत्तर लिख देने की प्रार्थना की तब वह सर्वथा हार मान बैठा, उसने उत्तर देना स्वीकार नहीं किया।

साधुजी के जी छोड़ देने से जैन लोगों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्हें अपने मत में भारी भ्रम दीखने लगे। उधर महाराज भी प्रतिदिन अपने भाषणों में जैनमत की अयुक्तता सिद्ध करते रहते थे। इसका अन्तिम परिणाम यह निकला कि एक दिन बहुत-से जैनियों ने मिलकर महाराज की सेवा में प्रार्थना की—"आपने हमारे नेत्र खोल दिये हैं। अब हमें जैनमत की असारता स्पष्ट दीखने लगी है। अपनी अपार कृपा से हमें यज्ञोपवीत धारण कराकर दीक्षित आर्य बना दीजिए।"

तब महाराज ने राव महाशय को यज्ञ-सामग्री के लिए आदेश दिया। विधिवत् यज्ञशाला का निर्माण कर उसे अलंकृत किया गया। चाँदी के चम्मच बनवाये गये। अजमेर से हवन-सामग्री मंगवाई गई। श्रावण पूर्णमासी संवत् १९३८ के दिन राव महाशय की ओर से

महोत्सव रचाया गया। उसमें बृहद् हवन हुआ। फिर श्री महाराज ने अपने शुभ हाथों से तेंतीस भद्र पुरुषों को यज्ञोपवीत प्रदान किये। उन्हें आर्य-धर्म की दीक्षा दी। मसूदा के जैनियों के जैन मत-त्याग से सारे मारवाड़ के जैनियों पर प्रभाव पड़ा। आर्यों के उत्साह भी चतुर्गुण हो गये। भाद्रपद कृष्णा द्वितीया को भरतपुर के राजपूत, क्षत्रिय, वैश्य, कायस्थ और चारण लोगों ने भी स्वामीजी से यज्ञोपवीत ग्रहण किये। उस दिन भी राव महाशय ने उत्सव और यज्ञ रचाया।

आर्य-ललनाओं का उद्धार

मारवाड़ के राज्यों में, जो लोग मुग़लों के समय में मुसलमान हो गये थे उनको वहाँ के आर्यलोग, स्वामीजी के समय तक, अपनी लड़कियाँ देते थे। महाराज ने आर्यों को आमन्त्रित किया और सभा लगाकर उनको उपदेश दिया कि जान-बूझकर अपनी प्यारी पुत्रियों को मुसलमान न बनाओ। उनपर यह अनीति, अन्याय और अनर्थ न करो! महाराज के वचन लोगों के हृदय में घर कर गये। उन्होंने वहीं प्रण किया कि हम आगे से इस घोर अपराध के भागी न बनेंगे। इस प्रकार स्वामीजी ने बीसियों आर्य-बालिकाओं के धार्मिक जीवन को बचा लिया।

सम्मानपूर्ण विदा

महाराज की कीर्ति-चन्द्रिका अन्य राज्यों में भी जा पहुँची। रायपुर से महाराज के पास निमन्त्रण-पर-निमन्त्रण आने लगे। महर्षि वहाँ जाने को उद्यत हुए तो राव महाशय का जी भर आया। राव महाशय ने विनय की—भगवन्! आपका यहाँ से प्रस्थान करना मेरे लिए अतिकष्टदायक है। आप यहीं विराजें। यहीं से आपके वेदभाष्य की सहायता का प्रबन्ध कर दिया जाएगा। महाराज ने कहा—"आप क्षत्रिय हैं, आपका धर्म और नीति ऐसी ही होनी चाहिए, परन्तु मैं साधु हूँ, मेरा कार्य सब स्थानों पर घूमकर प्रचार करना है, अतः आप मुझे प्रसन्नतापूर्वक विदा कीजिए।"

महाराज के प्रस्थान के दिन राव महाशय ने सम्मान-सभा की योजना की। किले की डेहरी के आगे एक सुन्दर मण्डप रचा गया। उसमें स्वच्छ और बहुमूल्य फर्श बिछाया गया। स्वामीजी की बग्घी उनके निवास-स्थान से चलकर, नगर में से होती हुई, सभा-मण्डप के सामने आ गई। सारी सभा ने उठकर उनका स्वागत किया। एक ऊँचे सिंहासन पर आरुढ़ होकर, उन्होंने उस समय राजा-प्रजा के धर्मों का अत्युत्तमता से निरूपण किया। उपदेश के अनन्तर राव

साहब ने उठकर अभिनन्दन पत्र पढ़ा। उसमें स्वामीजी के उपकारों की प्रभूत प्रशंसा की गई थी। इसके उपरान्त राव महाशय ने श्रीमहाराज के गले में पुष्पमाला पहनाई और चरणों पर पाँच सौ रुपया रखकर नमस्कार किया। आशीर्वाद देते हुए स्वामीजी ने भी फूलों का हार अपने मंगलमय हाथों से राव महाशय के गले में डाला। तत्पश्चात् राव महाशय आदि सज्जनों से वार्तालाप करते हुए स्वामीजी उठकर बग्घी में बैठ गये। कोई आध कोस तक चार सौ मनुष्य उन्हें पहुँचाने गये। अन्त में स्वामीजी ने गाड़ी खड़ी करके उनको उपदेश दिया और नगर को लौटा दिया। राव महाशय तो लगभग चार कोस तक उपदेश सुनते चले गये। अन्त में अत्याग्रह से महाराज ने उन्हें लौटाया।

दासी पुत्रों को राजमन्त्री बनाना उचित नहीं

महाराज भाद्रपद कृष्णा नवमी संवत् १९३८ को मसूदा से विदा हुए और अगले दिन रायपुर में पहुँच गये। यहाँ उन्होंने माधोदास की वाटिका में डेरा डाला। उनका शुभागमन सुनकर ठाकुर हरीसिंह अपने स्वजनों-परिजनों-समेत श्री-दर्शनों को आये। एक सुवर्णमुद्रा और पाँच रुपये भेंटकर चरण छूकर नमस्कार किया। महाराज की अनुमति पाकर सभी यथायोग्य स्थानों पर बैठ गये। कुशल-क्षेम प्रश्न के पश्चात् महाराज ने ठाकुर साहब से प्रश्न किया कि आपके यहाँ राजमन्त्री कौन है? उन्होंने उत्तर दिया शेख इलाहीबख्श हैं। इस समय वे जोधपुर गये हैं। उनकी अनुपस्थिति में उनके भतीजे करीमबख्श सब काम देखते हैं। यह सुनकर महाराज ने कहा—"आर्यपुरुषों को उचित है कि यवनों को अपना राज-मन्त्री न बनावें, क्योंकि वे दासी-पुत्र हैं।" यह सुनकर करीमबख्श और पाँच-सात अन्य मुसलमान जो वहाँ बैठे थे बहुत क्रुद्ध हुए। ९ दिन पश्चात् ये लोग अपने काजी को साथ लेकर स्वामीजी के पास पहुँचे। काजीजी ने पूछा—"आप हमें दासी-पुत्र कैसे बतलाते हैं?"

स्वामीजी—"अपने कुरानशरीफ को देखो। इब्राहीम की दो स्त्रियाँ थीं, एक विवाहिता सारा और दूसरी दासी हाजरा, जिसे उन्होंने घर में डाल लिया था, अतः आपके दासी-पुत्र होने में क्या सन्देह है?"

काजीजी—"कुरान में ऐसा नहीं लिखा।"

स्वामीजी—(रामानन्द ब्रह्मचारी से कुरान की पुस्तक मँगाकर) "देखिए, सूरा अनकबून में लिखा है कि उसी साल (खुदा ने) उसे

(इब्राहीम को) हाजरा (के गर्भ) से, जो सारा की दासी थी, इस्माईल प्रदान किया।''

काजीजी—''वह दासी तो थी, परन्तु निकाह कर लिया था।''

स्वामीजी—''फिर भी वह वास्तव में दासी ही तो थी, फिर आपके दासी-पुत्र होने में क्या सन्देह है?''

इसपर काजी निरुत्तर हो गये और मुसलमान देखते-के-देखते रह गये।

बनेड़ा में धर्म-प्रचार

बीस दिवस तक रायपुर में निवास करके महाराज जिस दिन प्रस्थान करने लगे उस दिन ठाकुर महाशय ने अपने पिता और प्रतिष्ठित बन्धुओं को भेजकर उन्हें बड़े आदर के साथ विदा किया।

भाद्रपद सुदी १५ संवत् १९३८ को रायपुर से प्रस्थान कर स्वामीजी ब्यावर पधारे। अगले दिन पता लगते ही लोग दल बाँधकर और मण्डलियाँ बनाकर श्री दर्शनों को आने आरम्भ हो गये। यहाँ महाराज के कई व्याख्यान हुए, जिन्हें सुनकर श्रोता परम सन्तुष्ट हुए।

बारह-तेरह दिन ब्यावर में निवास कर स्वामीजी पुनः मसूदा पधारे। यहाँ उन्होंने पन्द्रह दिन तक विश्राम किया। यहाँ से प्रस्थान कर स्वामीजी बनेड़ा में जाकर सुशोभित हुए।

ऋषि के भाग्यशाली विशाल भाल की शुभ्र शोभा को, उनके विमल नेत्रों की निर्मल ज्योति को, उनके कमनीय मुखमण्डल की उज्ज्वल कान्ति को और उनकी दिव्य देह की दैवी दीप्ति को दूर से ही देखकर, बनेड़ाधीश राजा महाशय के हृदय में भक्ति का प्रवाह उमड़ पड़ा। वे प्रेम-रस में गद्‌गद हो गये। अति निकट आकर श्री-चरण स्पर्श करते हुए उन्होंने निवेदन किया—''भगवन्! यह हमारे सौभाग्य की शुभ सूचना है कि श्री महाराज यहाँ पधारे हैं। आपके शुभ दर्शनों से सारा नगर कृतार्थ हो गया है।'' महाराज ने भी राजा महाशय से कुशल-मंगल तथा योग-क्षेम पूछा और कहा कि आप कोई प्रश्न पूछिए। उन्होंने जीव-ब्रह्म के विषय में प्रश्न किया, जिसके उत्तर में स्वामीजी ने कहा कि जीवात्मा से ब्रह्म न्यारा है। फिर स्वामीजी ने समझाया कि जैसे आकाश सारे मन्दिर के भीतर-बाहर परिपूर्ण है, परन्तु मन्दिर आकाश से भिन्न ही बना रहता है, ऐसे ही परमात्मा जीवात्मा में रमा हुआ है, फिर भी जीव उससे न्यारे ही रहते हैं।

एक दिन राजाजी के साथ राजपण्डित भी आये। वार्ता महीधर-

भाष्य पर चल पड़ी। स्वामीजी ने महीधर-भाष्य का ऐसा खण्डन किया कि राजपण्डित से उसका कोई उत्तर न बन पड़ा।

महाराज धर्म-प्रचार से भी बनेड़ा-वासियों का मंगल साधित करने में तत्पर थे। उनके भाषणों में सैकड़ों जन आते थे। एक दिन उन्होंने चक्रांकितों की समालोचना करते हुए कहा कि यदि एक अंग के दग्ध करने से स्वर्ग मिलता है तो भड़भूजे के भाड़ में पड़कर भुन जाने से तो तत्काल मुक्ति मिल जानी चाहिए।

बनेड़ा के अधिवासियों पर धर्म-मेघ बरसाकर महर्षि कार्तिक शुक्ला ५ संवत् १९३८ (२७ अक्टूबर १८८१) को चित्तौड़गढ़ में सुशोभित हुए और गम्भीरी नदी के तीर पर खण्डेश्वर महादेव के मन्दिर में ठहरे।

चित्तौड़गढ़ में उस समय बड़ी धूमधाम थी। लॉर्ड रिपन ने चित्तौड़ में एक बड़ा दरबार बुलाया था। राजा-महाराजा इकट्ठे हुए थे और सत्संग का बड़ा सुन्दर अवसर था। स्वामीजी का आतिथ्य उदयपुर रियासत की ओर से था। वहाँ के राजकवि श्यामलदासजी स्वामीजी के भक्त थे; उन्होंने ठहरने तथा विश्राम का पूरा प्रबन्ध कर रक्खा था। राजपूतों के इस संघ में स्वामीजी को महाराणा प्रताप और ठाकुर दुर्गादास की सन्तान की दशा देखने का अवसर मिला। कहाँ वह स्वाधीन शेर और कहाँ ये राज्य और इन्द्रियों के बन्धुए! ऋषि ने राजपूताने की दशा को रोते हुए हृदय से देखा। जो लोग वीरता के आदर्श, मान के पुजारी और स्वाधीनता के पुतले थे, वे ऋषि दयानन्द को विलासिता के दास, अफीम के पुजारी और अंग्रेज़ी सरकार के बन्धुए दिखाई दिये। ऋषि के शिष्य स्वामी आत्मानन्दजी ने एक घटना बताई है। अपने शिष्यों के साथ ऋषि एक दिन चित्तौड़गढ़ का किला देखने गये। जिस ऋषि दयानन्द की आँखों में पिता और बहिनों का वियोग तरी न ला सका, चित्तौड़गढ़ की दशा देखकर उनकी आँखों से झर-झर आँसू बहने लगे। ऋषि ने एक ठण्डी साँस लेकर कहा—

"ब्रह्मचर्य का नाश होने से भारतवर्ष का नाश हुआ है, और ब्रह्मचर्य का धारण करने से ही फिर देश का उद्धार हो सकेगा।"

महाराणा सज्जनसिंह का परिचय

स्वामीजी के गुण-सुमनों की सुगन्धि महाराणा सज्जनसिंह तक भी पहुँच गई। उसे सुनकर सज्जनसिंह के हृदय में महर्षि के दर्शनों की उत्कट इच्छा उत्पन्न हुई। एक दिन वे प्रतिष्ठित राजाओंसहित

महर्षि की सेवा में जाते हुए बोले—"हम स्वामीजी के पास चुपचाप जाना चाहते हैं। उनके समक्ष हमारे नाम आदि का परिचय न दें। हम एक निःस्पृह संन्यासी से अपना मान-सम्मान नहीं कराना चाहते।"

श्रीसेवा में पहुँचकर श्री राणीजी ने परोपकार-परायण परमहंसजी को परम आदर से नम्र नमस्कार किया और फिर वे पास पड़े पटड़े पर बैठ गये। उस समय महाराज ने राजधर्म और राजकीय कर्तव्य-कर्म का ऐसी उत्तमता से वर्णन किया कि सबके मुख से धन्य-धन्य की ध्वनि निकलने लगी। जैसे कोरे घड़े में पानी की बूँद रच जाती है, ऐसे ही उपदेश का एक-एक वचन महाराणा के महत्त्वाकांक्षी मन में घर करता चला गया। उनका हृदय अनुपम प्रभाव से परिपूर्ण हो गया। व्याख्यान की समाप्ति पर श्रीमहाराज ने शाहपुराधीश की ओर नेत्रज्योति फिरा कुशल-क्षेम पूछा। फिर श्री महाराजजी की ओर निहारकर कहा—"आपका पहले तो कभी साक्षात्कार नहीं हुआ दिखता। आपकी शोभा वर्णन कीजिए।" एक बार तो शाहपुराधीश मौन रहे, परन्तु दूसरी बार पूछने पर उन्होंने कहा—"आप महाराणा सज्जनसिंहजी हैं।" तब स्वामीजी स्नेहसिक्त वाणी से बोले—"श्रीमन्त राणाजी का इस प्रकार चुपचाप आना और एक साधारण आसन पर बैठ जाना शोभा नहीं देता।"

श्री राणाजी ने अति नम्रता से निवेदन किया—"भगवन्! आप-जैसे सन्तों के समीप साधारण अवस्था में आने और साधारण आसन पर बैठने में ही हम गृहस्थों की शोभा और सौभाग्य है। दूसरी सभाओं में तो हमें राजसी ठाठ-बाट से जाना ही पड़ता है, यदि संन्यासियों के सत्संग में भी, उसी बाहर की बन-ठन से आये तो विशेषता ही क्या हुई? यही तो एक आसन है जहाँ, आकर शासनकर्त्ता भी नम्रता सीखते हैं।" श्री राणाजी उस दिन के सत्संग से बड़े प्रभावित होकर राजभवन में लौटे।

लॉर्ड रिपन के दरबार की समाप्ति के अनन्तर महाराणा सज्जनसिंह ने स्वामीजी महाराज को अपने दरबार में आमन्त्रित किया। अपने दरबार में स्वामीजी महाराज के दर्शन कर महाराणा ने नतमस्तक हो उनकी अभिवन्दना की। सम्मान के साथ उनसे आसन ग्रहण करने की प्रार्थना की। स्वयं शिष्य-भावना के साथ उनके समीप बैठ गये।

दयानन्द सरस्वती ने महाराणा को राजनीति के विषय में उपदेश दिया। सदाचार के नियमों का प्रतिपादन करते हुए मद्य-सेवन तथा

वेश्या-संग के दोष-दर्शन कराए। दयानन्द सरस्वती के लाग-लपेट से रहित निर्भय प्रवचनों को सुनकर महाराणा बहुत प्रभावित हुए। अब तक उन्होंने ऐसा स्पष्ट वक्ता, ऐसा निर्भीक उपदेष्टा नहीं देखा था।

चार दिसम्बर सन् १८८१ के दिन महाराणा सज्जनसिंह स्वयं स्वामीजी के डेरे पर पधारे। परम श्रद्धा के साथ महाराज के पास बैठकर धर्म और राजनीति के विषय में वार्तालाप करते रहे।

मातृशक्ति का सम्मान

एक दिन स्वामीजी व्याख्यान के अनन्तर कई राजाओं और पण्डितों-सहित भ्रमण करने जा रहे थे। मूर्त्तिपूजा पर युक्तियाँ-प्रतियुक्तियाँ चल रही थीं। आगे ग्रामीण लोगों का एक देवालय आ गया। उस समय वहाँ बहुत-से छोटे-छोटे बच्चे मिल-जुलकर स्वच्छन्दतापूर्वक खेल-कूद रहे थे। स्वामीजी ने वहाँ एकाएक सिर नीचा कर दिया और फिर आगे चल पड़े। एक साथी पण्डित ने कहा—"स्वामीजी! प्रतिमापूजन का खण्डन आप चाहे जितना करो, परन्तु देव-बल का भी प्रत्यक्ष प्रभाव है कि देवालय के सामने, आपका मस्तक आप-ही-आप नीचा हो गया।" महाराज यह सुनते ही उन्हीं पाँवों पर खड़े हो गये और उन बालकों में खेलती हुई एक चतुर्वर्षीया, विगत-वस्त्रा बालिका की ओर संकेत करके बोले—"देखते नहीं हो यह मातृ-शक्ति है, जिसने हम सबको जन्म प्रदान किया है।" ये शब्द सुनते ही सारी संगति पर सन्नाटा छा गया, सभी मूक हो गये। आसन पर लौट आने तक, उन लोगों के कानों में वही शब्द गूँजते रहे।

महर्षि को मुम्बई आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर जाना था। जिस दिन महर्षि को प्रस्थान करना था उस दिन श्री राणाजी ने बग्घी भेजकर महाराज को अपने भवन पर निमन्त्रित किया। उन्हें भक्ति-भाव से सम्मानित कर पाँच सौ रुपये भेंट किये और श्री चरण छूकर प्रार्थना की—"भगवन्! उदयपुर में यथा-सम्भव शीघ्र ही दर्शन दीजिएगा।" ऋषि ने वचन दे दिया।

मुम्बई आर्यसमाज का वार्षिकोत्सव

इन्दौर नरेश चिरकाल से ऋषि-दर्शनों के लिए उत्सुक थे और इन्दौर पधारने की प्रार्थना भी किया करते थे, अतः ऋषि मुम्बई जाते हुए इन्दौर उतरे, परन्तु दैवयोग से उस समय इन्दौर-नरेश कहीं अन्यत्र गये हुए थे। न्यायाधीश श्रीनिवासजी ने उन्हें बड़ी आवभगत से ठहराया और सेवा-शुश्रूषा की। एक सप्ताह पर्यन्त जनता को

अपने सत्संग-सुधा से सींचकर स्वामीजी पौष शुक्ला ९ संवत् १९३८ (३० दिसम्बर १९८१) को मुम्बई पहुँचे।

ऋषिवर जिस समय रेलवे स्टेशन पर पहुँचे उस समय अल्काट महाशय आर्यसमाज के सभासदोंसहित वहाँ उपस्थित थे। जब ऋषि गाड़ी से उतरे तब सब नम्रता से 'नमस्ते' कहकर उन्हें मिले। महाराज ने भी अपनी मधुवर्षिणी वाणी से अनुपम प्रेम प्रदर्शित करते हुए क्रमशः सब सज्जनों का कुशल-मंगल पूछा, तत्पश्चात् गाड़ी में बैठकर बालकेश्वर में गोशाला नामक स्थान में आ विराजे।

यहाँ इन्हीं दिनों पादरी यूसुफ ने एक व्याख्यान दिया, जिसमें यह सिद्ध करने का यत्न किया कि ईसाईमत ही ईश्वरीय है; शेष सब धर्म अनीश्वरीय हैं। स्वामीजी ने इस व्याख्यान के उत्तर में पादरी को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा। पादरी महाशय शास्त्रार्थ के लिए तैयार नहीं हुए। स्वामीजी ने सार्वजनिक व्याख्यान देकर पादरी महाशय के दावे का भली प्रकार खण्डन कर दिया।

मुम्बई का वार्षिकोत्सव बड़ी धूमधाम से सम्पन्न हुआ। उत्सव की दो घटनाएँ विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। प्रथम यह कि यहाँ स्वामीजी ने थियोसोफिकल सोसायटी के साथ आर्यसमाज के सम्बन्ध-विच्छेद की घोषणा की। परिणामस्वरूप मुम्बई में कर्नल अल्काट और मैडम ब्लैवट्स्की का प्रभाव शिथिल पड़ गया। दूसरी यह कि मुम्बई आर्यसमाज ने पहले से निश्चित किये विस्तृत नियमों को छोड़कर लाहौर आर्यसमाज के स्वीकृत नियमों को स्वीकार कर लिया।

विभूति-दर्शन

उस उत्सव में दानापुर से श्री जनकधारीलालजी आदि कई सज्जन श्री-दर्शनों को वहाँ आये थे। महाराज के मंगल-मिलाप और मधुमय मनोहर वार्तालाप से उन्हें अति प्रसन्नता हुई। स्वामीजी ने उन्हें कहा—"दानापुर से चलते समय आपकी यह कामना थी कि वहाँ चलकर अमुक-अमुक प्रश्न पूछेंगे। इस समय हमें अवकाश है, जो कुछ पूछना हो पूछ लीजिए।" वे अति चकित हुए कि स्वामीजी ने हमारी मनःकामना तक को कैसे जान लिया है?

श्रीजनकधारीलाल, महाराज की कोठरी से बाहर बैठकर अपने पूर्वचिन्तित कठिन प्रश्नों को, स्वामीजी से पूछने के लिए, लेखबद्ध करने लगे। वे ज्यों ही पत्र पर कोई प्रश्न लिखते थे त्यों ही उनका प्रबल उत्तर, उनके भीतर प्रकाशित हो जाता था। इस प्रकार उन्होंने

सब प्रश्नों को एक-एक करके लिखा और उत्तर सूझने पर उन्हें काट डाला। काट-छाँट से प्रश्न तो उनके पास कोई न रहा, परन्तु उनके आश्चर्य का कोई ठौर-ठिकाना न था। वे सोचते थे कि जिन युक्तियों को हम वज्र-शिला के सदृश समझते थे वे आज रूई के फाहे की भाँति आप-ही-आप उड़ी चली जा रही हैं। मानो कोई अपूर्व तार्किक हमारे अन्तःकरण में आसन लगाकर उत्तर दे रहा है। इतने में स्वामीजी बाहर आ गये और हँसकर बोले—"कहिए, प्रश्न लिख लिये?" जनकधारीलालजी ने विनय की कि और तो कुछ पूछने योग्य रहा ही नहीं, अब केवल ईश्वरोपासना की विधि बताइए। महाराज ने कहा—"उपासना की विधि तो हमने आपको दानापुर में ही बताई थी। प्रतीत होता है आप उसके अनुसार नहीं करते।"

यम-नियमों का पालन कीजिए

श्रीजनकधारीलालजी के एक साथी ने भी प्रार्थना की कि भगवन्! मुझे भी उपासना की पद्धति का उपदेश कीजिए। महाराज ने उसके मुख पर अपने नेत्रों की ज्वलन्त ज्योति डालकर कहा कि आप अभी यम-नियमों का ही पालन कीजिए। उसने तीन बार यही प्रश्न पूछा और महाराज ने भी तीनों बार उसे यम-नियमों का निभाना ही बताया। वह भद्र पुरुष कुछ खिन्न और उदास होकर कोठरी से बाहर निकल आया। जब उसके साथी भी उसे आ मिले तब वह उनको उलाहना देकर बोला कि इतनी दूर से यहाँ आये, परन्तु प्राप्त कानी कौड़ी भी न हुई! इसपर उसके संगियों ने उसे समझाया कि स्वामीजी तो मनुष्य के मन के गुप्त भेदों को भी जान जाते हैं। वे यदि आपको यम-नियमों का पालन करना न बताते तो आप ही बताएँ और क्या कहते?

उस समय उस भद्र पुरष को भी अपने किये दुष्कर्म का ध्यान आ गया। वह मन-ही-मन कहने लगा कि जब मैं दायभाग के एक बड़े भारी झगड़े में झूठी साक्षी देकर आया हूँ और यहाँ से जाकर भी उसी में मिथ्या-कथन करूँगा तो महाराज ने मुझे ठीक ही उपदेश किया है। इससे अधिक का अधिकारी मैं हूँ ही नहीं।

योगशास्त्र सत्य है

एक सज्जन ने स्वामीजी से निवेदन किया—"भगवन्! पातञ्जल-शास्त्र का विभूतिपाद क्या सच्चा है?" उन्होंने कृपा की—"आप यों ही सन्देह करते हैं। योग-शास्त्र तो अक्षरशः सत्य है। वह कोई पुराणों की-सी कल्पना नहीं है, किन्तु क्रियात्मक और अनुभव-

सिद्ध शास्त्र है। दूसरी विद्याओं में उत्तीर्ण होने के लिए, आप लोग कई वर्ष व्यय करते हैं। इसके लिए यदि आप तीन मास तक मेरे पास निवास करें और मेरे कथनानुकूल योग-क्रियाएँ साधें तो आप इस शास्त्र की सिद्धियों को स्वयं साक्षात् कर लेंगे।''

प्रभु-कृपा से सुअर भी हंस बन सकते हैं

एक भक्त ने विनय की—''आप योग आद के परम गोपनीय, गहन और गुप्त भेदों का जिस-किसी के सामने वर्णन कर देते हैं, यह उचित प्रतीत नहीं होता। अनधिकारियों को उपदेश देना ऐसा है जैसे सूअरों के सम्मुख मोती बखेरना।'' महाराज ने उत्तर दिया—''भद्र! ऐसे बड़े समारोह में कोई-न-कोई हंस भी आ जाया करता है और यदि परमदेव की दया हो जाए तो सूअर भी हंस बन सकते हैं।''

शूद्रों के उद्धार की चिन्ता

शूद्रों के उद्धार और उन्हें बचाने की चिन्ता भी उनके चित्त में बड़ी गहरी थी। एक दिन एक मनुष्य महाराज के पास आया। उन्होंने उससे पूछा—''आप कौन हैं? क्या काम करते हैं? क्या कुछ संस्कृत भी जानते हैं?'' उसने उत्तर दिया—''भगवन्! मैं ब्राह्मण हूँ। अब काम-धन्धा तो कुछ नहीं करता, केवल पेन्शन पर निर्वाह होता है। संस्कृत तो नहीं आती, परन्तु कुछ कर्म-काण्ड के श्लोक कण्ठाग्र किये हुए हैं।''

स्वामीजी ने उससे कहा—''आप उपदेश का कार्य करने लग जाइए।'' उसने विनय की—''रात-दिन बाल-बच्चों की चिन्ता और सोच में लीन रहता हूँ। ऐसी अवस्था में उपदेश का काम कैसे किया जा सकता है?'' स्वामीजी ने कहा—''आपको पेन्शन मिलती है। उसमें पुत्र-पौत्र का परिपालन भली-भाँति हो सकता है। आप ब्राह्मण-वंशीय हैं। पूर्वकाल में आपके पुरातन पुरुष जगद्-गुरु समझे जाते थे। वे जगदुपकार में जी-जान से लगे रहते थे। आपके लिए भी उनके चरण-चिह्नों पर चलना उचित है। अपने पूर्वजों की भाँति परोपकार का व्रत धारण कीजिए और कटि बाँधकर भीलों की बस्तियों में चले जाइए। वे दिनों-दिन, धड़ाधड़ ईसाई होते चले जा रहे हैं। उन्हें अपनी इच्छानुकूल ईश्वर-भक्ति का उपदेश देकर, किसी प्रकार ईसाइयों के पंजे से बचाइए। आर्यजाति के छिलते हुए तलुओं की, टूटती हुई अंगुलियों की और कटते हुए पाँव की रक्षा कीजिए'', परन्तु उस ब्राह्मण के ऐसे भाग न थे, जो ऋषि-वचनों को स्वीकार करता।

मैं आपको भिक्षु नहीं बनाना चाहता

मुम्बई में आर्यसमाज मन्दिर के निर्माण के लिए एक निधि खोली गई। लोग यथाशक्ति उसमें दान देते थे। उन्हीं दिनों में एक मारवाड़ी सज्जन श्रीस्वामीजी के निकट आया और नम्रता से कहने लगा—"भगवन्! मेरे पास दस सहस्र रुपये हैं। वह सारा द्रव्य मैं आर्यसमाज-मन्दिर के कोष में समर्पित करता हूँ। कृपया यह तुच्छ भेंट स्वीकार कीजिए।" ऋषिवर ने भक्त की भावना की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहा—"मैं अतीव प्रसन्न हूँ कि आपके हृदय में आर्यधर्म का इतना अगाध प्रेम है, परन्तु मैं आपकी सम्पूर्ण पूँजी लेकर आपके परिवार को परमुखापेक्षी, परान्न-परायण भिक्षु नहीं बनाना चाहता। जिस धर्म के अंग का पालन करते हुए पहला धर्मांग बिगड़ जाए वह धर्म ठीक नहीं है। उस मन्दिर की क्या शोभा होगी जिसके बनने में आपका व्यापार बन्द हो जाए, आपकी गृहस्थ-यात्रा न चल सके! हाँ, आपसे एक सहस्र रुपया लिया जा सकता है।"

मोनियर विलियम्स से भेंट

उन्हीं दिनों बम्बई में, पश्चिम के सुप्रसिद्ध पण्डित मोनियर विलियम्स महाशय आये हुए थे। एक दिन उन्होंने भी श्रीस्वामीजी का शुभ मिलाप प्राप्त किया। पहले संस्कृतभाषा में बातचीत आरम्भ हुई, परन्तु अतिथि को अनभ्यास के कारण संस्कृत में वार्तालाप करना कठिन प्रतीत होता था, इसलिए महाराज ने एक दुभाषिया बीच में बैठा लिया। स्वामीजी तो संस्कृत में ही बोलते थे और मोनियर विलियम्स महाशय की इंगलिश का आर्यभाषा में अनुवाद करके दुभाषिया स्वामीजी को समझाता था। बड़े लम्बे कथनोपकथन के अनन्तर, मोनियर विलियम्स महाशय ने महाराज के मंगल-मिलाप के लिए अति प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"आपके विचार परिमार्जित और अत्युच्च हैं। यूरोपवासियों में भी इन विचारों का प्रचार होना चाहिए। यदि आप उस महाद्वीप की यात्रा करना स्वीकार करें तो मैं आपके व्यय आदि का भार अपने ऊपर लेता हूँ।"

स्वामीजी ने अतिथि को उसकी इस उदारता के लिए धन्यवाद देकर कहा—जिस भारत-भूखण्ड में मैं रहता हूँ वहाँ अविद्यान्धकार घोरतम रूप धारण किये बैठा है। इस देश के वासी दिन-पर-दिन दुःखी और दरिद्र होते चले जाते हैं। यहाँ के समाज में कुरीतियों का कोई भी पारावार नहीं है। ऐसे ही कारणों से इस देश का सुधार करना मैं अपना मुख्य कर्त्तव्य मानता हूँ।

गो-रक्षा के लिए प्रबल उद्योग

स्वामीजी के उत्तमोत्तम कार्यों में गो-रक्षा का कार्य भी सम्मिलित था। महाराज ने गो-रक्षा पर सैकड़ों व्याख्यान दिये। सहस्रों मुसलमानों और ईसाइयों को गाय की उपयोगिता निश्चित कराई। 'गोकरुणानिधि' नामक पुस्तक प्रकाशित कराई और अन्त में सकल गो-रक्षकों की एक वाक् बनाकर महारानी विक्टोरिया के पास पुकार पहुँचाने के लिए कटिबद्ध हो गये। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु उन्होंने एक निवेदन-पत्र तैयार किया। इस निवेदन-पत्र पर वे करोड़ों व्यक्तियों के हस्ताक्षर कराकर महारानी विक्टोरिया की सेवा में भेजना चाहते थे, परन्तु उनकी असामयिक मृत्यु के कारण उनका उद्देश्य पूर्ण न हो सका।

उदयपुर में

मुम्बई से प्रस्थान कर महाराज खण्डवा, इन्दौर, रतलाम और जावरा आदि नगरों में धर्मोपदेश करते हुए चित्तौड़ में सुशोभित हुए और दो सप्ताह यहीं निवास किया। चित्तौड़ से प्रस्थान कर ऋषिवर श्रावण कृष्णा १२ संवत् १९३९ (११ अगस्त सन् १८८२) को उदयपुर पहुँचे। महाराज सज्जनसिंह की ओर से नौलखा-उद्यान (सज्जन-विला) में उनके ठहरने का सुप्रबन्ध किया गया।

महाराणा की काया-पलट

पण्ड्या मोहनलाल विष्णुलाल आदि कई सज्जन महाराज के चरणों में बैठकर अध्ययन करने लगे। उन्हें देखकर राणाजी भी उस श्रेणी में सम्मिलित हुए। उन्हें संस्कृत का कुछ अभ्यास तो पहले ही था, अतः शास्त्रों के पढ़ने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं हुई। स्वामीजी ने उन्हें विशेष आग्रह से मनुस्मृति का राजप्रकरण पढ़ाया। वहाँ राजा के धर्मों का अनुशीलन करके महाराणा की आँखें खुल गईं। उन्होंने जीवन का सुधार आरम्भ कर दिया। महाराणा ने अपना समय-विभाग निश्चित कर लिया। प्रातःकाल उठने लगे, सन्ध्योपासन नियमपूर्वक होने लगा। शराब और वेश्यागमन का त्याग कर दिया। राज्य-कार्य से बचे शेष समय में महाराणा ऋषि का सत्संग और उनसे शास्त्रों का अध्ययन करते थे। धीरे-धीरे महाराणा ने वैशेषिक और योग-दर्शन पढ़ लिये तथा प्राणायाम की विधि भी सीख ली।

ऋषि दयानन्द प्रायः कहा करते थे कि प्रजा का सुधार राजा के सुधार पर अवलम्बित है। जहाँ कहीं भी ऋषि को अवसर मिलता वे शासकों के सुधार में यत्नवान् रहते थे। उदयपुर में पहुँचकर आपने महाराणा के जीवन में परिवर्तन लाने का उद्योग किया। ऋषि को

राजपूतों पर बड़ा विश्वास था और उनमें से भी प्रताप के वंशजों से तो विशेष आशा थी। थोड़े ही समय में ऋषि ने महाराणा सज्जनसिंह के जीवन में आश्चर्यजनक परिवर्तन उत्पन्न कर दिया।

भारत का पूर्ण हित कब होगा ?

एक दिन पण्ड्या मोहनलाल विष्णुलालजी ने निवेदन किया—"भगवन्! भारत का पूर्ण हित कब होगा ? यहाँ जातीय उन्नति कब होगी ?"

महाराज ने उत्तर दिया—"एक धर्म, एक भाव और एक लक्ष्य बनाये बिना भारत का पूर्ण हित और जातीय उन्नति का होना दुष्कर कार्य है। सब उन्नतियों का केन्द्र-स्थान ऐक्य है। जहाँ भाषा, भाव और भावना में एकता आ जाए वहाँ सागर में नदियों की भाँति, सारे सुख एक-एक करके प्रवेश करने लग जाते हैं। मैं चाहता हूँ कि देश के राजे-महाराजे अपने शासन में सुधार और संशोधन करें। अपने राज्य में धर्म, भाषा और भावों में एकता उत्पन्न कर दें।"

फिर भी पण्ड्याजी ने प्रार्थना की--"जब आपका उद्देश्य और आदर्श एकता सम्पादान करना है तब आप मत-मतान्तरों का कठोर खण्डन क्यों करते हैं, इससे तो उलटा वैर-विरोध और वैमनस्य बढ़ता है।"

महाराज ने उत्तर दिया—"एक तो मेरा धार्मिक लक्ष्य सार्वजनिक है। उसे संकुचित नहीं किया जा सकता। दूसरे, भारतवासी लम्बी तानकर ऐसी गहरी नींद में सो रहे हैं कि मीठे शब्दों से तो आँख खोलने को भी समुद्यत नहीं होते। सुधार का तो ये नाम तक नहीं लेते। कु-रीतियों और कु-नीतियों के खण्डन-रूपी कोड़े की तड़ातड़ ध्वनि से भी यदि ये जग जाएँ तो ईश्वर का कोटि-कोटि धन्यवाद करूँगा।"

"पण्ड्याजी! कोई देश, जन-शून्य नहीं हो जाया करता। लोग तो बने ही रहा करते हैं, परन्तु धर्म-गुरुओं और सामाजिक नेताओं की असावधानी, प्रमाद और आलस्य से भावना, भाव और भाषा आदि एकता के चिह्न बदल जाते हैं, जाति के आचार-विचार परिवर्तित हो जाते हैं, रहन-सहन के ढंगों में भेद आ जाता है। ठीक ऐसा ही समय अब इस देश पर उपस्थित है। यदि सँभाला न गया तो आर्यजाति परिवर्तन के चंचल चक्र पर चढ़कर, अतिशय उतावली से अपने पूर्व पवित्र शरीर को परिवर्तित कर डालेगी। इसके पिछले प्रमाद के कारण करोड़ों मनुष्य मुसलमान बन गये। अब प्रतिदिन सैकड़ों ईसाई बनते चले जा रहे है! ऐसे समय में तो अपने सधर्म बन्धुओं को कड़े हाथ से उनकी चोटियाँ पकड़कर भी जगाना होगा। भाई!

यह कटु कर्त्तव्य मैं कोई अपने स्वार्थ के लिए तो पालन नहीं कर रहा हूँ। मुझे तो इसके कारण अवहेलना, निन्दा, कुवचन, ईंट-पत्थर और विष ही स्थान-स्थान पर मिलता है, परन्तु बन्धु-वात्सल्य की भावना मुझे विपत्तियों के विकट और जटिल जाल में भी समाज-सुधार के लिए प्रोत्साहित कर रही है।''

पण्ड्याजी ने नमस्कार पूर्वक श्री-चरणों का हार्दिक अनुमोदन करते हुए कहा—''महाराज! यदि दो-चार धर्माचार्य भी आपके विचार के हो जाएँ तो स्वल्प समय में ही आर्यजाति का बेड़ा पार हो सकता है।''

एक दौड़ लगाकर बाहर जा सकता हूँ

एक दिन महाराज अकेले बैठे हुए थे। उस समय श्रीराणाजी पधारे और गुरु महाराज से विनीत विनय करने लगे—''भगवन्! आप मूर्त्तिपूजा का खण्डन छोड़ दें। यह राजनीति के 'सर्वसंग्रह' सिद्धान्त के प्रतिकूल है। यदि यह बात स्वीकार कर लें तो एकलिंग महादेव के महन्त की गद्दी आपकी है। वैसे तो यह राज्य भी उसी मन्दिर के प्रति समर्पित है, परन्तु मन्दिर के नाम जो राज्य का भाग लगा हुआ है, उसकी आय भी लाखों रुपये वार्षिक है। इतना भारी ऐश्वर्य आपका हो जाएगा। सारे राज्य के आप गुरु माने जाएँगे।''

श्रीराणाजी की प्रार्थना श्रवण करते ही स्वामीजी झुँझलाकर बोले—''आप मुझे तुच्छ प्रलोभन दिखाकर परमात्मदेव से विमुख करना चाहते हैं, उसकी आज्ञा-भंग कराना चाहते हैं। राणाजी! आपके जिस छोटे-से राज्य और मन्दिर से मैं एक दौड़ लगाकर बाहर जा सकता हूँ, वह मुझे अनन्त ईश्वर की आज्ञा-भंग करने के लिए विवश नहीं कर सकता! परमात्मदेव के परम-प्रेम के सामने, इस मरुभूमि की मायाविनी मरीचिका अति तुच्छ है। लाखों मनुष्यों के विश्वास केवल मेरे भरोसे पर निर्भर हैं। मुझे ऐसे शब्द कहने का फिर कभी साहस न कीजिएगा! मेरी धर्म की ध्रुव धारणा को धराधाम और आकाश की कोई भी वस्तु डगमगा नहीं सकती।''

राणाजी उनके सत्य के आवेश से सूर्य समान चमकते हुए मुखमण्डल को देखकर चौंक पड़े और चित्त में अतीव आश्चर्यचकित हुए। वे हाथ जोड़कर बोले—''भगवन्! मैंने आपके निश्चय की दृढ़ता देखने के लिए ही ऐसा कहा था। अतः इस धृष्टता को क्षमा कर दीजिएगा। अब मुझे पूर्ण विश्वास हो गया है कि संसार की कोई भी वस्तु आपकी दृढ़ता को डाँवाँडोल नहीं कर सकती। आपका

निश्चय कभी हिल नहीं सकता।''

धर्महीन हो जाने से भीख माँगकर खाना अच्छा

एक दिन श्रीराणाजी को मनुस्मृति का पाठ पढ़ाते हुए महाराज ने कहा—''यदि कोई अधिकारी धार्मिक आज्ञा दे तभी उसका पालन करना चाहिए, अधर्म-युक्त कथन को कभी नहीं मानना चाहिए।'' इसपर सरदारगढ़ के ठाकुर मोहनसिंहजी ने निवेदन किया—''भगवन्! ये राणाजी हमारे भूपाल हैं। यदि हमें ये कोई आज्ञा दें और हम उसे अधर्म-युक्त समझकर न मानें तो हमारा लघु राज्य ही छिन जाए।'' महाराज ने कहा—''कोई चिन्ता नहीं। धर्म के लिए धन और ठकुराई भले ही चली जाए। धर्म-हीन हो जाने से और अधर्म-कार्य करके अन्न खाने से तो भीख माँगकर पेट की पालना करना बहुत अच्छा है।''

भैंसों के वकील

स्वामीजी के उदयपुर में निवास के दिनों में दशहरा आ गया। इस त्यौहार को वहाँ बड़े समारोह से मनाया जाता है। राणाजी की यात्रा बड़े ठाठ-बाट से निकलती है। बड़ी भारी राज-सभा लगती है। उस दिन कई भैंसे भी काटे जाते हैं। राणाजी के निवेदन पर श्रीमहाराज भी दशहरा-महोत्सव देखने पधारे। जब उन्हें पता लगा कि यहाँ बहुत-से भैंसे काटे जाएँगे तब उन्होंने राणाजी से कहा कि आप नरेश हैं। न्याय करना आपका कर्त्तव्य-कर्म है। मैं मारे जानेवाले भैंसों का वकील बनकर श्रीमन्त के सम्मुख उपस्थित हूँ। अब न्यायाधीश को निर्णय करना चाहिए कि इनका वध क्योंकर उचित है? चिरकाल तक बातचीत होती रही। अन्त में श्रीराणाजी ने विनय की कि पुरानी परिपाटी, परम्परा से चली आ रही है। इसे एकाएक न तो हम उठा सकते हैं और न उठा देना उचित ही है। हाँ, आपके आदेशानुसार इसे धीरे-धीरे हटा देने का प्रयत्न किया जाएगा।

यह आर्यसमाज है

यहाँ से महाराज ने एक पत्र में लाला कालीचरण रईस फर्रुखाबाद को लिखा था—''तुम आर्यसमाज की पत्रिका में नाटक का विषय मत छापो, यह अनुचित है। यह आर्यसमाज है, भड़ुआ-समाज नहीं जो तुम नाटक का विषय छापते हो। ऐसा करना भड़ुआपन की बात है।''

परोपकारिणी सभा का निर्माण

ऋषि दयानन्द की दूरदर्शिनी दृष्टि अब समीप आते हुए अन्त को देख रही थी। मेरठ से चलते हुए ऋषि ने आर्यपुरुषों को जो

आदेश दिया था, उसके वाक्य बतलाते हैं कि ऋषि भविष्य को देख रहे थे। आपने वहाँ अपने व्याख्यान में कहा था कि—"महाशयो! मैं कोई सदा बना नहीं रहूँगा। विधाता के न्याय-नियम में मेरा शरीर क्षण-भंगुर है। काल अपने कराल पेट में सबको चबा डालता है। अन्त में इस देह के कच्चे घड़े को भी उसके हाथों टूटना है। सोचो, यदि अपने पाँव पर खड़ा होना नहीं सीखोगे तो मेरे आँख मीचने के पीछे क्या करोगे? अभी से अपने को सुसज्जित कर लो। स्वावलम्बन के सिद्धान्त का अवलम्बन करो; अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने योग्य बन जाओ। किसी दूसरे के सहारे की आशा छोड़ अपने पर ही निर्भर करो।" ऋषि के हृदय में यह चिन्ता थी कि मेरे मरने के पीछे कार्य का सँभालनेवाला कौन होगा?

सँभालने को बहुत-कुछ था। सबसे प्रथम ऋषि समझते थे कि जो आर्यसमाजें देश-भर में बिखरी हुई हैं उनका कोई केन्द्रभूत संगठन होना चाहिए। दूसरी चिन्ता ऋषि को वेद-प्रचार की थी। इसके अतिरिक्त ऋषि ने वेदभाष्य तथा अपने अन्य ग्रन्थ छपवाने के लिए सन् १८७९ में वैदिक प्रेस की स्थापना की थी। प्रेस अभी तक निराधार था। ऋषि को निरन्तर भ्रमण करना पड़ता था, इस कारण हिसाब में सदा गड़बड़ रहती थी। जब सामने ही यह अवस्था थी तब पीछे के लिए क्या भरोसा हो सकता था? ऋषि के ग्रन्थ जहाँ-तहाँ छपे पड़े थे, उन्हें एक स्थान में संग्रह करने और सँभालने का यत्न भी आवश्यक था।

इन सब बातों पर विचार करके ऋषि ने एक ऐसी सभा का निर्माण करना निश्चित किया जो इन त्रुटियों को पूरा कर सके। उदयपुर में निवास करते हुए महर्षि ने परोपकारिणी सभा का निर्माण एक 'स्वीकार-पत्र' (वसीयतनामे) के रूप में किया। स्वीकार-पत्र का प्रारम्भ इस प्रकार था—

"मैं स्वामी दयानन्द सरस्वती निम्नलिखित नियमों के अनुसार तेईस (२३) आर्यपुरुषों की सभा को वस्त्र, पुस्तक, धन और यन्त्रालय आदि अपने सर्वस्व का अधिकार देता हूँ और उसे परोपकार तथा सुकार्य में लगाने के लिए अध्यक्ष बनाकर यह स्वीकार-पत्र लिख देता हूँ कि समय पर काम आवे।"

इस प्रकार परोपकारिणी सभा को ऋषि ने अपनी उत्तराधिकारिणी बनाया था।

१३
अन्तिम दृश्य

शाहपुरा में पदार्पण

उदयपुर से प्रस्थान कर चित्तौड़ होते हुए ऋषिवर फाल्गुन कृष्णा अमावास्या को शाहपुरा में पहुँचे और राजकीय उद्यान में डेरा डाला। सायंकाल शाहपुराधीश महाराजा नाहरसिंह राज्य के सम्मानित व्यक्तियों के साथ महर्षि की सेवा में कुशल-क्षेम पूछने के लिए आये।

यहाँ रहते हुए महाराज का अधिक समय वेदभाष्य में व्यतीत होता था। कुछ समय श्रद्धालु भक्तजनों को उपदेश देते और उनकी शंकाओं का समाधान करते थे।

सायंकाल छह बजे से नौ बजे तक शाहपुराधीश स्वामीजी महाराज के चरणों में बैठकर उनसे शिक्षा ग्रहण करते थे। एक घण्टा धर्म-सम्बन्धी संशयों का निवारण होता था। दो घण्टे शास्त्रों के अध्ययन के निमित्त निश्चित थे। इस समय में महाराज ने शाहपुराधीश को मनुस्मृति, पातञ्जल योगदर्शन और वैशेषिकदर्शन के कुछ अंशों का अध्ययन कराया। प्राणायाम-विधि का भी उपदेश किया।

स्वामीजी महाराज के उपदेशों से प्रभावित होकर महाराजा ने राजभवन में अपनी इच्छानुसार एक यज्ञशाला का निर्माण कराया जिसमें प्रतिदिन यज्ञ होने लगा।

आज मुझे अवकाश है

एक दिन एक दधिमथ स्वामीजी के पास आया। स्वामीजी ने कहा—"आइए व्यासजी, बैठिए। आज मुझे भी छुट्टी है, आपसे वार्तालाप करने में पूरा सुभीता होगा।" व्यासजी ने निवेदन किया—"भगवन्! छुट्टी तो बद्ध लोगों के लिए हुआ करती है, आप तो परमहंस हैं, पूर्ण स्वाधीन और स्वच्छन्द हैं। आपको ऐसा कौन-सा बन्धन शेष है, जिससे आपने आज अवकाश मनाया है?" स्वामीजी ने उत्तर दिया—"मैं सारे धार्मिक बन्धनों को मानता हूँ। वर्णाश्रम से, नीति-रीति से मैं उच्छृंखल और निरंकुश नहीं हूँ। स्वच्छदतापूर्वक

ही वेद-भाष्य आदि का कार्य किया करता हूँ। आज उससे छुट्टी मनाई है।''

शास्त्रार्थ के लिए नहीं आये

महाराज ने राम-सनेहियों के महन्त को धर्म-चर्चा के लिए आहूत किया, परन्तु वे महन्तजी तो अपने आसन पर बैठे बढ़-बढ़कर बातें बनाना जानते थे। बेतुकी उड़ान ही उन्हें आती थी। सिर-पैर-विहीन कथाएँ अपने सेवकों के मस्तिष्क में उँडेलते जाना उनके कर्त्तव्य की इति-श्री थी। वे भोलेनाथ भला शास्त्रार्थ और संवाद को क्या जानें, इसलिए संवाद न हो सका।

घ्राण-शक्ति

स्वामीजी के निवास-स्थान पर खस की टट्टियाँ लगा दी गई थीं। दोपहर के पश्चात् जब लू चलने लगती, ग्रीष्म का भीषण उत्ताप जब वायु-सहित भूमि को उत्तप्त बना देता उस समय उन टट्टियों पर जल सींच दिया जाता, जिससे सारी कोठरी की वायु सुशीतल और सुगन्धित हो जाती। एक दिन मध्याह्नोत्तर समय, जब जल छिड़का गया तो महाराज ने कहा कि आज कहीं से दुर्गन्ध आ रही है। सेवकों ने इधर-उधर सर्वत्र घूमकर देखभाल की, परन्तु कहीं भी कोई सड़ी-गली वस्तु दिखाई न दी। टट्टियों पर जल सींचने के लिए एक कुण्ड में कुछ पानी एकत्र रहा करता था। उसका बासी जल नित्य निकालकर नया जल उसमें डाला जाता। महाराज ने सेवक को बुलाकर पूछा कि बताओ, क्या तुमने खस की टट्टियों पर कुण्ड का बासी पानी डाला है ? उसने विनती की कि महाराज! वैसे तो कुण्ड में से कल का सारा पानी मैंने उलीचकर निकाल दिया था, कदाचित् घड़ा-आध घड़ा रह गया होगा, परन्तु उसमें लगभग सौ घड़े नये जल के डलवाये हैं। तब महाराज ने कहा कि उसी थोड़े-से बासी जल की दुर्गन्ध आ रही है। अच्छा, इसी समय टट्टियाँ उतार दो, फिर कभी इनपर ऐसा जल न सींचना। देव दयानन्द की घ्राण-इन्द्रिय की इतनी प्रबल शक्ति का पूर्ण परिचय पाकर भक्तों को पूरा निश्चय हो गया कि उन्हें योग-बल ही से ऐसे सूक्ष्म विषय का ज्ञान हो जाता है।

जिस समय श्री-महाराज उदयपुर में धर्मोपदेश कर रहे थे उन्हीं दिनों श्री-महाराज प्रतापसिंहजी और रावराजा तेजसिंहजी के प्रार्थना-पत्र श्री-सेवा में आये थे। उनमें उन्होंने जोधपुर पधारने के लिए अत्याग्रहपूर्वक विनती की थी। महाराज ने उन महानुभावों की उत्कण्ठा

का आदर करते हुए लिख दिया कि हम शाहपुरा से होकर जोधपुर आएँगे। शाहपुरा में महाराजा यशवन्तसिंहजी का लिखा हुआ निमन्त्रण-पत्र आया, जिसमें श्रीमहाराजा ने शाहपुरा से प्रस्थान करने का समय ज्येष्ठ कृष्णा ४ शनिवार संवत् १९४० को दिन के दस बजे नियत कर दिया।

स्वामीजी को जोधपुर जाने की सु-सज्जा देखकर, शाहपुराधीशजी ने श्री-सेवा में निवेदन किया, "भगवन्! राजा लोग भोग-विलास और मन-माने आमोद-प्रमोद में निमग्न रहा करते हैं। जहाँ आप पधारने लगे हैं वहाँ वारांगनाओं का अधिक खण्डन न कीजिएगा।" स्वामीजी ने उत्तर दिया—"मैं बड़े-बड़े कटीले वृक्षों को नुहरने से नहीं काटा करता। उनके लिए तो अति-तीक्ष्ण शस्त्रों की आवश्यकता होगी।"

शाहपुराधीश ने महाराज को विदा करते समय ढाई सौ रुपए श्री-चरणों में निवेदन किये और ५० रुपये मासिक एक उपदेशक के लिए देने का वचन दिया।

मैं सत्योपदेश ही करूँगा

जोधपुर जाते समय आर्यलोगों ने स्वामीजी से विनय की—"जहाँ आप जा रहे हैं वहाँ के लोग उजड्ड और मूर्ख हैं, कहीं ऐसा न हो कि आपके सत्योपदेश से चिढ़कर आपको हानि पहुँचाएँ, अतः यदि वहाँ न जाएँ तो अत्यन्त अनुग्रह होगा।" स्वामीजी ने गर्जना के साथ उत्तर दिया—"यदि लोग हमारी अंगुलियों की बत्तियाँ बनाकर जला दें तो भी कोई चिन्ता नहीं। मैं वहाँ जाकर अवश्य सत्योपदेश करूँगा।"

ब्रह्मतेजो बलं बलम्

शाहपुरा से प्रस्थान कर एक रात अजमेर में ठहरकर स्वामीजी पाली रेलवे स्टेशन पर पहुँचे। वहाँ जोधपुर-महाराज की ओर से स्वामीजी को लिवा ले-जाने के लिए एक हाथी, तीन ऊँट, तीन रथ, एक सेज आये हुए थे। एक दिन रोहट में विश्राम कर दूसरे दिन महाराज ने जोधपुर के लिए प्रस्थान किया। जब जोधपुर तीन कोस रह गया तब महाराज प्रातःकाल की वायु से लाभ उठाने के लिए पैदल चलने लगे।

जोधपुर-नरेश की ओर से महाराज के स्वागत का अत्युत्तम प्रबन्ध किया गया। रावराजा जवानसिंह महर्षि के स्वागतार्थ रातानाडा

तक पैदल गये। कर्नल प्रतापसिंह और रावराजा तेजसिंह महाराज के स्वागत के लिए कोठी पर प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्होंने दूर से देखा कि काषाय वस्त्रधारी, हाथ में दण्ड धारण किये, एक विशालकाय संन्यासी गम्भीर गति से चले आ रहे हैं। उनका ललाट उन्नत था, वर्ण गौर और मुखमण्डल से तेज टपकता था। प्रातःकालीन सूर्य की भाँति उनकी छवि अवर्णनीय थी। उनकी मांसपेशियाँ सुगठित थीं, होठों पर मृदुहास था। कर्नल और रावराजा इस भव्य-मूर्त्ति को देखकर स्तम्भित हो गये और सहसा उनके मुख से महर्षि विश्वामित्र के ये शब्द मुखरित हो उठे—**धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजो बलं बलम्।** इस ब्रह्मतेज के समक्ष क्षत्रियों की शक्ति तुच्छ है, नगण्य है।

स्वामीजी महाराज को सम्मान एवं समारोहपूर्वक ले-जाकर मियाँ फ़ैजुल्लाखाँ के उद्यान में ठहराया गया। जोधपुराधीश की ओर से चारण नवलदान, चार सेवकों-समेत श्री-सेवा में नियुक्त हुए। छह सैनिकों-सहित एक हवलदार पहरे पर लगाया गया। महाराज के दुग्धपान के लिए एक गाय आ गई और रावराजा तेजसिंहजी को भी महाराज की आज्ञा हुई कि वे श्रीस्वामीजी की सेवा-शुश्रूषा की स्वयं देख-रेख रक्खें।

महाराज यशवन्तसिंहजी महर्षि के चरणों में

स्वामीजी के निवास एवं भोजन की सुव्यवस्था कर दी गई। जोधपुर-नरेश महाराजा यशवन्तसिंह कुछ अस्वस्थ थे। स्वास्थ्य लाभ होने पर यशवन्तसिंहजी समारोहपूर्वक ऋषि-दर्शनों के लिए आये। समीप आकर उन्होंने विनयपूर्वक चरणस्पर्श एवं अभिवादन किया। एक सौ रुपये और पाँच स्वर्ण मुद्राएँ भेंट में रखीं। यद्यपि वहाँ कुर्सियों का प्रबन्ध था और स्वामीजी ने उन्हें कुर्सी पर बैठने के लिए कहा भी, परन्तु जोधपुराधीश फर्श पर ही बैठ गये। उन्होंने कहा—"आप हमारे स्वामी हैं और हम आपके सेवक हैं, अतः आपके सामने नीचे आसन पर बैठने में ही हमारी शोभा है।" महाराजा को फर्श पर बैठे देख ऋषि खड़े हुए और उनका हाथ पकड़ उन्हें कुर्सी पर बैठा दिया। कुशल-क्षेम पूछने के पश्चात् महाराजा ने अमृतोपदेश सुनने की इच्छा प्रकट की। स्वामीजी ने मनुस्मृति के अनुसार राजधर्म का उपदेश दिया। स्वदेश-प्रेम, प्रजापालन, न्याय-व्यवस्था आदि के सम्बन्ध में उचित परामर्श दिया। देश-द्रोह और पारस्परिक फूट के दोषों पर प्रकाश डाला। तीन घण्टे

तक महाराज राजनीति के तत्त्वों को समझाते रहे। चलते समय यशवन्तसिंहजी ने निवेदन किया—"आपका यहाँ पदार्पण हमारे भाग्योदय का शुभ सूचक है। श्रीचरणों में यह निवेदन है कि जब तक आप यहाँ पर वास करें, अपने उपदेशामृत से लोगों को कृतार्थ करते रहें।"

महाराजा के मिलाप के दूसरे दिन से ही स्वामीजी ने विविध विषय-सम्बन्धी व्याख्यान-वारिवर्षण की घोषणा कर दी। जिस बँगले में महाराज विराजमान थे उसके विशाल आँगन में ही उपदेशों का प्रबन्ध किया गया। समय सायं के चार बजे से छह बजे तक नियत हुआ।

पहले दिन जब महाराज व्याख्यान-स्थान पर पधारने लगे तो रावराजा तेजसिंहजी ने प्रार्थना की कि भगवन्! महाराजा के रहन-सहन के विषय में कुछ भी न कहिएगा। स्वामीजी ने किंचित् बलपूर्वक कहा कि—"क्या आप मुझसे झूठ कहलाना चाहते हैं? स्मरण रखिए, मैं जो कुछ कहूँगा सत्य कहूँगा। मेरा कथन कभी असभ्यतासूचक भी नहीं हुआ करता और न ही मैं किसी व्यक्तिविशेष का नाम निर्देश करके कर्ण-कटु-कटाक्ष किया करता हूँ।" रावराजा महाशय ने सिर झुका दिया और महाराज व्याख्यान-स्थान पर जा पहुँचे तथा एक स्वच्छ और सुन्दर सिंहासन पर आरूढ़ हो गये। उस दिन महाराजा यशवन्तसिंहजी के बिना राज्य के सारे उच्च पदाधिकारी और कर्मचारी वहाँ एकत्र हुए। सेठ-साहूकार आदि सज्जन भी आये।

दो चार राजपूतों की पीठ ठोक देता

महाराज प्रसंगानुसार अपने व्याख्यानों में सभी मत-मतान्तरों की समालोचना कर दिया करते थे। कोई कितना ही सत्ताधारी सामने क्यों न बैठा होता, प्रकरणानुसार वे उनके मत के भ्रममूलक विचारों पर आक्षेप कर देते थे। जोधपुर में स्वामीजी ने इस्लाम मत पर भी समालोचनात्मक भाषण दिया। उसे सुनकर भैया फ़ैजुल्लाखाँ के तन-बदन में आग-सी लग गई। वे बहुत ही चिढ़कर बोले—"स्वामीजी! यदि मुसलमानों का राज्य होता तो आपको लोग जीवित-जाग्रत् न छोड़ते। उस समय आप ऐसे भाषण भी न कर पाते।"

स्वामीजी ने खाँ महाशय को बड़ी धीरता से उत्तर दिया—"यदि ऐसा अवसर आता तो मैं भी कभी थरथराहट में न आता और निठल्ला न बैठता, किन्तु निधड़क मन से दो-चार वीर राजपूतों की

पीठ ठोककर विरोधियों के धुर्रे उड़ा देता कि उनके छक्के छूट जाते।'' महाराज के इस उत्तर से खाँ महाशय सटपटा उठे।

जोधपुर-निवासियों के लिए स्वामी महाराज के व्याख्यानों में नवीनता थी। वे एक निराकार ईश्वर की उपासना, सदाचार और गो-रक्षा पर विशेष बल देते थे। बालविवाह, मृतक-श्राद्ध आदि दूषित प्रथाओं का खण्डन करते थे। मूर्त्तिपूजा और मृतक-श्राद्ध के खण्डन से यहाँ के पुजारी और पुरोहित भी महाराज के विरुद्ध हो गये।

वेश्यावृत्ति के महाराज परम विरोधी थे। जोधपुर-नरेश और वहाँ के रईस इस रोग के असाध्य रोगी थे। क्षत्रियों के आचार और कर्त्तव्य पर उपदेश करते हुए स्वामीजी महाराज वेश्यावृत्ति का कठोर शब्दों में विरोध करते थे।

जोधपुर में इन दिनों चार प्रकार की जनशक्ति थी। पुराणपन्थी हिन्दू, चक्रांकित, मुसलमान और जागीरदार। सभी अपने स्वार्थों और कुरीतियों के खण्डन से दयानन्द सरस्वती के विरोधी हो गये।

जिस प्रकार जोधपुर में स्वामीजी के शत्रुओं की संख्या बढ़ रही थी, इसी प्रकार एक और घटना हो गई, जिसने विरोधियों के बल को बहुत बढ़ा दिया। महाराजा यशवन्तसिंह का नन्हींजान नाम की एक वेश्या से गहरा सम्बन्ध था। एक रोज अपने निश्चित नियम के अनुसार स्वामीजी दरबार में पहुँचे। उस समय महाराज के पास नन्हींजान आई हुई थी। स्वामीजी के आने का समय जानकर महाराज उसे डोली में रवाना कर रहे थे। डोली उठने के पूर्व ही स्वामीजी को समीप आता देखकर महाराज घबरा गये और डोली को स्वयं कन्धा लगाकर उठवा दिया।

वारागंना तो वहाँ से चली गई, परन्तु उस दृश्य को देखकर भगवान् दयानन्द का हृदय अतीव दुःखित हुआ। वेश्या-प्रेम के घोर घृणित कुव्यसन का वे वैसे ही कड़ा खण्डन किया करते थे। सैकड़ों पुरुषों का उन्होंने इस पाप-पंक और दुर्व्यसन की दलदल में से उद्धार किया था। महाराजा महाशय को भी वे धर्मावेश में आकर कहने लगे—''राजन्! राजा लोग सिंह-समान समझे जाते हैं। स्थान-स्थान पर भटकनेवाली वेश्या कुतिया के सदृश है। वीर-शार्दूल का कुतिया पर प्रेम करना और आसक्त हो जाना सर्वथा अनुचित है, आर्यजाति की कुल-मर्यादा के विपरीत है। केसरी की कन्दरा में ऐसी कल्मष-कलुषित कुक्करी के आगमन का क्या काम है? इस

कुव्यसन के कारण धर्म-कर्म भ्रष्ट हो जाता है। मान-मर्यादा को बट्टा लगता है। इस पाप-सोपान पर प्रथम पदार्पण करते ही पुनः पद-पद पर पुरुष का अधःपतन, आप-ही-आप होता चला जाता है, अतः इस दुर्व्यसन को तिलाञ्जलि देनी चाहिए।''

नन्हींजान इस बात को जानती थी कि महाराज के उपदेश वेश्या-व्यसन के विरुद्ध मोहिनी-मन्त्र का प्रभाव रखते हैं। बरसों के महाव्यसनी भी उनके श्रवणमात्र से सुधर जाते हैं। उसे इस बात का भी पता लग गया कि स्वामीजी ने उसकी तुलना कुतिया के साथ की है। इन दोनों बातों से उसके कलेजे पर साँप लोटने लगा। वह विकट ज्वर की विषम ज्वाला से रात-दिन सन्तप्त रहने लगी।

इस घटना ने नन्हींजान के घाव के ऊपर लवण का काम किया। ऋषि के प्राण-हरण की साँठ-गाँठ होने लगी। मुसलमान और चक्रांकित भी उसके साथ मिल गये। अंग्रेज़ों की वक्र-दृष्टि तो ऋषि के समस्त क्रियाकलापों पर थी ही। सबने गुप्त मन्त्रणा कर स्वामीजी के पाचक जगन्नाथ के द्वारा दूध में कालकूट विष मिलाकर उन्हें पिलवा दिया। यह अश्विन कृष्णा चतुर्दशी संवत् १९४० (२९ सितम्बर १८८३) की रात्रि की घटना है।

महर्षि दुग्धपान करके थोड़ी ही देर सो पाये थे कि उदर-वेदना की खलबली ने उन्हें जगा दिया। उसी व्याकुलता में उन्होंने तीन बार वमन किया। स्वयं ही जलादि लेकर कुल्ले करते रहे; पास सोये सेवकों को जगाकर कष्ट नहीं दिया। कुछ विश्राम कर सो गये और प्रातः बहुत देर से उठे। उठते ही फिर उल्टी हुई। इस वमन से उन्हें कुछ सन्देह हुआ, अतः कुछ जलपान करके दूसरी उल्टी उन्होंने स्वयं कर डाली। वे अपने कर्मचारियों से कहने लगे—''आज हमारा दिल कच्चा हो रहा है। उदर में गड़बड़ हो रही है। आप लोग अग्नि जलाकर हवन कीजिए, जिससे बँगले के भीतर की वायु शुद्ध हो जाए।'' उनकी आज्ञा का तुरन्त पालन किया गया।

स्वामीजी के उदर में भयंकर वेदना हो रही थी। उसे शान्त करने के लिए उन्होंने अजवायन आदि वस्तुओं का काढ़ा लिया। इससे वेदना तो शान्त न हुई, अतिसार और शुरू हो गये। डॉक्टर सूर्यमल स्वामीजी के भक्त थे। उन्होंने औषध-उपचार किया, परन्तु कोई लाभ नहीं हुआ।

सायंकाल चार बजे, महाराज की रुग्णावस्था का समाचार

महाराजा प्रतापसिंह को मिला। उन्होंने तत्काल डॉ० अलीमर्दान खाँ को औषध-उपचार के लिए नियत कर स्वामीजी के पास भेज दिया। डॉक्टर महाशय के औषध-उपचार से रोग ने महाभयंकर रूप धारण कर लिया। एक दिन में तीस-चालीस दस्त होने लगे। शूल ज्यों-का-त्यों बना रहा। मुख, सिर और माथा छालों से भर गया, हिचकी बँध गई और शरीर कृश होने लगा। डॉक्टर महाशय स्वामीजी को चौगुणी मात्रा में दवाई देते थे। विरेचक ओषधियों के अतिरिक्त वह इञ्जेक्शनों द्वारा भी स्वामीजी के शरीर में विष प्रक्षेप करता रहा। महाराज के उदर में ऐसा तीव्र, ऐसा विषम और ऐसा भीषण शूल उठता था कि यदि कोई दूसरा मनुष्य होता तो छटपटा कर प्राणान्त को पहुँच जाता। वे धैर्य से असह्य दारुण वेदना सहन कर रहे थे। 'आह' तक न करते थे। अन्त में वे स्वयं अनुभव करने लग गये कि हलाहल विषम विष उनके तन की नस-नस, नाड़ी-नाड़ी और एक-एक रक्त-बिन्दु में प्रवेश करके जीवन-शक्ति का शोषण कर रहा है।

अद्‌भुत क्षमा

महर्षि ने अपनी दिव्य दृष्टि से अपने विषदाता जगन्नाथ को पकड़ लिया। उसने अपराध स्वीकार भी कर लिया, परन्तु महर्षि ने उसे 'तू' तक नहीं कहा। वे गम्भीर भाव से दया दर्शाते हुए बोले—"जगन्नाथ! मेरे इस समय मरने से मेरा कार्य सर्वथा अधूरा रह गया। तुम नहीं जानते इससे लोकहित की कितनी भारी हानि हुई है। अच्छा, विधाता के विधान में ऐसा ही होना था! जगन्नाथ! लो ये पाँच सौ रुपये मैं तुम्हें देता हूँ, तुम्हारे काम आएँगे। तुम यहाँ से नेपाल भाग जाओ।" दयानन्द! अद्‌भुत है तेरी क्षमा! विषदाता को भी प्राणदान! दयानन्द! तू धन्य है!

कुछ ही समय के भीतर महर्षि की वेदना-व्याधि के तार-समाचार लाहौर, बम्बई और मेरठ आदि सामाजिक केन्द्रों में दौड़ने लगे। अनेक भक्तजन स्वामीजी की रुग्णावस्था का समाचार पाकर अपने सभी काम-धन्धे छोड़कर जोधपुर के लिए दौड़ पड़े। वहाँ पहुँच स्वामीजी की दशा देख वे चकित रह गये। रोग की दशा, इलाज की शिथिलता और सेवा की असुविधा देखकर आर्यपुरुषों ने ऋषि से आबूपर्वत पर चलने का आग्रह किया। डॉ० सूर्यमल की सम्मति थी कि जोधपुर की राक्षस-भूमि से महर्षि को शीघ्र निकाल ले-जाओ। अलीमर्दान खाँ यह जानता ही था कि उसके इञ्जेक्शनों

ने वह कार्य कर दिया है जिसे अब कोई सुधार नहीं सकता और यहाँ रहते मृत्यु हो जाने से अपयश होगा, अत: उसने स्वामीजी को आबूपर्वत ले-जाने का परामर्श दिया।

आबूपर्वत पर

महाराज यशवन्तसिंह को सूचना मिलने पर पहले तो वे दु:खी हुए, परन्तु स्वामीजी का आग्रह देखकर खिन्न मन से स्वीकृति दे दी। आबू में जोधपुर राज्य के भवन में महाराज के निवास का प्रबन्ध किया गया।

२१ अक्तूबर को प्रात:काल स्वामीजी महाराज आबूरोड पहुँचे। यहाँ कुछ समय विश्राम के अनन्तर उन्हें पुन: पालकी में लिटा दिया गया। जिस समय महाराज की पालकी आबूरोड से आबूपर्वत की ओर जा रही थी उस समय राजकीय अस्पताल के चिकित्सक डॉ० लक्ष्मणदास स्थानान्तरित होकर आबू से अजमेर जा रहे थे। काषाय वेशधारी संन्यासी को पालकी में लेटे देखकर उन्होंने पूछताछ की तो पता लगा कि संन्यासी प्रसिद्ध स्वामी दयानन्द सरस्वती हैं। वे भयंकर रोग से ग्रस्त होने के कारण आबू जा रहे हैं। उस समय स्वामीजी संज्ञा-रहित अवस्था में थे। डॉ० महाशय ने नाड़ी देखकर अमोनिया की थोड़ी-थोड़ी मात्रा तीन बार महाराज को दी। इस औषध से महाराज ने आँखें खोल दीं और कहा—"किसी ने मुझे अमृत दिया है।" डॉक्टर लक्ष्मणदास ने उसी समय निश्चय कर लिया कि उनकी नौकरी रहे या जाए, वह महाराज के साथ आबू जाकर उनकी सेवा और चिकित्सा करेगा और महाराज के साथ ही लौट पड़ा। डॉ० लक्ष्मणदास की चिकित्सा से महाराज को अपूर्व लाभ हुआ। उदर-शूल शान्त हो गया। अतिसार बन्द हो गये। २४ अक्तूबर को महाराज को निद्रा भी आई।

राजस्थान के चीफ मैडिकल आफिसर कर्नल स्पैंसर की आज्ञानुसार डॉ० लक्ष्मणदास को अजमेर जाना था। दयानन्द सरस्वती-जैसे महापुरुष की सेवा और चिकित्सा का सौभाग्य किसी विरले भाग्यवान् मनुष्य को ही प्राप्त हो सकता था। लक्ष्मणदास ने कर्नल से प्रार्थना की कि उन्हें अपने गुरु दयानन्द सरस्वती की सेवा के लिए दो मास का अवकाश दिया जाए। कर्नल ने अवकाश की प्रार्थना स्वीकार न की। डॉ० लक्ष्मणदास ने सेवा से त्यागपत्र देने का निश्चय किया, परन्तु जब दयानन्द सरस्वती को इसका पता लगा तो उन्होंने

त्यागपत्र फाड़कर फेंक दिया और डॉ० लक्ष्मणदास को अजमेर जाने का आदेश दिया। दयानन्द! धन्य है आपका परहित-चिन्तन! भक्त डॉ० लक्ष्मणदास का मन न माना। उसने फिर त्यागपत्र लिखकर कर्नल स्पैंसर की सेवा में प्रस्तुत किया। कर्नल स्पैंसर ने त्यागपत्र अस्वीकृत करते हुए कहा कि—"तुम्हें अजमेर जाना पड़ेगा। मैं तुम्हारे गुरु की चिकित्सा स्वयं करूँगा।"

कर्नल स्पैंसर की चिकित्सा महाराज को अनुकूल न पड़ी। पुनः रोग ने उग्र रूप धारण कर लिया। स्वामीजी महाराज के भक्त भूपालसिंह ने महाराज से अजमेर चलने के लिए निवेदन किया। मुम्बई के श्रीसेवकराम कर्शनदास ने भी महाराज से नम्रतापूर्वक अजमेर चलने के लिए अनुरोध किया। महाराज की इच्छा न थी कि शरीर की इस विषम अवस्था में भक्तजनों को कष्ट दिया जाए। न चाहते हुए भी भक्तजनों का अनुरोध स्वीकार करना पड़ा। कार्तिक कृष्णा ग्यारह (२६ अक्टूबर) के दिन महाराज ने आबूपर्वत से प्रस्थान किया। अगले दिन चार बजे ब्राह्ममुहूर्त के समय अजमेर पहुँच गये। वहाँ आगरा दरवाजे के बाहर भिनाई हाउस में महाराज के विश्राम का प्रबन्ध किया गया।

डॉ० लक्ष्मणदास को पुनः चिकित्सा-निमित्त बुलवाया गया। स्वास्थ्य में उतराव-चढ़ाव दीखते रहे, परन्तु महाराज अनुभव करने लगे कि अब इस देह के त्याग का समय आ गया है। विष का प्रभाव सारे शरीर में व्याप्त हो गया था। उदरशूल के साथ कफ का प्रकोप भी होने लगा। अन्तर्दाह बढ़ता गया। सारे शरीर में छाले फैलने लगे।

दीपमालिका के दो दिन पूर्व लाहौर से पं० गुरुदत्त एम० ए० तथा ला० जीवनदास भी महाराज के दर्शनों के निमित्त अजमेर पहुँच गये। उदयपुर से महाराणा सज्जनसिंह ने मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या को महाराज के स्वास्थ्य का समाचार जानने के लिए भेजा, साथ ही कहलाया कि महाराज की चिकित्सा में कोई कमी न होने पाए।

कार्तिक अमावास्या (३० अक्टूबर) के दिन डॉ० लक्ष्मणदास ने महाराज के जीवन की सब आशाएँ छोड़ दीं। भक्तजनों से अनुरोध किया कि किसी अन्य सुयोग्य डॉक्टर को भी महाराज को दिखाने के लिए बुलाया जाए। अजमेर के सिविल सर्जन डॉ० न्यूमैन को बुलाया गया। उसने उनके रोग-भोग की अवस्था देखकर आश्चर्य से कहा कि—ये बड़े साहसिक और सहनशील हैं। इनकी नस-नस

और रोम-रोम में रोग का विषैला कीड़ा घुसकर कुलबुलाहट कर रहा है, परन्तु ये प्रशान्तचित्त हैं। इनके तन-पञ्जर को महाव्याधि की ज्वाला-जलन जलाए चली जाती है, जिसे दूर से देखते ही कपकपी छूटने लगती है, परन्तु ये हैं कि चुपचाप चारपाई पर पड़े हैं। हिलते-डुलते तक नहीं। ऐसे रोग में जीते रहना इन्हीं का काम है।

भक्त लक्ष्मणदास ने उनसे कहा कि महाशय! ये महापुरुष स्वामी दयानन्दजी हैं। यह सुनकर डॉक्टर महाशय को अत्यधिक शोक हुआ। महाराज ने उस बड़े वैद्य के प्रश्नों का उत्तर संकेत-मात्र से दिया। एक मुसलमान वैद्य पीरजी बड़े प्रसिद्ध थे। वे भी उन्हें देखने आये। उन्होंने आते ही कह दिया—"इन्हें किसी कुल-कण्टक ने विष देकर अपनी आत्मा को कालिख लगाई है। इनकी देह पर सारे चिह्न विष-प्रयोग-जन्य ही दिखाई देते हैं।" पीरजी ने भी महाराज का सहन-सामर्थ्य देख दाँतों में अंगुली दबाते हुए कहा—"धैर्य का ऐसा धनी धरती-तल पर हमने दूसरा नहीं देखा।"

ईश्वरेच्छा में

यद्यपि आज के दिन दशा अधिक गम्भीर थी, परन्तु दयानन्द सरस्वती अपने-आपको कुछ अच्छा अनुभव कर रहे थे।

ग्यारह बजे के समय महाराज ने शौच के निमित्त उठना चाहा। चार जनों ने उन्हें उठाया। निवृत्त होने पर पुनः पलङ्ग पर लिटा दिया। इस समय श्वास की गति तीव्र थी। भक्तजनों ने महाराज से पूछा—"आप कैसा अनुभव कर रहे हैं?"

महाराज ने शान्तभाव से उत्तर दिया—"आज मैं अच्छा अनुभव कर रहा हूँ। एक मास के बाद आज का दिन आराम का है।"

लाला जीवनदास ने पूछा—"आप कहाँ हैं?"

महाराज ने कहा—"ईश्वरेच्छा में।"

चार बजे के समय महाराज ने अपने शिष्य आत्मानन्द को बुलाया। उसे अपने पीछे सिर के पास बैठने का आदेश दिया। उससे पूछा—"आत्मानन्द! तुम क्या चाहते हो?"

आत्मानन्द ने कहा—"महाराज! मैं ईश्वर से यही प्रार्थना करता हूँ कि आप ठीक हो जाएँ।" महाराज ने उसे सान्त्वना देते हुए कहा—"यह देह पञ्चभौतिक है। इसका अच्छा क्या होगा?" पुनः उसके सिर पर आशीर्वाद का हाथ रखकर कहा—"आनन्द से रहना।" महाराज के दर्शनार्थ काशी से स्वामी गोपालगिरि भी आये हुए थे।

उन्हें भी इसी प्रकार आशीर्वाद दिया। इसके अनन्तर दो सौ रुपये और दो दुशालें मँगाकर कहा—"आत्मानन्द और भीमसेन दोनों को ये दे दो।"

दूर प्रदेशों से आये हुए भक्तजन शोकार्द्रचित्त श्रद्धा-भरी भावना से महाराज के सामने खड़े हो गये। महाराज ने कृपा-भरी दृष्टि से सबको देखा, मानो मौन उपदेश दे रहें हों—भक्त पुरुषो! धैर्य और साहस धारण करो! अधीर न बनो! उदास होने का कोई कारण नहीं। यह शरीर तो नाशवान् है।

महाराज का मुखमण्डल शान्त और प्रसन्न था। किसी प्रकार के शोक अथवा खेद का चिह्न न था। किसी प्रकार की आह न थी। धैर्य के साथ भक्तजनों से बात कर रहे थे। इसी समय अलीगढ़ से महाराज के सर्वप्रथम भक्त शिष्य सुन्दरलाल भी आ गये।

पाँच बजे के पश्चात् महाराज ने सब समागत भक्तजनों को आदेश दिया कि वे उनके पीछे खड़े हो जाएँ। दरवाजे और रोशनदान खुलवा दिये। पूछा—"आज कौन-सा मास, पक्ष और दिन है?"

किसी भक्त ने कहा—"महाराज! आज कार्तिक मास की अमावास्या का दिन है, मंगलवार है।"

यह सुनकर महाराज ने ऊपर की ओर दृष्टिपात किया, पुनः चारों ओर चमत्कारभरी दृष्टि से देखा और वेद-मन्त्रों का पाठ करना आरम्भ कर दिया। कुछ समय वेद-मन्त्र पढ़कर संस्कृत में ईश्वर की स्तुति की। प्रभु-गुणगान के साथ आनन्दमग्न होकर गायत्रीमन्त्र का उच्चारण किया और शान्त भाव से समाधिस्थ हो गये। पुनः आँखें खोलकर "ओ३म्" का उच्चारण किया और कहा—

"हे दयामय सर्वशक्तिमन् ईश्वर! तेरी यही इच्छा है, तेरी यही इच्छा है, तेरी इच्छा पूर्ण हो। अद्भुत तेरी लीला है!"

इन शब्दों के साथ स्वयं करवट ली। एक बार श्वास को रोककर पुनः सदा के लिए बाहर निकाल दिया। दीपमालिका के दिन सायंकाल छह बजे का समय था। दयानन्द सरस्वती इहलीला समाप्त कर ज्योतिर्मय की शरण में चले गये।

भक्तजन निहारते रह गये। पं० गुरुदत्त विद्यार्थी प्रथम बार दयानन्द सरस्वती के दर्शन करने आये थे। वे पाश्चात्य विज्ञान के विद्यार्थी थे। ईश्वर का विश्वास कुछ कम था। भक्त-जनों के साथ योगी की देह-विसर्जन लीला देख रहे थे। असह्य वेदना और अन्तर्दाह में भी

यह योगी आनन्दमग्न है! कोई दिव्य शक्ति इसका आह्वान कर रही है। यह उसकी शरण में प्रसन्नचित्त जा रहा है। यमराज खड़ा हुआ देख रहा है। यह योगी सदा के लिए अमरपद प्राप्त कर रहा है।

गुरुदत्त को भी इस दिव्य शक्ति के दर्शन हो गये। अन्धकार नष्ट हुआ। दिव्य ज्योति का अन्तःप्रवेश हो गया। आज से वह पूर्ण आस्तिक हो गया।

सभी समुपस्थित भक्तजनों के नेत्र इस योगी की वेदनामय विदाई में अश्रुपूर्ण थे, परन्तु इस विदाई के दिव्यतापूर्ण दृश्य को देखकर वे अपने हृदयों में अद्‌भुत ज्योति के प्रवेश का गौरव अनुभव कर रहे थे। यद्यपि उनके मृण्मय घरों में आज अन्धकार था, परन्तु हृदयों में दीपावली का अमिट प्रकाश था।

अगले दिन इस योगी के शरीर की अन्त्येष्टि क्रिया की तैयारी हुई। काष्ठमय अर्थी को केले के पुष्पों और पत्तों से सजाया गया। शरीर पर चन्दन का लेप किया गया। अर्थी पर रखकर एक विशाल शोभा-यात्रा में अजमेर की जनता के साथ वहाँ रहनेवाले बंगाली, पंजाबी, दाक्षिणात्य तथा अन्य भक्त पुरुष बड़ी संख्या में सम्मिलित हुए। श्रीहरविलास शारदा भी अर्थी के साथ थे।

श्मशान घाट पर अन्त्येष्टि क्रिया के निमित्त विशेषरूप से वेदी का निर्माण किया गया। वेदी बन जाने पर भक्त लोगों ने दो मन चन्दन और दस मन पीपल की समिधाओं से चिता चयन की। अपने टूक-टूक होते हृदयों को थामकर उन्होंने गुरुदेव का शव उस अन्तिम शय्या पर शायी कर दिया। रामानन्द और आत्मानन्दजी ने यथाविधि अग्न्याधान किया। अग्नि-स्पर्श होते ही घृतसिंचित चिता ज्वाला-माल से आवृत हो गई। उस दाह-कुण्ड में चार मन घी, पाँच सेर कपूर, एक सेर केसर और दो तोले कस्तूरी डाली गई। चरु और घृत की पुष्कल आहुतियों से हुत श्रीमहाराज का शव, प्रेमियों के नीर-नेत्रों से देखते-ही-देखते अपने कारणों में लय हो गया।

भगवान् की अस्थियों को चयन करके, शहापुराधीश के दिये उद्यान में गाड़ दिया गया। वह उद्यान अनासागर के किनारे पुष्कर की सड़क पर है।

श्रीहरबिलासजी शारदा ने अन्तिम दृश्य का वर्णन इन शब्दों में किया है—

(स्वामीजी के देहत्याग के पश्चात्) हम तीनों (शारदाजी तथा

उनके मित्र रामगोपाल और चचेरा भाई रामविलास) रोते हुए लौटे। दीपावली के पुण्यावसर पर हमें रोता देखकर पिताजी को आश्चर्य हुआ। उन्होंने रोने का कारण पूछा। मैंने सुबकियाँ भरते हुए कहा—"भारत का सूर्य छिप गया है।" मेरे पिताजी को समझते देर नहीं लगी। उन्होंने हमें दिलासा दिया।

दूसरे दिन स्वामीजी का शव जलाया गया। प्रातः ९ बजे और १० बजे के मध्य उनके मृत-देह को विमान—जुलूस के रूप में श्मशान-भूमि में ले-जाया गया। आगरा दरवाजा में प्रविष्ट होकर जुलूस नया बाजार, कड़क्का चौक, धान मण्डी, दरगाह बाजार, घसेटी और डिग्गी से गुजरता हुआ उसरी दरवाजा में जाकर निकला और मलूसर की श्मशान-भूमि की ओर बढ़ा। स्वीकार-पत्र में निर्दिष्ट निर्देशों के अनुसार शव-दाह हुआ।

मैं प्रारम्भ से ही जुलूस के साथ था। अन्य आर्य भाइयों के साथ, अरथी को कन्धा लगाने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ। यह अरथी बहुत बड़ी थी और १६ व्यक्ति उसे उठाये हुए थे। एक बार अजमेर नगर में एक व्याख्यान में उन्होंने बाल-विवाह की कुप्रथा का प्रबल खण्डन और ब्रह्मचर्य का मण्डन किया था। उन्होंने कहा था कि जो ब्रह्मचर्य धारण नहीं करते और बाल-विवाह के शिकार होते हैं, वे दुर्बलकाय होते हैं। अपने सम्बन्ध में बोलते हुए उन्होंने कहा था कि—"मैंने अपने जीवन में पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत का पालन किया है और मेरे शव को उठाने में १६ आदमी लगेंगे।" मुझे यह बात सहसा याद आ गई। राय बहादुर पं० भागराम ने, जो उस समय अजमेर में जुडीशियल सहायक कमिश्नर थे और स्वामीजी के परम भक्त एवं समर्थक थे, शव-यात्रा का प्रबन्ध किया था। वे प्रारम्भ से लेकर अन्त तक पैदल साथ रहे। शव-दाह-क्रिया के पूर्व उन्होंने एक संक्षिप्त भाषण में मानव-जाति के प्रति की गई स्वामीजी की सेवाओं का वर्णन किया और उपस्थित समुदाय को प्रेरणा दी कि—"स्वामीजी ने संसार के हित के लिए जो कार्य आरम्भ किया था, उसे जारी रक्खें।"

महर्षि दयानन्द की इहलोक-लीला समाप्त हुई, किन्तु उनका जीवन जीवित-प्रेरक आलोक बन आज भी हमारे सम्मुख विद्यमान है। ऋषि दयानन्द अमर हैं अपने कीर्तिमय जीवन-सुमन में। संसार उनकी सुगन्धि से सदा सुवासित रहेगा।

१४

ऋषि दयानन्द के चरणों में श्रद्धाञ्जलियाँ

"स्वामी दयानन्द सरस्वती ने हिन्दू-धर्म के सुधार का बड़ा कार्य किया और जहाँ तक समाज-सुधार का सम्बन्ध है, वे बड़े उदार-हृदय थे। वे अपने विचारों को वेदों पर आधारित और उन्हें ऋषियों के ज्ञान पर अवलम्बित मानते थे। उन्होंने वेदों पर बड़े-बड़े भाष्य किये, जिससे मालूम होता है कि वे पूर्ण विज्ञ थे। उनका स्वाध्याय बड़ा व्यापक था।" **—मैक्समूलर**

"ऋषि दयानन्द ने भारत के शक्तिशून्य शरीर में अपनी दुर्धर्ष शक्ति, अविचलता तथा सिंह-पराक्रम फूँक दिया है।"

"ऋषि दयानन्द उच्चतम व्यक्तित्व के पुरुष थे। यह पुरुष-सिंह उनमें से एक था जिन्हें यूरोप प्राय: उस समय भुला देता है, जबकि वह भारत के सम्बन्ध में अपनी धारणा बनाता है, किन्तु एक दिन यूरोप को अपनी भूल मानकर उसे याद करने के लिए बाधित होना पड़ेगा, क्योंकि उसके अन्दर कर्मयोगी, विचारक और नेता के उपयुक्त प्रतिभा का दुर्लभ सम्मिश्रण था। दयानन्द ने अस्पृश्यता व अछूतपन के अन्याय को सहन न किया और उससे अधिक उनके अपहृत अधिकारों का उत्साही समर्थक दूसरा कोई नहीं हुआ। भारत में स्त्रियों की शोचनीय दशा को सुधारने में भी दयानन्द ने बड़ी उदारता व साहस से काम लिया। वास्तव में राष्ट्रीय भावना और जन-जागृति के विचार को क्रियात्मकरूप देने में सबसे अधिक प्रबल शक्ति उसी की थी। वह पुनर्निर्माण और राष्ट्रीय संगठन के अत्यन्त उत्साही पैग़म्बरों में से थे।" **—फ्रेंच लेखक रोम्याँ रोलाँ**

"यह निश्चित है कि शंकराचार्य के पश्चात् दयानन्द से अधिक संस्कृतज्ञ, गम्भीर अध्यात्मवेत्ता, आश्चर्यजनक वक्ता और बुराई का निर्भीक प्रहारक भारत को प्राप्त नहीं हुआ।" **—मैडम ब्लैवट्स्की**

"यह स्वीकार करना पड़ेगा कि भारत के सांस्कृतिक व राष्ट्र के नव-जागरण में स्वामी दयानन्द का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उनकी मान्यताओं और सिद्धान्तों ने एक बार तो हीनभाव-ग्रस्त इस जाति को अपूर्व उत्साह से भर दिया।" **—एमर्सन**

"मैं स्वामी दयानन्द सरस्वती को सदैव गत शताब्दी के उन महापुरुषों में से एक समझता रहा हूँ, जिन्होंने परमहंस रामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द-जैसे महान् पुरुषों की तरह नवीन हिन्दू-धर्म की गहरी और दृढ़ नींव डाली है और इसे पौराणिक भ्रान्तियों से शुद्ध कर दिया है।" **—एस० एल० माइकेल**

"उनकी मृत्यु से भारत ने अपने योग्यतम पुत्रों में से एक को खो दिया। हमारा स्वामीजी से पत्र-व्यवहार होता था। सचमुच वे एक आला इन्सान ही नहीं, फ़रिश्ते थे।" **—कर्नल अलकाट**

"स्वामी दयानन्द निःसन्देह एक ऋषि थे। उन्होंने अपने विरोधियों द्वारा फेंके गये ईंट-पत्थरों को शान्तिपूर्वक सहन कर लिया। उन्होंने अपने में महान् भूत और भविष्य को मिला दिया। वे मरकर भी अमर हैं। ऋषि का प्रादुर्भाव मानव को कारागार से मुक्त करने और जाति-बन्धन तोड़ने के लिए हुआ था।" ऋषि का आदेश है—"आर्यावर्त्त! उठ, जाग! समय आ गया है, नये युग में प्रवेश कर, आगे बढ़!" **—पाल रिचर्ड**

"हमें वेदों के अध्ययन को प्रबल प्रोत्साहन देने और यह सिद्ध करने में कि मूर्त्तिपूजा वेद-सम्मत नहीं है, स्वामी दयानन्द के महान् उपकार को अवश्य स्वीकार करना चाहिए। आर्यसमाज के प्रवर्त्तक वर्त्तमान जाति की मूर्खता और उसकी हानियों के विरुद्ध अपने अनुयायियों को तैयार करने के अतिरिक्त यदि और कुछ भी न करते, तो भी वर्त्तमान भारत के बड़े नेता के रूप में अवश्य सम्मान पा जाते।" **—डॉ० विण्टरनीज**

"वर्त्तमान स्वराज्यान्दोलन के कारण स्वामी दयानन्द की गिनती भारत के निर्माताओं में स्वीकार की जानी चाहिए। स्वामी दयानन्द एक महान् तथा पुण्यशाली व्यक्ति थे। वे भारतवर्ष के कीर्ति-स्तम्भ थे, यह सबको स्वीकार करना पड़ेगा। उनको खोकर भारत की भीषण शोचनीय हानि हुई है।" **—ग्रास ब्रोब्ड**

"स्वामी दयानन्द एकेश्वरवादी, अपने सिद्धान्तों को वेद पर आधारित माननेवाले, प्रगति-समर्थक तथा देशोद्धारक थे।"

—मोनियर विलियम्स

"आर्यसमाज समस्त संसार को वेदानुयायी बनाने का स्वप्न देखता है। स्वामी दयानन्द ने इसे जीवन और सिद्धान्त दिया। उनका विश्वास था कि आर्यजाति चुनी हुई जाति है, भारत चुना हुआ देश

है और वेद चुनी हुई धार्मिक पुस्तक है।'' —**रेम्ज़े मेकडानल्ड**

''स्वामी दयानन्द के सिद्धान्तों के विषय में कोई मनुष्य कैसी ही सम्मति स्थिर कर ले, परन्तु यह सबको मान लेना पड़ेगा कि स्वामी दयानन्द अपने देश के लिए गौरव-रूप थे। दयानन्द को खोकर भारत को महान् हानि उठानी पड़ी है। वे महान् और श्रेष्ठ पुरुष थे।'' —**काँग्रेस के संस्थापक श्री ए० ओ० ह्यूम**

''मेरा सादर प्रणाम हो उस महान् गुरु दयानन्द को, जिसकी दृष्टि ने भारत के आध्यात्मिक इतिहास में सत्य और एकता को देखा और जिसके मन ने भारतीय जीवन के सब अंगों को प्रदीप्त कर दिया। जिस गुरु का उद्देश्य भारतवर्ष को अविद्या, आलस्य और प्राचीन ऐतिहासिक तत्त्व के अज्ञान से मुक्त कर सत्य और पवित्रता की जागृति में लाना था, उसे मेरा बारम्बार प्रणाम है। मैं आधुनिक भारत के मार्गदर्शक उस दयानन्द को आदरपूर्वक श्रद्धाञ्जलि देता हूँ, जिसने देश की पतितावस्था में भी हिन्दुओं को प्रभु की भक्ति और मानव-समाज की सेवा के सीधे व सच्चे मार्ग का दिग्दर्शन कराया।'' —**रवीन्द्रनाथ ठाकुर**

''महर्षि दयानन्द तपोमूर्त्ति थे। उन्होंने भारत में दिव्य ज्योति प्रकाशित की थी। उन्होंने हिन्दूसमाज को पुनर्जन्म देने के सब प्रयत्न किये थे। वे भारत को स्वतन्त्र और दिव्य देखना चाहते थे। आर्षकाल को पुनः लाने के लिए वे प्रयत्नशील रहे। उन्होंने मृतप्राय हिन्दूजाति में पुनः प्राण संचार किया था। वे हिन्दू संस्कृति की अप्रतिम प्रतिमा तथा भारत माता के अक्षय पात्र थे।'' —**मदनमोहन मालवीय**

''स्वामी दयानन्द ही पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने ''हिन्दुस्तान हिन्दुस्तानियों के लिए का नारा लगाया था।'' आर्यसमाज के लिए मेरे हृदय में शुभ इच्छाएँ हैं और उस महान् पुरुष के लिए, जिसका आप आर्य आदर करते हैं, मेरे हृदय में सच्ची पूजा की भावना है।''

—**एनी बीसेण्ट**

''वह दिव्य ज्ञान का सच्चा सैनिक, विश्व को प्रभु की शरण में लानेवाला योद्धा और मनुष्य व संस्थाओं का शिल्पी तथा प्रकृति द्वारा आत्मा के मार्ग में उपस्थित की जानेवाली बाधाओं का वीर विजेता था और इस प्रकार मेरे समक्ष आध्यात्मिक क्रियात्मकता की एक शक्ति-सम्पन्न मूर्त्ति उपस्थित होती है। इन दो शब्दों का, जोकि हमारी भावनाओं के अनुसार एक-दूसरे के सर्वथा भिन्न हैं, मिश्रण

ही दयानन्द की उपयुक्त परिभाषा प्रतीत होती है। उसके व्यक्तित्व की व्याख्या की जा सकती है—एक मनुष्य जिसकी आत्मा में परमात्मा है, चर्म-चक्षुओं में दिव्य तेज है और हाथों में इतनी शक्ति है कि जीवन-तत्त्व से अभीष्ट स्वरूपवाली मूर्त्ति गढ़ सके तथा कल्पना को क्रिया में परिणत कर सके। वह स्वयं दृढ़ चट्टान थे। उनमें दृढ़ शक्ति थी कि चट्टान पर घन चलाकर पदार्थों को सुदृढ़ व सुडौल बना सकें।''

—योगी अरविन्द घोष

''ऋषि दयानन्द जाज्वल्यमान नक्षत्र थे जो भारतीय आकाश पर अपनी अलौकिक आभा से चमके और गहरी निद्रा में सोये हुए भारत को जाग्रत् किया। 'स्वराज्य' के वे सर्वप्रथम सन्देशवाहक तथा मानवता के उपासक थे।''—**लोकमान्य बालगंगाधर तिलक**

''स्वामी दयानन्द सरस्वती को मैं अपना मार्गदर्शक गुरु मानता हूँ। उनके चरणों में रहकर मैंने बहुत-कुछ पाया है। उनकी मुझपर सदैव कृपा रहती थी। स्वामीजी की यह इच्छा थी कि विदेशों में भी वैदिक धर्म का प्रचार हो। उन्होंने मुझे विदेशों में वैदिक-संस्कृति का प्रचार करने की प्रेरणा दी।''

''मैंने राष्ट्र, जाति तथा समाज की जो सेवा की है उसका श्रेय महर्षि दयानन्द को प्राप्त है। मैंने जो कुछ प्राप्त किया है, उसमें सबसे बड़ा हाथ उस सर्वहितैषी, वेदज्ञ और तेजस्वी युगद्रष्टा का है। मुझे उस स्वतन्त्र विचारक का शिष्य होने में अभिमान है।''

—श्यामजी कृष्ण वर्मा

''महर्षि दयानन्द स्वाधीनता-संग्राम के सर्वप्रथम योद्धा और हिन्दूजाति के रक्षक थे। उनके द्वारा स्थापित आर्यसमाज ने राष्ट्र की महान् सेवा की है और कर रही है। स्वतन्त्रता के संग्राम में आर्यसमाजियों का बड़ा हाथ रहा है। महर्षिजी का लिखा अमर ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश' हिन्दूजाति की रगों में उष्ण-रक्त का संचार करनेवाला है। 'सत्यार्थप्रकाश' की विद्यमानता में कोई विधर्मी अपने मज़हब की शेखी नहीं मार सकता।''

—स्वातन्त्र्यवीर सावरकर

''स्वामी दयानन्द एक ऐसे प्रकाश-स्तम्भ हैं जिन्होंने असंख्य मनुष्यों को सत्य का मार्ग बतलाया है। उनके देश तथा देश की जनता पर किये गये उपकार सदैव अमर रहेंगे।''

''महर्षि वर्त्तमान अन्धकार के युग के लिए 'वैदिक सूर्य' थे। मैं अपने को उनका अनुयायी कहलाने में गर्व अनुभव करता हूँ। मैं

उनके प्रशंसकों में हूँ।'' —**देवतास्वरूप भाई परमानन्द एम०ए०**

''ऋषि दयानन्द ने भारतवर्षरूप वृक्ष का जल से सिंचन किया था। उनके शुभ प्रयास से विविध प्रकार के स्वादिष्ट फल मिले और मिलेंगे। स्वामीजी ने युवकों के हृदय में त्याग, परोपकार और देशभक्ति की ज्योति जगाई। हिन्दूजाति की जो उन्नति दिखाई दे रही है, उसका श्रेय स्वामीजी को ही प्राप्त है। भारतवर्ष के इतिहास में स्वामीजी का नाम महान् सुधारकों की पवित्र श्रेणी में स्वर्ण अक्षरों में लिखा जाएगा।'' —**ला० हरदयाल एम०ए०**

''महर्षि दयानन्द सरस्वती उन महापुरुषों में से थे, जिन्होंने आधुनिक भारत का निर्माण किया और जो इसके आचार-सम्बन्धी पुनरुत्थान तथा धार्मिक पुनरुद्धार के उत्तरदाता हैं। हिन्दूसमाज का उद्धार करने में 'आर्यसमाज' का बहुत बड़ा हाथ है। राम-कृष्ण मिशन ने बंगाल में जो कुछ किया, उससे कहीं अधिक आर्यसमाज ने पंजाब और उत्तर प्रदेश में किया है। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि पंजाब का प्रत्येक नेता आर्यसमाजी है। स्वामी दयानन्द को मैं एक धार्मिक और सामाजिक सुधारक तथा कर्मयोगी मानता हूँ। संगठन-कार्यों के सामर्थ्य और प्रसार की दृष्टि से आर्यसमाज अनुपम संस्था है।''

''संगठन-कार्य, दृढ़ता, उत्साह और समन्वयात्मकता की दृष्टि से आर्यसमाज की समता कोई समाज नहीं कर सकता।''

—**नेताजी सुभाषचन्द्र बोस**

''स्वामी दयानन्द मेरे गुरु हैं। मैंने संसार में केवल उन्हीं को गुरु माना है। वे मेरे धर्म के पिता हैं और आर्यसमाज मेरी धर्म की माता है। इन दोनों की गोदी में मैं पला। मुझे इस बात का गर्व है कि मेरे गुरु ने मुझे स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करना, बोलना और कर्त्तव्य-पालन करना सिखाया तथा मेरी माता ने मुझे एक संस्था में बद्ध होकर नियमानुवर्तिता का पाठ दिया।''

—**पंजाब केसरी लाला लाजपतराय**

''महर्षि दयानन्द के उपदेशों ने करोड़ों लोगों को नवजीवन, नव-चेतना और नया दृष्टिकोण प्रदान किया है। उन्हें श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए हमें व्रत लेना चाहिए कि उनके बताये मार्ग पर चलकर हम देश को सुखी, शान्त और वैभवपूर्ण बनाएँगे।''

—**डॉ० राजेन्द्र प्रसाद (भारत के प्रथम राष्ट्रपति)**

"स्वामी दयानन्द एक महान् सुधारक और प्रखर क्रान्तिकारी महापुरुष तो थे ही, साथ ही उनके हृदय में सामाजिक अन्यायों को उखाड़ फेंकने की प्रचण्ड अग्नि भी विद्यमान थी। उनकी शिक्षाओं का हम सबके लिए भारी महत्त्व है। उन्होंने हमें यह महान् सन्देश दिया था कि हम सत्य की कसौटी पर कसकर ही किसी बात को स्वीकार करें।" **—सर्वपल्ली डॉ० राधाकृष्णन्**

"स्वामी दयानन्द की शिक्षाएँ महान् हैं। वे हिन्दुत्व में स्थायी स्थान प्राप्त कर चुकी हैं। स्वामीजी की शिक्षाओं को अपनाने से हिन्दुत्व परिपक्व होगा। स्वामीजी को हिन्दुत्व का उद्धारक कहा जा सकता है।" **—राजगोपालाचार्य**

"मैं स्वामी दयानन्द को साम्प्रदायिक नहीं मानता। मेरे विचार में वे महान् थे। उनका धर्म विस्तृत था। मैं उन्हें राजनीतिक पुरुष भी मानता हूँ।" **—राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन**

"बहुत-से लोग महर्षि दयानन्द को सामाजिक और धार्मिक सुधारक कहते हैं, परन्तु मेरी दृष्टि में तो वे सच्चे राजनैतिक थे। ४० वर्ष से काँग्रेस का जो कार्यक्रम रहा है, वह सब कार्यक्रम आज से ६० वर्ष पूर्व ऋषि दयानन्द ने देश के सामने रक्खा था। सारे देश में एक भाषा, खादी, स्वदेशी-प्रचार, पंचायतों की स्थापना, दलितोद्धार, राष्ट्रीय और सामाजिक एकता, उत्कट देशाभिमान और स्वराज्य की घोषणा, यह सब महर्षि दयानन्द ने देश को दिया है। वर्त्तमान काँग्रेस का प्रत्येक अंश भगवान् दयानन्द ने ही बनाया है। सचमुच हम भाग्यहीन थे। यदि ६० वर्ष पहले इस कार्यक्रम को समझकर आचरण किया होता तो भारतवर्ष कब का स्वतन्त्र हो गया होता।"

"मैं ऋषि दयानन्द को अपना राजनैतिक गुरु मानता हूँ। मेरी दृष्टि में तो वे महान् विप्लववादी नेता और राष्ट्र-विधायक थे।"
—विट्ठलभाई पटेल

"स्वामी दयानन्दजी के राष्ट्रप्रेम के लिए, उनके द्वारा उठाये गये कष्टों, उनकी हिम्मत, ब्रह्मचर्य-जीवन और अन्य कई गुणों के कारण मुझे उनके प्रति आदर है। अपने समाज में उस समय जो-जो त्रुटियाँ, कुरीतियाँ, वहम, अज्ञानता और बुराइयाँ थीं, स्वामीजी ने उनको दूर करने के लिए बल लगाया। यदि स्वामीजी न होते तो हिन्दूसमाज की क्या हालत होती, इसकी कल्पना भी कठिन है। आज देश में जो भी कार्य चल रहे हैं, उनका मार्ग स्वामीजी वर्षों पूर्व

बना गये थे। शताब्दियों में ऐसे विरले महापुरुष मिलते हैं। समाज में जब बुराइयाँ घर कर जाती हैं, तब ईश्वर ऐसी विभूतियों को भेजता है। ऐसे महापुरुष कभी मरते नहीं, अमर होते हैं। उनका जीवन हमारे लिए आदर्श बन जाता है।'' **—सरदार वल्लभभाई पटेल**

''महर्षि दयानन्द ने पददलित भारत का पुनरुत्थान किया तथा राष्ट्र को नवजीवन का सन्देश दिया। उन्होंने सामाजिक क्रान्ति की एवं अन्धश्रद्धा को दूर करने का प्रयत्न किया और राष्ट्र का निर्माण किया।'' **—मुरारजी देसाई**

''महर्षि दयानन्द महान् राष्ट्रनायक और क्रान्तिकारी महापुरुष थे। उन्होंने व्यावहारिक रूप से जीवन के प्रत्येक पहलू में अपनी छाप छोड़ी है। स्वामीजी को श्रद्धापूर्वक स्मरण किया जाना चाहिए। उन्होंने देश में धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक क्षेत्र में जो काम किया वह अभूतपूर्व है। उन्होंने जो काम पकड़ा उसे पूरी तरह से निभाया। उन्होंने हिन्दूधर्म का कल्याण किया। वे बड़े दृढ़ व्यक्ति थे। उन-जैसा क्रान्तिकारी नेता होना विरले ही लोगों का काम होता है। उन्होंने ऐसे समय में देश का नेतृत्व किया, जब बुराइयों की ओर संकेत करना भी कठिन काम था। उन्होंने हिन्दी के राष्ट्रभाषा होने का घोषनाद किया और छूत-छात तथा जात-पाँत के विरुद्ध आन्दोलन छेड़ा। स्वराज्य और स्वदेशी की उन्होंने ऐसी लहर चलाई जिससे इण्डियन नेशनल काँग्रेस के निर्माण की पृष्ठभूमि तैयार हो गई।''

—लालबहादुर शास्त्री

''स्वामी दयानन्द सरस्वती वर्त्तमान भारत के सर्वप्रथम महान् निर्माता थे। उनकी विद्या अगाध थी और चरित्र महान् था। इन सबसे बढ़कर उनकी दृष्टि उस दृष्टि से कहीं अधिक स्वच्छ और विशाल थी जो साधारणत: राष्ट्र-निर्माताओं को प्राप्त रहती है। आज के सुधरे हुए हिन्दूधर्म में, हिन्दू महासभा की मनोवृत्ति की प्रबलता में और महात्मा गाँधी की कार्यप्रणाली में हम स्वामीजी की निर्भ्रान्त दृष्टि और राजनीतिज्ञता के प्रभाव को देख सकते हैं। नि:सन्देह उनकी स्मृति भावी भारत की बपौती को समृद्ध करती रहेगी।''

—के० एम० मुंशी

''गाँधीजी राष्ट्र के 'पिता' थे तो महर्षि दयानन्द सरस्वती राष्ट्र के 'पितामह' थे। महर्षि हमारी राष्ट्रीय प्रवृत्ति और स्वाधीनता-आन्दोलन के आद्य प्रवर्त्तक थे। गाँधीजी उन्हीं के पद-चिह्नों पर चले।''

''यदि महर्षि दयानन्द हमें मार्ग न दिखाते, तो अंग्रेज़ी शासन में उस समय सारा पंजाब मुसलमान बन जाता और सारा बंगाल ईसाई हो जाता। महर्षिजी ने सारे विश्व को 'आर्य' बनाने की प्रेरणा दी।''

''महर्षि स्वामी दयानन्द ने यह सिद्ध कर दिया कि जगत् की सब संस्कृतियों में सबसे अच्छी संस्कृति आर्यों की संस्कृति है। उन्होंने देश के सामने आदर्श रक्खा।

''महर्षि दयानन्द दिव्य महापुरुष थे। उन्होंने ईसाई और इस्लाम मत के हमलों से देश की रक्षा की। आर्यसमाज देश की एकता के लिए कार्य कर रहा है।'' **—अनन्तशयनम् अय्यंगार**

''मेरे निर्बल शब्द ऋषि की महत्ता का वर्णन करने में अशक्त हैं। ऋषि के अप्रतिम ब्रह्मचर्य, सत्य-संग्राम और तपश्चर्या के लिए अपने हृदय के पूज्य भावों से प्रेरित होकर मैं उनकी वन्दना करता हूँ। मैं ऋषि को शक्ति-सुत, अर्थात् कर्मवीर योद्धा समझकर उनका आदर करता हूँ। उनका जीवन राष्ट्र-निर्माण के लिए स्फूर्तिदायक, बलदायक और माननीय है।''

''दयानन्द उत्कट देशभक्त थे, अत: मैं राष्ट्रवीर समझकर उनकी वन्दना करता हूँ।'' **—साधु टी० एल० वास्वानी**

''स्वामी दयानन्द भारतवर्ष के विख्यात पुरुषों की श्रेणी में एक उज्ज्वल नक्षत्र थे।'' **—एम० रंगाचार्य**

''वे इतने अच्छे और विद्वान् आदमी थे कि प्रत्येक धर्म के अनुयायियों के लिए सम्मान के पात्र थे।'' **—सैयद अहमदखाँ**

''महर्षि दयानन्द भारत माता के उन प्रसिद्ध और उच्च आत्माओं में से थे, जिनका नाम संसार के इतिहास में सदैव चमकते हुए सितारों की तरह प्रकाशित रहेगा। वे भारत-माता के उन सपूतों में से हैं, जिनके व्यक्तित्व पर जितना भी अभिमान किया जाए थोड़ा है। नैपोलियन और सिकन्दर जैसे अनेक सम्राट् एवं विजेता संसार में हो चुके है, परन्तु स्वामीजी उन सबसे बढ़कर थे।''

—खदीजा बेगम एम०ए०

''मैं देखता हूँ कि कोई भी हिन्दू जब आर्यसमाज में आता है तब उसमें बहुत विशेषता आ जाती है। उसके अन्दर उत्साह, देशभक्ति, कर्मशीलता और एक प्रकार की अद्‌भुत स्पिरिट (spirit) काम करने लगती है।''

''देश के कामों को ही लीजिए, जब तक और लोग स्वराज्य

का स्वप्न देख रहे थे, स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज अपनी पुस्तकों द्वारा उसका प्रचार करने में लगे थे। मैं प्रसन्नता के साथ कहता हूँ कि असहयोग के युग से पहले लगभग ९० प्रतिशत आर्यसमाजी स्वराज्य के कार्यों में हिस्सा लेनेवाले लीडर थे जबकि अन्य सोसाइटियों के मुश्किल से २-३ प्रतिशत आदमी ही स्वराज्य का काम करते थे।''

—मौलाना हसरत मोहानी

''ईसाइयत और पश्चिमी सभ्यता के मुख्य हमले से हिन्दुस्तानियों को सावधान करने का सेहरा यदि किसी व्यक्ति के सिर बाँधने का सौभाग्य प्राप्त हो तो स्वामी दयानन्दजी की ओर इशारा किया जा सकता है। १९वीं सदी में स्वामी दयानन्दजी ने भारत के लिए जो अमूल्य काम किया है, उससे हिन्दूजाति के साथ-साथ मुसलमानों तथा अन्य धर्मावलम्बियों को भी बहुत लाभ पहुँचा है।''

—पीर मुहम्मद यूनिस

''हमें ऋषियों की सन्तान होने का सौभाग्य प्राप्त है और इसके लिए हम गर्व करते हैं तो कहना होगा कि ऋषि दयानन्द से बढ़कर हमारा उपकार इधर किसी भी दूसरे महापुरुष ने नहीं किया, जिन्होंने स्वयं कुछ भी न लेकर हमें अपार ज्ञान-राशि वेदों से परिचति करा दिया।''

—महाकवि सूर्यकान्तत्रिपाठी 'निराला'

१५

महर्षि दयानन्द के सिद्धान्त

१. ऋषि दयानन्द 'सत्य' को सर्वोपरि मानते थे। उनका दृढ़ विश्वास था कि—''जो सत्य है उसको सत्य और जो मिथ्या है उसको मिथ्या ही प्रतिपादन करना सत्य अर्थ का प्रकाश समझा है, क्योंकि सत्योपदेश के बिना अन्य कोई भी मनुष्यजाति की उन्नति का कारण नहीं है।''

२. ऋषि संसार के सब मनुष्यों को एक ईश्वर का पुत्र होने के नाते भाई मानते थे। मनुष्य और मनुष्य के मध्य खड़ी समस्त भेद की दीवारों को वे समूल नष्ट करना चाहते थे। मनुष्यमात्र की एक जाति, एक धर्म, एक लक्ष्य की स्थापना उनका इष्ट था। जन्म से सब मनुष्य समान और कर्म से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हैं। वर्ण गुण-कर्म-स्वभावसूचक हैं, जातिसूचक नहीं।

३. ऋषि का लक्ष्य मनुष्यमात्र को यह ज्ञान कराना था कि वह शरीर नहीं, शरीर का स्वामी 'आत्मा' है। आत्मतत्त्व को जान, ईश्वर का निरन्तर सान्निध्य प्राप्त कर मनुष्य सच्चे अर्थों में मनुष्य बनता है। 'ज्ञान' का उद्देश्य आत्मतत्त्व की प्राप्ति का मार्ग-निर्देशन है। हम संसार के समस्त कर्मों को करते हुए उस ऐश्वर्य का संग्रह करें जो धरती से विदा होते हुए साथ जा सके। भोगवाद और अध्यात्म का समन्वय ऋषि का विशेष सन्देश था।

४. ऋषि का यह अटूट विश्वास था कि वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना वे परम धर्म मानते थे। 'वेद' और ज्ञान के प्रचार के अतिरिक्त और कोई मनुष्यजाति की उन्नति का कारण नहीं। उनका विचार था जब से भारतवासियों ने वेद कास्वाध्याय छोड़ा है तभी से भारत का पतन आरम्भ हुआ है। वस्तुत: वेद की विचारधारा का साम्राज्य धरती पर स्थापित करना ऋषि का चरम लक्ष्य था।

५. नारीजाति को ऋषि पूजनीय मानते थे। उन्होंने ५,००० वर्षों के बाद सबल स्वरों में यह घोषित किया कि—''**यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।**''

६. ऋषि की दृष्टि में 'धर्म' वह है ''जिसका विरोधी कोई भी न हो सके।'' उनका कथन था कि ''मैं अपना मन्तव्य उसी को मानता हूँ कि जो तीन काल में सबको एक-सा मानने योग्य है। जो सत्य है उसका मानना-मनवाना और जो असत्य है उसका छोड़ना-छुड़वाना मुझे अभीष्ट है।''

७. ऋषि का आदेश था कि—"अन्यायकारी बलवान् से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे, इतना ही नहीं, किन्तु अपने सर्वसामर्थ्य से धर्मात्माओं की चाहे वे महा अनाथ, निर्बल और गुणरहित भी क्यों न हों, रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण और अधर्मी चाहे चक्रवर्ती, सनाथ, महाबलवान् और गुणवान् भी हो तथापि उसका अप्रियाचरण सदा किया करे।"

८. ईश्वर, जीव और प्रकृति को अनादि मानते हुए, जीव को भोक्ता, प्रकृति को साधन और ईश्वर से सत्य आनन्द प्राप्त करना जीव का लक्ष्य है। निरन्तर कर्म करते हुए, प्रभु-प्राप्ति के लिए यत्नशील रहना ही उन्होंने ज्ञानमार्ग बताया है।

९. गंगा-स्नान, व्रत, पूजा से पाप क्षमा नहीं होते। कर्मों का फल सभी को भोगना ही होगा। ऋषि का यह विश्वास पुण्य और धर्म-भाव की आधारशिला था।

१०. मूर्त्ति-पूजा, अवतारवाद, छूतछात, गुरुडम और अन्धविश्वास, भूत-प्रेतादि और मत-मतान्तरों के ऋषि प्रबलतम विरोधी थे और वे इन्हें मनुष्यजाति के पतन का कारण मानते थे।

११. ऋषि दयानन्द एक ईश्वर को उपास्य देव मानते थे। नाना देवी-देवताओं और अवतारवाद को वे पतन का हेतु समझते थे। उनकी मान्यता थी कि मनुष्यमात्र अपने शुभ कर्मों से ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है, इसके लिए किसी पैग़म्बर या गुरु की सिफ़ारिश आवश्यक नहीं।

१२. महर्षि दयानन्द ऐसी सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, आध्यात्मिक व्यवस्था चाहते थे, जिसके द्वारा संसार स्वर्ग बन जाए और जन्म से मृत्यु तक कोई भी मनुष्य दुःख, कष्ट-क्लेश अनुभव न करे।

१३. "सर्वसत्य का प्रचार कर, सबको ऐक्य मत में करा, द्वेष छुड़ा, परस्पर में दृढ़ प्रीतियुक्त कराके, सबसे सबको सुखलाभ पहुँचाने के लिए मेरा प्रयत्न और अभिप्राय है।" ऋषि का यह चरम लक्ष्य उनके ही शब्दों में कितना स्पष्ट है!

१४. अपने चरम लक्ष्य को पूरा करने की ऋषि को अत्यन्त उत्कण्ठा थी। वे लिखते हैं—"सर्वशक्तिमान् परमात्मा की कृपा, सहाय और आप्त-जनों की सहानुभूति से यह सिद्धान्त सर्वत्र भूगोल में शीघ्र प्रवृत्त हो जाए।"

क्यों प्रवृत्त हो जाए—इसका उत्तर ऋषि के शब्दों में इस प्रकार है—"जिससे सब लोग सहज से धर्मार्थ-काम-मोक्ष की सिद्धि करके सदा उन्नत और आनन्दित होते रहें। यही मेरा मुख्य प्रयोजन है।"

ओ३म्

गुरुवर्य विरजानन्दजी

ओ३म्

ऋषिराज दयानन्द

ओ३म्

पं० गुरुदत्त विद्यार्थी

स्मृ० श्री घूडमल आर्य

ओ३म्

ओ३म्

स्मृ० श्री प्रहलाद आर्य

ओ३म्

स्मृतिशेष

श्री घूड़मलजी आर्य

जन्म- भादों शुक्ल-११,सं.-१९४५, देहान्त- बैशाख शुक्ल-२, २००७

स्मृतिशेष

श्री प्रहलादकुमारजी आर्य

जन्म- १ जनवरी १९३०, देहान्त- ६ जुलाई २०००